पूर्व-आधुनिक राजस्थान

(१५२७-१९४७ ई०)

लेखक

रघुबीरसिंह, डी० लिट्०

राजस्थान विश्वविद्यापीठ के सम्मुख
'ओझा-आसन' से दिए गए भाषण

१९५१

राजस्थान विश्वविद्यापीठ
उदयपुर – मेवाड़

प्रकाशक—
मंत्री, साहित्य संस्थान
राजस्थान विश्वविद्यापीठ
उदयपुर (मेवाड़)

प्रथम संस्करण—अगस्त, १९५१ ई०

मूल्य
अजिल्द—६)
सजिल्द—७)

स्मृति-पत्र

भारतीय पुरातत्त्व के प्रकाण्ड पण्डित, प्राचीन लिपिमाला के प्रथम
पाठक, राजस्थानी इतिहास और संस्कृति के अद्वितीय
ज्ञाता, राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य सेवक

तथा

देवी सरस्वती के वरद पुत्र
साहित्य-वाचस्पति

डा० गौरीशंकरजी ओझा

की

स्मृति में

संस्थापित

'ओझा आसन भाषण-माला'

प्रकाशकीय निवेदन

राजस्थान के प्राचीन साहित्य, इतिहास एवं कला विषयक शोध-कार्य को राजस्थान के सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए अत्यावश्यक और सर्वथा अनिवार्य समझकर राजस्थान विश्वविद्यापीठ (तत्कालीन हिन्दी विद्यापीठ), उदयपुर, ने वि० सं० १९९९ में "साहित्य संस्थान" की स्थापना की थी। संस्था की योजनानुसार "साहित्य संस्थान" के अन्तर्गत कई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ की गई थीं, जो आजकल बहुत-कुछ विकसित हो चुकी हैं, जैसे :— १. राजस्थान में हिन्दी के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज, २. राजस्थान में संस्कृत के हस्त-लिखित ग्रन्थों की खोज, ३. चारण साहित्य-संग्रह, ४. लोकगीत-संग्रह, ५. राजस्थानी कहावत-माला, ६. स्वर्गीय डॉ० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा निबन्ध-संग्रह, ७. महाकवि सूर्यमल आसन, ८. पृथ्वीराज रासौ सम्पादन-कार्य, ९. स्व० डॉ० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा आसन, १०. अध्ययन-गृह तथा संग्रहालय, एवं ११. शोध-पत्रिका, आदि।

साहित्य संस्थान की इन अन्य विभिन्न प्रवृत्तियों के साथ ही स्व० डॉ० गौरीशङ्कर हीराचन्द आसन भी उसकी एक मुख्य और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति विशेष की स्थापना से एक ओर जहाँ हम राजस्थान की इतिहास सम्बन्धी सामग्री को प्रकाश में ला सकेंगे, वहाँ दूसरी ओर राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ तथा पुरातत्त्ववेत्ता स्व० डॉ० ओझाजी की स्मृति को भी स्थायी बना सकेंगे। स्व० डॉ० ओझाजी न केवल राजस्थान के ही इतिहासकार थे, अपितु भारतीय इतिहासकारों तथा पुरातत्त्वज्ञों में सर्वथा प्रमुख

और प्रसिद्ध अग्रगी विद्वान् थे। राजस्थान के इतिहास सम्बन्धी शोध-खोज करनेवाले तो वे एकमात्र व्यक्ति थे। राजस्थान के इतिहास-साहित्य को जो उन्होंने महत्त्वपूर्ण देन दी थी, उसके लिए राजस्थानवासी सदैव उनके कृतज्ञ रहेंगे। राजस्थान की ऐसी महान् और प्रमुख विभूति की स्मृति को सदैव बनाए रख कर हम इस पिछड़े हुए प्रान्त के ऐतिहासिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकें, इसी उद्देश्य से "साहित्य संस्थान" के अन्तर्गत इस "आसन" की स्थापना की गई है।

इस "आसन" से प्रति वर्ष "राजस्थान के इतिहास व पुरातत्त्व" विषय पर अधिकारी विद्वान् के तीन लिखित मौखिक भाषण कराने की योजना है। इन लिखित भाषणों को "साहित्य संस्थान" द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित कराया जायगा। प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना का सर्व-प्रथम मूर्त्त रूप है। "आसन" के प्रथम अभिभाषक के रूप में सौभाग्य से हम स्व० डॉ० ओझाजी के बाद बृहद् राजस्थान के एकमात्र इतिहासवेता महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंहजी, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, डी० लिट्०, जैसा व्यक्ति प्राप्त कर सके। डॉ० रघुबीरसिंहजी द्वारा लिखित "पूर्व आधुनिक राजस्थान" प्रांतीय दृष्टि-कोण से लिखा गया राजस्थान के राज्यों और राजस्थान के जन-जीवन के विकास का प्रथम महत्त्वपूर्ण और मौलिक इतिहास-ग्रन्थ है। डॉ० रघुबीरसिंहजी ने राजस्थान के राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को एक निष्पक्ष परीक्षक की भाँति देखने का प्रयास किया है। इसके प्रकाशन से राजस्थान के इतिहास की कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ, समस्याएँ, और जन-जीवन की प्रगति के अनेक छिपे हुए चित्र प्रकाश में आएँगे, जिससे राजस्थान के इतिहास सम्बन्धी शोध-खोज के क्षेत्र में काम करने वालों को पूरी-

पूरी सहायता मिलेगी।

डॉ० रघुबीरसिंहजी की उक्त पुस्तक का प्रकाशन करते हुए "साहित्य संस्थान" अपूर्व गौरव का अनुभव करता है। प्रस्तुत पुस्तक राजस्थान टाइम्स लि०, अजमेर, में कई महीनों पहिले ही छप कर तैयार हो गई थी, किन्तु "साहित्य संस्थान" की अपनी कठिनाइयों के कारण उसके प्रकाशन में अब तक यह विलम्ब होता गया। हमारे इस विलम्ब के कारण राजस्थान टाइम्स लि० के संचालकों को भी काफी असुविधा उठानी पड़ी है, जिसके लिए हमें हार्दिक खेद है।

महाराजकुमार साहब ने अपने भाषणों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की स्वीकृति देकर "साहित्य संस्थान" को इतिहास-कार्य की सेवा करने का जो सुअवसर दिया उसके लिए उनके प्रति क्या आभार प्रदर्शित किया जाय? वे एक ओर तो राजस्थान विश्वविद्यापीठ के 'उपकुलपति' हैं तथा दूसरी ओर "साहित्य संस्थान" के विशिष्ठ संचालकों में प्रमुख हैं, अतः उनके प्रति केवल आभार प्रदर्शन कर उनकी सहायता के मूल्य को नहीं आँका जा सकता है। इस पुस्तक के प्रकाशन में जो विलम्ब हुआ, उसके लिए हम महाराजकुमार से क्षमा चाहते हैं।

समूचे राजस्थान का जो राजनैतिक एवं शासकीय एकीकरण हुआ है, वह उसके इतिहास में एक सर्वथा अभूतपूर्व घटना है, और उसका महाराज-प्रमुख भी आधुनिक भारतीय वैधानिक परम्परा में सर्वथा एकाकी ही है। मेवाड़ के विलीनीकरण के लिए स्वीकृति देकर राजस्थान की इस प्रान्तीय एकता को मूर्त्त रूप देने में हमारे महाराज-प्रमुख का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। पुनः हमारी इस विश्वविद्यापीठ के वे सर्व-प्रथम कुलपति

भी थे । अतएव "ओझा आसन" से दिए जाने वाले इन सर्व-प्रथम अभिभाषणों को इस जनतन्त्रीय राजस्थान के हमारे महाराज-प्रमुख को ही भेंट कर उनका यों समादर करना हमारे लिए उचित ही नहीं सर्व-प्रकारेण अनिवार्य भी था ।

राजस्थान विश्वविद्यापीठ
उदयपुर (मेवाड़)
निर्जला एकादशी, २००८ वि०

गिरिधारीलाल शर्मा
मन्त्री,
साहित्य संस्थान

हिन्दू-कुल-शिरोमणि महाराणा भूपालसिंहजी, महाराज-प्रमुख, राजस्थान

समर्पण

महा-राजस्थान के

महाराज-प्रमुख

महाराणा श्री भूपालसिंहजी

उदयपुर (मेवाड़)

को

अभिनन्दन

राजस्थान विश्वविद्यापीठ साहित्य संस्थान के अन्तर्गत स्थापित स्वर्गीय डॉ० गौरीशंकरजी हीराचन्दजी ओझा-आसन के प्रथम अभिभाषक मालव और राजस्थान ही के नहीं, किन्तु समस्त हिन्दी-संसार के लब्ध-प्रतिष्ठ और विख्यात महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंहजी एम्० ए०, डी० लिट्०, महाराजकुमार सीतामऊ, के लिखे अभिभाषण "पूर्व-आधुनिक राजस्थान" के नाम से प्रकाशित किये जा रहे हैं।

डॉ० रघुबीरसिंहजी एम्० ए०, डी० लिट्०, स्वर्गीय डॉ० गौरीशंकरजी ओझा के बाद बृहद् राजस्थान (राजस्थान और मालव) के प्रमुख और अभिजात इतिहासवेत्ता हैं। "पूर्व-आधुनिक राजस्थान" में आप-श्री ने बाबर से लगा कर माऊण्टबेटन तक राजस्थान के राज्यों और राजस्थान की प्रजा के सदियों-व्यापी जीवन-क्रम को एक निष्पक्ष जीवन-परीक्षक की भाँति देखने की कोशिश की है और डॉ० ओझा से भी आगे बढ़ कर आपने जनता की दृष्टि से समूचे राजस्थान प्रान्त की सदियों-व्यापी ऐतिहासिक महत्व की मार्मिक और संज्ञक घटनाओं, स्थितियों और अवदशाओं का सम्पादन करने का मौलिक प्रयत्न किया है, जिससे बृहद् राजस्थान के निर्माण के पूर्व तक की राजस्थान की जीवन-कहानी ठीक-ठीक समझी जा सके।

अंग्रेजी साम्राज्य की लोहानी राजनैतिक शृंखला से अलग होने के बाद भारतीय गण-राज्य के जन्म की प्रथम प्रसव-

पीड़ा देशी राज्यों को विशाल भारतीय प्रजातन्त्र में समाहित करने को थी। जब तक यह नहीं हो जाता था तब तक यह नहीं कहा जा सकता था कि भारतीय जनता का चक्रवर्ती गण-राज्य स्थापित हो चुका है। गये ढाई हज़ार वर्ष से भी अधिक के अपने इतिहास की अखण्ड विरासत हम कह सकते हैं, राजस्थान है। मुग़ल-साम्राज्य के संगठन के साथ-साथ साम्राज्य और उसके पेटे में नरेशी राज्यों की शृंखला भारत भूमि की जनता को तब तक बाँधे रही, जब तक स्वर्गीय सरदार पटेल ने उसको अपने लोहानी हाथों से तोड़ नहीं दिया।

राजस्थान भारतीय सामंतवाद, साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का प्रसूति-गृह है। यहीं आकर अतीत के विश्रृंखलित और अखण्डित साम्राज्य छोटे-छोटे उपहासास्पद नरेशी राज्यों के रूप में एक विचित्र विधि-व्यंग की भाँति सिमट कर स्थापित हो गए और साम्राज्यों के थाले बने रहे। भारतीय अतीत के साम्राज्यों के भग्नावशेष की बृहद् राजस्थान के पूर्व तक राजस्थान एक प्रदर्शिनी रहा। राजस्थान से ही शोषण के गिद्धों की तरह से राजस्थानी पूँजीपति भारत के उत्तर, दक्षिण और मध्य में छाये हुवे हैं और भारतीय जनता का बूँद-बूँद लहू चूस रहे हैं। सामाजिक जीर्ण रूढ़ियों, दकियानूसी परंपराओं तथा राजनैतिक कूट मंत्रणाओं की राजस्थान रंगभूमि रहा है। बृहद् राजस्थान के निर्माण के बाद जो दृश्य दिखे, जो संघर्ष सामने आये, वे स्वयं महत्त्वपूर्ण हैं। राजस्थान में आज जनतन्त्र की स्थापना और जनता के उदय का जीवन-संघर्ष चल रहा है। राजस्थान की सबसे बड़ी प्रभावशाली राजनैतिक पार्टी काँग्रेस का अन्तरंग संघर्ष अखिल भारतीय काँग्रेस के अन्दर सत्ता मिलने के बाद फैली हुई गंदगी, अवसर-परस्ती, फूट तथा

एकाधिकारिक प्रवृत्तियों की जनतन्त्रीय शक्तियों और आकांक्षाओं के विरुद्ध था। बृहद् राजस्थान के निर्माण के साथ ही जहाँ एक ओर सदियों से चले आते हुए सामंती राज्यों के छोटे-छोटे घेरे टूटे, वहाँ राजस्थान की सबसे बड़ी राजनैतिक पार्टी के अन्तरंग संघर्ष द्वारा राजस्थान की जनतन्त्रीय आकांक्षाओं की स्थापना में देरी हुई। इस संघर्ष के मूल में राजस्थान की मानवता के बद्धमूल, एकाधिकारिक संस्कार थे तथा दूसरी ओर जागृत होती हुई राजस्थानी प्रजा की आकांक्षा की टक्कर थी।

"पूर्व-आधुनिक राजस्थान" में डॉ० रघुबीरसिंहजी ने खानवा के युद्ध से लगा कर अब तक के राजस्थान के इतिवृत्त को जनता की दृष्टि से भी आलेखित किया है। इससे हम यह स्पष्टतया जान लेंगे कि अतीत से लगा कर आज दिन तक राजस्थानी जनता के जीवन की रेखा को देखना वर्तमान और भविष्य के राजस्थान के जन-जीवन के विकास के लिए आज अनिवार्य हो गया है। डॉ० रघुबीरसिंहजी ने "पूर्व-आधुनिक राजस्थान" में राजाओं, शूर-वीरों तथा राज्याश्रित वर्गों को ही नहीं, गद्दियों की उलट-पुलट तथा रणभूमियों की ठेल-पेल ही को नहीं, राजस्थान के झोंपड़ों में, खेतों में तथा पहाड़ों पर रेंगने वाली शोक-ग्रस्त जनता को भी चित्रित किया है। निश्चय ही इससे एक नई दृष्टि और एक नई विचार-सरणी राजस्थान के बारे में मिलती है। डॉ० ओझा ने राजस्थान की जनता को नहीं, राजस्थान के सामन्तों को और उनकी जगमगाहट को ही देखा है। उन्होंने राजस्थान के विभिन्न राजघरानों के अलग-अलग इतिवृत्त लिखे थे; प्रान्तीय दृष्टि-कोण से समूचे राजस्थान का एक सम्बद्ध इतिहास तैयार करना कदापि उनका उद्देश्य नहीं था।

भारत के लम्बे इतिहास में राजस्थान की जनता का इतिवृत्त समाज-शास्त्रियों और इतिहासवेत्ताओं के लिए जाँचने और पता लगाने का विषय है। भारत की मानवता की व्याकुल स्थिति और उसकी दबी संघी और अभाव में आध्यात्मिक-सी दिखती उमंगों का एक विकराल पलायन कहीं देखना हो तो राजस्थान की जनता के इतिवृत को देखिए। डॉ० रघुबीरसिंहजी ने इस ओर हम सबको एक दृष्टि दी है।

राजस्थान विश्वविद्यापीठ साहित्य संस्थान के ओझा-आसन से इन भाषणों को देकर और उनको इस प्रकार पुस्तकाकार प्रकाशित करवा कर डॉ० रघुबीरसिंहजी ने न केवल विद्यापीठ की ही, किन्तु भारतीय समाज की भी सेवा की है। इसलिए इनको हम सबके अभिनन्दन।

राजस्थान विश्वविद्यापीठ
पीठ-स्थविर अधिकरण
उदयपुर (मेवाड़)
बसंत पंचमी, २००७ वि०

जनार्दनराय नागर
पीठ-स्थविर

भूमिका

'ओझा आसन भाषण-माला' का प्रारम्भ करने के लिए किसी भी ऐतिहासिक विषय पर भाषण देने के हेतु सर्व-प्रथम मुझे ही आमन्त्रित कर राजस्थान विश्वविद्यापीठ, उदयपुर, ने मुझे जो विशेष गौरव तथा सम्मान प्रदान किया है, और अपने इन भाषणों द्वारा उस महान् पुरातत्त्ववेत्ता एवं इतिहासकार के प्रति अपनी इस तुच्छ श्रद्धांजलि को अर्पण करने का जो सुअवसर मुझे दिया है, उसके लिए मैं उक्त विश्वविद्यापीठ के अधिकारियों का विशेष रूपेण हृदय से अनुगृहीत हूँ। इस आमन्त्रण से लाभ उठा कर मैंने इन भाषणों में राजस्थान के इतिहास के इन पिछले ४२० वर्षों (१५२७–१९४७ ई०) के क्रमबद्ध प्रामाणिक विवरण की प्रान्तीय दृष्टि-कोण से एक विस्तृत रूप-रेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। श्रद्धेय ओझाजी के उस परम-प्रिय विषय सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज की उस महत्त्वपूर्ण परम्परा को देश-काल की आधुनिक आवश्यकताओं के अनुसार एक नवीन स्वरूप में परिवर्तित कर उसे यह नूतन प्रगति देने में मुझे अपूर्व आनन्द एवं विशेष सन्तोष का अनुभव हुआ।

इतिहास-लेखन के आदर्श भी समयानुसार बदलते जा रहे हैं। देश और प्रान्त के सांस्कृतिक विकास एवं सामाजिक प्रगति के साथ ही अब साधारण जन-समाज की आर्थिक परिस्थिति एवं उसकी विचार-धारा की ऐतिहासिक परंपरा के अध्ययन की ओर विशेष रूपेण ध्यान दिया जाने लगा है। परन्तु बहुत चाहने पर भी इन भाषणों को लिखने में इन सब आधुनिक आदर्शों का पूर्ण रूपेण परि-पालन नहीं किया जा सका। तदर्थ अत्यावश्यक आधार-सामग्री

को एकत्रित करने के लिए अब तक राजस्थान में कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया। कई युगों की निरन्तर खोज एवं गंभीर अध्ययन के बाद ही इन नए आदर्शों के अनुसार राजस्थान का इतिहास लिखने का कुछ भी प्रयास करना संभव हो सकेगा। पुनः तद्देशीय राजनैतिक घटनावली की ठीक-ठीक प्रामाणिक परम्परा निश्चित किए बिना न तो ऐतिहासिक खोज का यह कार्य ही सरलतापूर्वक आगे बढ़ सकता है और न नये दृष्टि-कोण से विगत ऐतिहासिक घटनाओं में किसी भी प्रकार का यथार्थ पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित करना या उसके कारणों और परिणामों की ठीक-ठीक व्याख्या कर सकना ही किसी प्रकार शक्य हो सकेगा। भावी इतिहासकारों के लिए ऐसी ही प्रामाणिक घटनावली को निश्चित करने का इन भाषणों में भरसक प्रयत्न किया गया है। इस पूर्व-आधुनिक कालीन राजस्थान के इतिहास में भी कई एक ऐसे काल हैं जिनकी ऐसी क्रमबद्ध घटनावली की प्रामाणिक परम्परा को निश्चित करने का अब तक कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया था; या तो उन पिछले इतिहासकारों को तदर्थ अत्यावश्यक आधार-सामग्री प्राप्य नहीं थी, या उनके लिए ऐसा कर सकने का कोई समुचित अवसर ही नहीं आया था। ऐसी न्यूनताओं को पूरा करने में उन विशिष्ट कालों की विवेचना का विस्तार बढ़ जाना अनिवार्य हो गया, जिससे विभिन्न कालों के विवरणों में यदा-कदा सापेक्षिक असमानता आए बिना न रही।

सदियों की राजनैतिक दासता एवं विदेशियों के सांस्कृतिक तथा धार्मिक एकाधिपत्यपूर्ण साम्राज्यों का भारत में अन्त हो गया है। स्वतन्त्र सुसंगठित जनतंत्रीय शक्तिशाली भारत की स्थापना के साथ ही राजस्थान-वासियों के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि-कोणों

में एक सर्वथा मौलिक क्रान्ति अत्यावश्यक हो गई है। सदियों तक विदेशी विधर्मियों के राजनैतिक आधिपत्य एवं धार्मिक अत्याचारों का विरोध करते-करते तथा तदनन्तर कई युगों तक दक्षिणी भारत के उन ध्वंसक आक्रमणकारियों एवं स्थानीय उपद्रवकारियों द्वारा होने वाले अनवरत आर्थिक शोषण एवं दुर्दमनीय अराजकता से त्रस्त होकर राजस्थानी राज्यों के शासकों, सरदारों एवं साधारण जन-समाज तक में जहाँ एक ओर राजनैतिक क्षेत्र में नकारात्मक विरोध की उत्कट भावना भर गई है तथा उनके लिए अपनी राजकीय विभिन्नता तथा पूर्ण स्थानीय स्वतन्त्रता ही एकमात्र आदर्श एवं राजनैतिक धर्म बन गए हैं, वहाँ ही सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने प्रान्तीय आचार-विचार, रहन-सहन और सामाजिक जीवन-धारा, एवं अपनी क्रमागत साहित्यिक परंपरा तथा कलात्मक प्रवृत्तियों के प्रति पूर्ण उपेक्षा और उनमें पाई सकने वाली यत्किंचित् अच्छाई में भी इतना अधिक तीव्र अविश्वास उत्पन्न हो गया है कि आज वे अपने सांस्कृतिक भूत-काल से पूरा नाता तोड़ कर दूसरी-दूसरी ही सांस्कृतिक परम्पराओं को अपनाने के लिए अत्यधिक उत्सुक जान पड़ते हैं। भारत की बदली हुई राजनैतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थिति में ये दोनों ही प्रवृत्तियाँ राष्ट्र और प्रान्त के लिए बहुत ही हानिकारक हैं।

विदेशियों द्वारा लिखे गए राजस्थानी इतिहास-ग्रन्थों तथा उन्हीं का अनुसरण कर भारतीय इतिहासकारों द्वारा की गई राजस्थानी वीरों के महत्त्व की एकांगी विवेचना ने ही इन अनिष्ट-कारी प्रवृत्तियों को उभारा एवं प्रोत्साहन दिया है। भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में हमारा सारा राष्ट्रीय दृष्टि-कोण भी नकारात्मक विरोध की उग्र भावना से इतना अधिक रंग गया था

कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद हमारे राष्ट्रीय दृष्टि-कोण में होने वाले इन अनिवार्य परिवर्तनों की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया, तथा उन वीरों को राष्ट्रीय आदर्श के रूप में तब स्वीकार किया गया, जिनके राजनैतिक आदर्श एकीभूत सुसंगठित भारत के लिए किसी भी प्रकार लाभप्रद प्रमाणित नहीं हो सकते हैं। सांस्कृतिक पुरातन-प्रियता, धार्मिक भावुकता तथा आदर्शों की पवित्रता के ही आधार पर दिए गए उन प्रान्तीय वीरों के ऐतिहासिक गौरव तथा राष्ट्रीय महत्त्व सम्बन्धी ऐसे विवेचनों की आज स्वाधीन भारत की स्थापना के बाद पुनः छान-बीन कर राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से उनके ठीक-ठीक ऐतिहासिक महत्त्व को आँकना तथा उनके तत्कालीन राजनैतिक आदर्शों की पूरी-पूरी परख कर उनकी उपयुक्तता की सच्ची-सच्ची मीमांसा करना अत्यावश्यक हो गया है। इस ग्रंथ को लिखते समय उसी नवीन राष्ट्रीय दृष्टि-कोण को सामने रखा गया है, एवं कई एक पूजनीय वीरों सम्बन्धी मेरी विवेचनाओं को लेकर मत-भेद होना अवश्यंभावी है।

राजस्थान की विचार-धारा के साथ ही वहाँ के इतिहास में भी भावुकता तथा राजनीति में समुचित संतुलन होना आवश्यक है। इस अभाव के कारण ही अब तक यह वीर-प्रसू प्रान्त राजनैतिक क्षेत्र में पूर्णतया पिछड़ा हुआ ही रहा है। गंभीर विचारों, सहृदयता-पूर्ण भावनाओं तथा आवश्यक आनुशासनिक बंधनों में सापेक्षिक समन्वय स्थापित किए बिना इस प्रान्त की राजनीति तथा उसके भविष्य का सदैव अस्थिरतापूर्ण एवं शंकास्पद बना रहना सर्वथा अनिवार्य है। राष्ट्र के नवनिर्माण का कार्य प्रारम्भ हो चुका है, प्रान्तीय संगठनों को पूर्णतया नए राजनैतिक ढाँचों में ढाला जा रहा है, तथा देश को सुसमृद्ध शक्तिशाली एवं गौरवपूर्ण

बनाने की आवश्यकता का सर्वत्र अनुभव किया जाने लगा है। अतएव हमारे जातीय चारित्र्य-दोषों, सांस्कृतिक निर्बलताओं तथा प्रान्तीय जन-साधारण की स्वभाव-जन्य त्रुटियों को निर्मूल कर राष्ट्र को अशक्त बनाने वाले इन सारे अवगुणों को मिटाने के लिए अनवरत प्रयत्न होने चाहिए। और इन सब कार्यों में निकट भूत-कालीन सदियों के इतिहास से विशेष रूपेण सहायता प्राप्त हो सकती है। ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्नों में यदि मेरा यह ग्रन्थ किसी भी प्रकार उपयोगी प्रमाणित हुआ तो वह मेरे लिए विशेष गौरव का कारण होगा।

इस पूर्व-आधुनिक कालीन राजस्थान के इतिहास को प्रान्तीय दृष्टि-कोण से लिखने तथा उसके विभिन्न काल-विभागों की प्रमुख प्रवृत्तियों की विवेचना कर राजस्थान की राजनैतिक परिस्थितियों तथा सांस्कृतिक प्रगतियों की विशिष्ट ऐतिहासिक परम्पराओं को यथा-सम्भव सुस्पष्ट करने का यह एक प्रारम्भिक प्रयास-मात्र है। इसे तत्कालीन राजस्थान का सर्वांगपूर्ण क्रमबद्ध इतिहास कदापि नहीं कहा जा सकता है। भविष्य में लिखे जाने वाले राजस्थान के उस विस्तृत इतिहास-ग्रंथ की कमी को न तो यह ग्रंथ पूरा ही कर सकता है और न उसके लिखे जाने की परम आवश्यकता को किसी प्रकार घटा सकता है। राजस्थान में ऐतिहासिक खोज करने वालों तथा वहाँ के उन भावी इतिहासकारों का यदि इस ग्रंथ द्वारा यत्किंचित् भी मार्ग-प्रदर्शन हो सका तो मैं अपना यह प्रयत्न सफल समझूँगा।

"रघुबीर निवास"
सीतामऊ (मालवा)
वसन्त पंचमी, २००६ वि०

रघुबीरसिंह

विषय सूची

चित्र सूची

नक़शा

पूर्व-आधुनिक राजस्थान

(१५२७–१६४७ ई०)

विषय--प्रवेश

युगों पहिले बाल्यकाल के उन विस्मृतिपूर्ण सुनहले दिनों में पूज्या जननी ने जब बारंबार दोहरा कर आढ़ा दुरसा के कई सोरठे मुझे कंठस्थ करवा दिये थे, तथा उनका कुछ भी अर्थ समझे बिना ही बाल-सुलभ चपलता के साथ जब मैं गुनगुनाता था—

"अकबर घोर अंधार, ऊँघाणा हिन्दू अवर ।
जागै जगदातार, पोहरै राण प्रतापसी ॥"

तब पृथ्वीराज रांठौड़ की इस उक्ति—

"अकबर सूतो ओंधके, जांण सिराणै सांप ॥"

को स्मरण कर आप ही आप हृदय में उस 'एकज अणदागल असवार' के दबदबे का अनुभव करता था एवं उसके बड़प्पन की धाक अधिकाधिक जमती जाती थी। विजयी आक्रमणकारी के सामने कभी न झुक कर सहर्ष जीवन भर का वनवास लेने वाले प्रातःस्मरणीय स्वातन्त्र्य-प्रेमी उस 'पणधर राण प्रतापसी' के प्रति आगे चल कर धीरे-धीरे विशेष श्रद्धा एवं अवर्णनीय आदर उत्पन्न हो गया था।

भारत तब भी विदेशी राज्य के कठोर निर्मम प्राणशोषक बंधनों में जकड़ा हुआ था। अंग्रेजी राज्य भारत में अपने उत्थान, गौरव तथा ऐश्वर्य-वैभव की चरम चोटी पर पहुँच चुका था। संसार के महान् साम्राज्यों के इतिहास की सर्वथा अनोखी घटना, भारत के अंग्रेज सम्राट् के उस दिल्ली-दरबार ने, कुछ काल के लिए ही क्यों न हो, अपनी चकाचौंध कर देने वाली शान-शौकत, ऊपरी तड़क-भड़क तथा विदेशी शासकों की सत्ता के देदीप्यमान तेज के द्वारा भारतीय नरेशों को ही नहीं वहाँ की जनता तथा उनके पूज्य सार्वजनिक नेताओं तक को पूर्णतया विमोहित कर दिया था। परन्तु निरीहों तक को छटपटा देने वाली विजेताओं की निरंकुशतापूर्ण उद्धतता, एवं भारतीय समाज और जनता के माने-गिने परम्परागत नेताओं—भारतीय नरेशों—की अपने विदेशी शासकों के प्रति अयोग्यताजन्य वह लज्जाजनक चापलूसी तथा चाटुकारिता तब भी राजस्थान की वीर माताओं को बुरी तरह खटकती थी। देश की सदियों पुरानी अनन्त दासता, एवं मृत्यु के साथ खिलवाड़ करने वाले राजपूत वीरों तक की इस विफलतापूर्ण दयनीय विवशता का अनुभव करके भी उनके हृदयों में अन्दर ही अन्दर निरन्तर सुलगती रहने वाली स्वाधीनता-स्नेह की वह उत्कट ज्वाला किसी भी प्रकार मन्द नहीं हुई थी; और तब भी विदेशी शासकों के भावी विरोध के उन चिरपेक्षित आशापूर्ण दिनों के स्वप्न देखते-देखते अनजाने ही वे मुखरित होकर आदेश देने लगती थीं—

"नायण आज न माँड पग, काल सुणीजै जंग ।
धाराँ लागी जै धणी, तो दीजै घणा रंग ॥"

और उसी संघर्षपूर्ण आगामी कल की प्रतीक्षा में युग-युग की भयंकर विफलताओं का निरंतर सामना करते हुए भी उन्होंने राष्ट्रीय

स्वातन्त्र्य-भावना की उस प्रदीप्त जीवन-ज्योति को कभी बुझने नहीं दिया और वह दीप-शिखा आगामी पीढ़ी को सौंप कर भारतीय वीर माताओं की हजारों वर्ष पुरानी परम्परा को उन्होंने यों अक्षुण्ण बनाए रखा। जगत्-प्रसिद्ध तथा इतिहास में सुविख्यात अपने अद्वितीय त्याग, चरम बलिदान और अडिग धैर्य के अनुकरणीय आदर्श की स्थिर चिरन्तन समुज्ज्वल ज्योति के द्वारा पराधीनता के असीम निराशामय घोर अंधकारपूर्ण वातावरण से प्रच्छन्न बीसवीं सदी के उस भावी जीवन में भी नवयुवाओं का मार्ग-प्रदर्शन करने वाली राजस्थान की उस एकाकी विभूति 'गहलोत राण' की वह अमर कहानी जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में मैंने अपनी जननी से ही सुनी थी। बरसों बाद कुछ पढ़-लिखने पर उपन्यास-नाटकों की ओर जब आकर्षित हुआ, तब बंकिम बाबू के 'राजसिंह', रमेश चन्द्र दत्त की 'राजपूत-जीवन-संध्या' तथा राजस्थान के इतिहास की विगत घटनाओं को लेकर लिखे गए द्विजेन्द्र लाल राय के अमर नाटकों ने राजस्थान के इतिहास में मेरी विशेष दिलचस्पी उत्पन्न कर दी थी, जो आज भी किसी प्रकार कम नहीं हो पाई है।

राणा प्रताप के उस स्वातन्त्र्य-युद्ध से तब प्रारम्भ होने वाली अनुकरणीय परम्परा अब तक बहुत कुछ अटूट ही चली आई है, एवं भारत की स्वातन्त्र्य-प्राप्ति तथा बाद में राजस्थान की एकता की स्थापना में जाकर ही उसकी परिणति हुई। विदेशी विजेताओं के प्रति किसी भी प्रकार यत्किंचित् भी न घटने वाले विरोध की वह भावना, और ऐसे शासकों को सर्वदा के लिए जड़ से उखाड़ फेंकने का प्रेरणापूर्ण वह अनुकरणीय आदर्श राणा प्रताप से प्रारंभ होकर कोई एक शताब्दी तक पहिले मेवाड़ और बाद में मारवाड़ में फ़ैला तथा उसे कार्यरूप में परिणत करने का वहाँ प्रयत्न किया गया।

महाराणा राजसिंह एवं दुर्गादास ने राणा प्रताप के ही पदचिह्नों का अनुसरण करने का प्रयत्न किया था। उधर सुदूर दक्षिण में मरहठों के प्रमुख नेता शिवाजी ने औरंगज़ेब के इस्लाम धर्म-प्रधान साम्राज्य के विरोध में अपने स्वराज्य की स्थापना कर जब अपना राज्याभिषेक करवाया, तब उसने भी अपने कुल के आदि-पुरुष को सूर्यवंशीय क्षत्रिय चित्तौड़ के महाराणा का पुत्र बताने एवं यों राणा प्रताप के ही समान स्वयं के भी सीसोदिया-वंशीय माने जाने में अपना विशेष गौरव समझा। मरहठों के इस आदि-छत्रपति ने भी राणा प्रताप की परम्परा को यों स्वीकार कर उसी के वंशज मेवाड़ के महाराणा राजसिंह के प्रति आदर से सिर झुका दिया था। ईसा की १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मेवाड़ का पतन होने लगा, और यद्यपि उसने मेवाड़ से रुपया वसूल करने में किसी भी प्रकार की नरमी नहीं दिखाई थी, फिर भी तत्कालीन महाराणा से मिलते समय पेशवा बाजीराव ने राणा प्रताप के उस वंशज का विशेष रूप से आदर किया और उसके सिर पर चँवर डुलाने को अपना गौरव माना। राजस्थान के अन्य राज्यों का भी शीघ्र ही पूर्णरूपेण पतन हुआ और राणा प्रताप की त्याग, बलिदान तथा स्वातन्त्र्य-युद्ध की वह अद्वितीय परम्परा समूचे राजस्थान से सर्वथा लुप्त हो गई।

राजस्थान पर अंग्रेज़ों का एकाधिपत्य स्थापित होने के बाद मेवाड़ में महाराणा की शासकीय सत्ता की पुनर्स्थापना हुई, किन्तु मेवाड़ का नैतिक पुनरुत्थान नहीं हो सका और राजस्थान में अन्यत्र भी कहीं राणा प्रताप की उस परम्परा का बीज पुनः नहीं जम पाया। आगे चलकर यही परम्परा भारत के अन्य दूरस्थ प्रान्तों में नए ही रूप-रंग में पुनः प्रगट हुई और इस भावना को यों इन अनपेक्षित प्रदेशों में प्रसारित करने तथा इस विस्मृति-पूर्ण परिवर्तन-

प्रधान काल में भी उसे अत्यावश्यक स्थायित्व प्रदान करने में एक विदेशी अंग्रेज ने अनजाने ही बहुत अधिक योग दिया था। राजस्थान के प्रथम आधुनिक इतिहासकार, कर्नल जेम्स टाड ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ की रचना कर राणा प्रताप के आदर्श तथा स्वातन्त्र्य-युद्ध की उसकी परम्परा को दूर-दूर तक पहुंचाया, और टाड लिखित उनकी इस विवेचना को पढ़ कर बंगाल के साहित्यकार मुग्ध हो गए और अपनी-अपनी रचनाओं द्वारा अनेकों ने बंगाल में सर्वत्र उनका प्रचार किया। उसी प्रकार नव-महाराष्ट्र ने भी शिवाजी के साथ ही उसके पूज्य आदर्श राणा प्रताप को भी अपना मार्ग-प्रदर्शक स्वीकार कर लिया। इसी कारण ईसा की १९ वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में प्रारम्भ होने वाले स्वराज्य-प्राप्ति सम्बन्धी समस्त राजनैतिक आन्दोलनों एवं भारत की स्वतन्त्रता के लिए तब से ही सशस्त्र क्रान्ति के लिये सतत प्रयत्न करने वाले प्रायः सब ही भारतीय देश-भक्तों ने राणा प्रताप को अपना पूजनीय आदर्श मानकर उसकी उस इतिहास-प्रसिद्ध परम्परा को अपने-अपने ढंग से आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया था। पुनः भारत को स्वाधीनता प्राप्त हो जाने के बाद राजस्थान के विभिन्न अर्द्ध-स्वतन्त्र राज्यों का राजनैतिक के साथ ही शासकीय एकीकरण भी करके स्वतन्त्र भारत के अन्तर्गत उसी के एक अविभाज्य विभाग के रूप में राजस्थान को एक सुसंगठित प्रान्त बना देने वाले भी राणा प्रताप की दुहाई देकर अपने इस आयोजन को उसके ही चिरवांछित अपूर्ण आदर्शों को पूरा करने का एक सफल प्रयत्न घोषित करते हैं। राजस्थान की राजनैतिक विचारधारा के साथ राणा प्रताप की उस परम्परा का जो अभेद्य सम्बन्ध स्थापित हो गया है उसका आगे चलकर वहाँ के भावी इतिहास पर भी बहुत ही महत्वपूर्ण

प्रभाव पड़ेगा, यह बात सुस्पष्टरूपेण देख पड़ रही है।

और राजस्थान का भविष्य—वह तो आज एक सर्वथा नया ही स्वरूप ग्रहण करता देख पड़ता है। निरन्तर उठने वाली अनेकानेक छोटी-बड़ी बाधाओं को एक-एक कर दूर करते हुए अन्त में संवत्सर-प्रतिपदा, २००६ वि० (मार्च ३०, १९४९ ई०) को समूचे राजस्थान का एकीकरण कर महा-राजस्थान की स्थापना की गई है। अपने अनोखे विगत गौरवपूर्ण इतिहास वाले सदियों-पुराने मेवाड़ राज्य का पहिले ही अन्त हो चुका था। जयपुर और जोधपुर के विस्तृत शक्तिशाली राज्य भी इस सद्यःस्थापित महा-राजस्थान में समा कर लुप्त हो गये। राजा-महाराजाओं के स्वेच्छापूर्ण शासन के साथ ही हज़ारों वर्षों से निरन्तर चली आने वाली वंश-परम्परागत शासन-प्रणाली भी समाप्त हो गई। हज़ार वर्ष से भी पुराने अपने अनैकतापूर्ण जातीय जीवन के खेदपूर्ण परिच्छेद को समाप्त कर राजस्थान ने भी अपने प्रान्तीय इतिहास में एक नया महत्वपूर्ण एवं सर्वथा क्रान्तिकारी पृष्ठ उलटा है। सामन्तशाही के आधार पर अलग-अलग संगठित विभिन्न राज्य-शासनों के स्थान पर अब महा-राजस्थान का एक जनतन्त्रीय संयुक्त शासन स्थापित किया गया है।

अपने राजनैतिक संगठन एवं सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए राजस्थान प्रयत्नशील हो रहा है। वहाँ का प्रारम्भिक एकीकरण एवं शासकीय संगठन भारत के केन्द्रीय शासन की देख-रेख में हो रहा है; वहाँ के भावी शासन-विधान की रूप-रेखा भी भारतीय संविधान परिषद के सुयोग्य विद्वान कर्णधारों द्वारा निश्चित की जा चुकी है। परन्तु इस एकीकरण का भविष्य एवं इन प्रयोगों की सफलता तो प्रधानतया राजस्थान की जनता तथा वहाँ के नेताओं पर ही

निर्भर है। राजस्थान की भावी संस्कृति के निर्माण का कार्य भी तो केवल राजस्थानियों के ही हाथों हो सकेगा। यह सब कार्यक्रम पूरा करने को वहाँ के समस्त जन-समाज को निमन्त्रित किया जा रहा है; उसका सहयोग अपेक्षित है। जनतन्त्रीय संगठन का यहाँ एकमात्र ठीक तरीका हो सकता है। परन्तु राजस्थान के ऐसे एकीकृत शासन की भावना तक वहाँ के नरेशों, सरदारों, अधिकारियों तथा वहाँ की जनता के लिए भी पूर्णतया नई है। शताब्दियों तक अपने-अपने विभिन्न राजाओं या अपने घराने के प्रमुख व्यक्तियों के निरंकुश शासन में रहने वालों के लिए महा-राजस्थान का यह जनतंत्रीय व्यक्तित्व-विहीन (इम्पर्सनल) शासन एक सर्वथा अज्ञात तथा भावना-रहित वस्तु है। अतएव महा-राजस्थान को सफल और स्थायी बनाने के लिए केवल शासकीय संगठन कर देने या सुनिश्चित समुचित शासन-विधान बना देना ही पर्याप्त नहीं होगा। वहाँ के शासकों, अधिकारियों, जनता तथा विशेषतया नवयुवाओं और बालकों तक के दृष्टिकोण को पूर्णतया बदल देना अनिवार्य हो गया है। अपने निजी विशिष्ट राज्य या प्रदेश के विभिन्न अस्तित्व या हिताहित की भावना को दूर कर समूचे महा-राजस्थान सम्बन्धी प्रान्तीय दृष्टिकोण को पूरी तरह अपनाए बिना महा-राजस्थान और उसके साथ ही भारत की स्वाधीनता तक का भविष्य सर्वथा शंका-पूर्ण ही बना रहेगा।

अनेकों सदियों के बाद राजस्थान में पुनः नवजीवन के चिह्न देख पड़ रहे हैं। राजनैतिक तथा वैधानिक उलट-फेरों के साथ ही राजस्थान का सांस्कृतिक तथा सामाजिक नवनिर्माण भी अनिवार्य हो गया है। परन्तु यह नवनिर्माण किस आधार पर प्रारम्भ किया जावे ? महा-राजस्थान का यह संयुक्त जनतन्त्रीय शासन विगत

स्वेच्छापूर्ण सत्ता तथा विभिन्न सामन्तशाही संगठनों का उत्तराधिकारी बना है। इस विगत शान्तिपूर्ण राजनैतिक क्रान्ति के फलस्वरूप राजस्थान का वह पुराना ढाँचा बहुत कुछ टूट चुका है या उसे तोड़ा जा रहा है। परन्तु अपने राजनैतिक आदर्शों को बदल कर, या अपने शासन-संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने अथवा समाज के आर्थिक ढाँचे में तोड़-फोड़ करने से ही कोई देश या समाज अपने भूतकाल से एकबारगी नाता नहीं तोड़ सकता है। काल तथा आदर्शों में परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली उन ऊपरी विभिन्नताओं के रहते हुए तथा ऐसी महत्वपूर्ण क्रान्तियों के बाद भी उस प्रदेश की संस्कृति में भूतकाल के साथ आन्तरिक एकता तथा वहाँ के जन-समाज की क्रान्तिपूर्ण विचार-धारा में क्रमागत सामूहिक विकास की अदृष्ट प्रवृत्ति स्पष्टरूपेण पाई जाती है। जनता का दृष्टिकोण बहुत ही धीरे-धीरे बदलता है, और राजनैतिक के साथ ही स्थायी सफल सांस्कृतिक क्रान्तियों का एकमात्र आधार जनता का यह बदला हुआ दृष्टिकोण ही हो सकता है। एवं भूतकाल की गहरी सुदृढ़ नीवों पर ही स्थायी स्वस्थ उन्नतिपूर्ण भविष्य का शिलान्यास होना चाहिए। अतएव इस नवनिर्माण के समय जहाँ एक ओर राजस्थान की विगत सांस्कृतिक परम्पराओं को हमारा प्रधान आधार बनाना होगा, वहीं राजस्थान के पिछले इतिहास को ध्यान में रखते हुए वहाँ के जन-समाज की जातीय निर्बलताओं, विभिन्न अंगों के पारस्परिक विरोधों और सदियों पुरानी कूपमंडूकता को दूर करना, तथा अराजकताकारक प्रवृत्तियों और प्रतिगामी प्रभावों को दबाने के लिए विशेषरूपेण प्रबल प्रयत्न करने होंगे।

राजस्थान की जनता तथा वहाँ की अगली पीढ़ी में प्रान्तीय

दृष्टिकोण उत्पन्न करने एवं वहाँ के भावी नवनिर्माण में आवश्यक मार्ग-प्रदर्शन करने के लिए राजस्थान का प्रान्तीय इतिहास लिखा जाना अत्यावश्यक हो गया है। परन्तु इतिहास-प्रसिद्ध होकर भी राजस्थान प्रायः इतिहास-उपेक्षी ही रहा है। टाड ने विभिन्न राज-घरानों का अलग अलग ऐतिहासिक विवरण लिखने की जो परि-पाटी डाल दी थी, उसी का अनुसरण कर श्रद्धेय ओझा, रेऊ, आदि विद्वानों ने राजस्थान के कुछ राज्यों के क्रमबद्ध इतिहास लिखे हैं। जयपुर, बूंदी और जैसलमेर जैसे प्राचीन महत्वपूर्ण राज्यों का कोई क्रमबद्ध इतिहास अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। समूचे राज-स्थान का एक सम्बद्ध प्रामाणिक प्रान्तीय इतिहास अब भी लिखा जाना है, तदर्थ कोई प्रयास भी नहीं किया गया, जिससे इतिहास में अमर राजस्थान प्रान्त अब तक इतिहास-विहीन है।

अपने राजनैतिक महत्व, ऐतिहासिक गौरव, तथा सांस्कृतिक प्राचीनता एवं विशेषताओं के अनुरूप राजस्थान का एक उपयुक्त इतिहास सविस्तार लिखे जाने में बहुत अधिक समय लगेगा। मध्ययुगीन तथा पूर्व-आधुनिक काल सम्बन्धी ऐतिहासिक खोज का काम अभी राजस्थान में प्रारम्भ भी नहीं हुआ है। तत्कालीन ऐतिहासिक सामग्री की खोज, उसका संग्रह एवं अध्ययन का ही कार्य इतना बड़ा और अत्यावश्यक है कि कई अनुभवी इतिहासकारों को अपने जीवन के अनेकों बहुमूल्य वर्ष इतिहास-लेखन की इसी प्रारम्भिक तैयारी में बिता देने पड़ेंगे। पुनः प्राचीन काल से लेकर आधुनिक युग तक का पूरा प्रामाणिक इतिहास अधिकारपूर्वक लिखना किसी भी एक इतिहासकार के बूते की बात नहीं है। उस बृहत् ग्रन्थ को लिखवाने के लिए अनेकों सुप्रतिष्ठित इतिहासकारों का सहयोग आवश्यक होगा।

परन्तु काल और वेला की ही तरह जीवन एवं जन-समाज की गति किसी की प्रतीक्षा में यत्किंचित् भी नहीं रुकती है, वे सही या गलत राह पर अबाध गति से आगे बढ़ते ही जाते हैं। और यों उनके नए नेताओं तथा विगत भाग्य-विधाताओं की भूलों या अदूर-दर्शिता का कटु परिणाम भुगतना उनके लिए अनिवार्य हो जाता है। राजस्थान प्रान्त भी आज उन्हीं संकटापूर्ण परिस्थितियों में से गुज़र रहा है। समुचित मार्ग-दर्शन एवं अत्यावश्यक सांस्कृतिक नेताओं के पूर्ण अभाव में राजस्थानी संस्कृति का यह संकट-काल अत्यधिक विषम हो उठा है। अब तक अतीव सुदृढ़ तथा चिरस्थायी माने जाने वाले सारे आधार-स्तंभ देखते ही देखते अविश्वसनीय सरलता के साथ अनायास ही ढह गए। भविष्य में किस आदर्श अथवा कौनसी विचारधारा को अपनाया जावे? कौनसा आधार आगे चल कर भी स्थायी प्रमाणित होगा? सारी वस्तु-स्थिति के स्थायित्व एवं सापेक्षिक महत्व की सत्यता में सर्वत्र पूर्ण अविश्वास उत्पन्न हो गया है। इसी कारण किंकर्तव्यविमूढ़ हो राजस्थान का साधारण जन-समाज आज प्रान्त के भविष्य के प्रति पूर्णतया उदासीन राजनीति से दूर बैठा है। उधर महा-राजस्थान की स्थापना के दिन से ही उसके नवनिर्माण का कार्य प्रारम्भ हो गया है। अखिल भारतीय राजनैतिक संगठन के बन्धनों में उलझ कर राजस्थान के नए राजनैतिक नेता भी प्रान्त के विगत इतिहास को समुचित महत्व नहीं दे रहे हैं। प्रान्त की सांस्कृतिक विभिन्नताओं, राजनैतिक त्रुटियों और ऐतिहासिक विशेषताओं की उपेक्षा की जाकर राजस्थान में भी एक सुनिश्चत अखिल भारतवर्षीय कार्यक्रम को पूर्णतया अपनाने का आयोजन हो रहा है, जिसके फलस्वरूप राजस्थान में उठने वाली नई सांस्कृतिक एवं राजनैतिक उलझनों के विचार-मात्र से ही

इतिहासकार व्याकुल हो उठता है, तथा राजस्थान के साथ ही समूचे भारत के भविष्य का प्रश्न भी उसके सम्मुख उपस्थित हो जाता है।

अतएव राजस्थान के विगत इतिहास के लिखे जाने की आवश्यकता आज अत्यधिक उत्कट हो उठी है। इन सद्यःविगत कुछ शताब्दियों का ठीक ठीक इतिहास जाने बिना नव-निर्माण का कार्य समुचित ढंग से चलना संभव नहीं, क्योंकि विगत राजस्थान के उन खण्डहरों की आधार-भित्तियों पर ही नव राजस्थान की नींव रखी जावेगी, और उन खण्डहरों की ठीक ठीक परिस्थिति का पूरा-पूरा पता उनका इतिहास ही दे सकता है। एवं जब राजस्थान विश्वविद्यापीठ के अधिकारियों ने 'ओझा आसन' से किसी भी ऐतिहासिक विषय पर भाषण देने के लिए मुझे आमन्त्रित किया, तब प्रान्तीय दृष्टिकोण से राजस्थान की इन पिछली सदियों के इतिहास की एक विस्तृत क्रमबद्ध सम्पूर्ण रूप-रेखा बना इन भाषणों के रूप में उसे समुपस्थित कर इस अत्यावश्यक कमी को यथासाध्य पूरी करने के लिए प्रयत्न करने का मैंने निश्चय किया।

खानवा के युद्ध में राणा सांगा के साथ राजस्थान के राजपूत-संघ की भी पूर्ण हार हुई थी, और तब ही भारत में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना सुनिश्चित-सी हो गई। राजस्थान की वर्तमान समस्याओं और उलझनों, तथा उसकी सद्यःसम्पन्न इस सम्पूर्ण एकता का प्राथमिक प्रारम्भ भी इसी युद्ध के कुछ ही युगों बाद हुआ था। एवं राजस्थान के इस पूर्व-आधुनिक काल का प्रारम्भ खानवा के युद्ध से ही माना है। उसके बाद अगले ४२० वर्षों तक बारी बारी से मुगलों, मरहठों और अंग्रेजों का राजस्थान

पर आधिपत्य रहा। अंग्रेजों के भारत-त्याग तथा भारत को स्वाधीनता प्राप्त होने पर ही इस काल का अन्त होता है। प्रान्त के राजनैतिक विकास एवं वहाँ की बदलती हुई परिस्थितियों की परम्परा के साथ ही उनकी विभिन्न एकताओं पर भी विचार कर राजस्थान के इतिहास के इस समूचे "पूर्व-आधुनिक काल" को अलग अलग भागों और विभागों में विभक्त किया, तथा उसी आधार पर विभिन्न विभागों की महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का संक्षेप में क्रमानुगत उल्लेख एवं तत्कालीन प्रान्तीय इतिहास की प्रमुख प्रवृत्तियों की विवेचना कर राजस्थान के राजनैतिक एवं सांस्कृतिक जीवन की विशिष्ट ऐतिहासिक परंपराओं को सुस्पष्ट करने तथा उन प्रवृत्तियों के फलस्वरूप देश और प्रान्त को होने वाले हानि-लाभों का निर्देशन करने का भी प्रयत्न इन भाषणों में किया गया है।

यह स्पष्ट है कि इन भाषणों में दिया गया ऐतिहासिक विवरण न तो सर्वांगपूर्ण ही कहा जा सकता है और न वह अन्तिम विवेचन ही माना जा सकता है। यह इतिहास अपने ढंग का प्रथम एवं एकमात्र प्रयास है, एवं ऐसे प्रारम्भिक ग्रंथों में पाई जाने वाली सारी त्रुटियों का इस ग्रंथ में भी होना स्वाभाविक ही है। इन भाषणों का अधिक विस्तार के साथ लिखा जाना संभव नहीं था, और वह उचित भी नहीं होता। एवं कई एक सुज्ञात महत्वपूर्ण घटनाओं की ओर केवल संकेत करके ही संतोष कर लेना पड़ा। राजस्थान के राज्यों के साथ समय-समय पर होने वाले अनेकानेक आपसी समझौतों और संधियों की शर्तों या विभिन्न राज्यों की सीमाओं में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख करना भी संभव नहीं था। विशिष्ट राजघराने या किसी व्यक्ति-विशेष के लिए महत्वपूर्ण होते हुए भी

प्रान्तीय दृष्टि से महत्वहीन घटनाओं की तो पूर्ण उपेक्षा ही की गई है । अतएव ऐसी सारी छोटी-मोटी घटनाओं या उनके विशद विवरणों के लिए सविस्तार लिखे गए विभिन्न राजघरानों के इतिहासों तथा उसी काल-सम्बन्धी अन्य ऐतिहासिक आधार-ग्रंथों का सहारा अब भी लेना होगा ।

पुनः राजस्थान का इतिहास एक बहुत ही उलझा हुआ विषय है । ओझाजी को छोड़ते हुए प्रायः अन्य सारे ही लब्ध-प्रतिष्ठित इतिहासकार उसके विशेष अध्ययन से दूर ही रहे हैं । तत्सम्बन्धी अत्यावश्यक ऐतिहासिक सामग्री ढूंढ़ निकालने का राजस्थान में अब तक कोई भी समुचित प्रयत्न नहीं हुआ है । अतएव भविष्य में होने वाली खोजों के फलस्वरूप प्राप्त महत्वपूर्ण नवीन ऐतिहासिक सामग्री से ज्ञात घटनाओं तथा राजस्थानी इतिहास के अन्य प्रामाणिक आधार-ग्रंथों के विशेष अध्ययन के बाद इस ग्रंथ में लिखी हुई राजस्थान के इतिहास की मेरी यह विवेचना एवं विभिन्न ऐतिहासिक घटनाओं सम्बन्धी मेरे बहुत से निर्णयों का कई अंशों तक अनुचित, निराधार या भ्रमपूर्ण प्रमाणित हो जाना कोई सर्वथा अनपेक्षित अनहोनी बात नहीं होगी । तथापि क्या राजस्थान के विगत इतिहास का मेरा यह विश्लेषण आज वहाँ चलने वाले नवनिर्माण के उस महत्वपूर्ण कार्य में किसी भी प्रकार उपयोगी तथा सहायक हो सकेगा ? क्या मेरा यह इतिहास-ग्रंथ भविष्य में राजस्थान के इतिहास-सम्बन्धी खोज करने वाले कर्मठ विद्वानों का किसी भी प्रकार मार्ग-प्रदर्शन कर सकेगा ? और तब राजस्थान के पूर्व-आधुनिक काल का सविस्तार प्रामाणिक इतिहास लिखते समय उन भावी इतिहासकारों को भी विभिन्न कालीन प्रमुख प्रवृत्तियों की तात्विक विवेचना के आधार पर किया हुआ मेरा यह काल-विभाजन

क्या उपयुक्त तथा ग्राह्य प्रतीत होगा ? सुदूर अज्ञात भविष्य में राजस्थानी समाज तथा भारतीय विद्वानों की उन अपरिचित अगली पीढ़ियों द्वारा तब दिये जाने वाले ऐसे अनेकों प्रश्नों के संभाव्य उत्तरों से निर्धारित इस ग्रंथ की सफलता या विफलता सम्बन्धी ठीक ठीक अन्तिम निर्णय का आज ही अनुमान लगाने का निरर्थक प्रयास छोड़ कर अपने निर्दिष्ट कार्य की ओर तत्परता के साथ अग्रसर होना ही अब एकमात्र कर्त्तव्य प्रतीत होता है । और उसके लिए हमें लौट पड़ना होगा उस सदी को जब "अपनी वीरता और तलवार के बल से राणा सांगा ने बहुत गौरव प्राप्त कर लिया था। उसकी शक्ति इतनी बढ़ गई थी कि मालवे, गुजरात और दिल्ली के सुलतानों में से कोई भी अकेला उसे हरा नहीं सकता था।" और युद्ध-क्षेत्र में उसी का सामना करते समय पानीपत के वीर विजेता तथा दिल्ली के प्रथम मुग़ल सम्राट् बाबर ने अपनी पराजय की प्रबल आशंकाओं से घबड़ा कर भविष्य में मदिरा-पान न करने की सौगन्द-शपथ ली थी, तथा स्वयं मर कर भी अपने यश:शरीर को किसी तरह बचाने के लिए यह विदेशी भारत-विजेता तक चिन्तित हो उठा था।

१

मुग़ल-कालीन राजस्थान—उसकी राजनैतिक एकता तथा महत्व

(१५२७–१६७८ ई०)

खानवा के युद्ध-क्षेत्र में आग उगलती हुई मुग़ल तोपों ने राजपूतों के प्रमुख नेता और मेवाड़ के महान् प्रतापी शासक राणा सांगा की पराजय को ही सुनिश्चित नहीं बना दिया था, परन्तु उन्होंने मध्यकालीन राजस्थान के अन्त की भी सुस्पष्ट घोषणा कर दी। राजस्थान के योद्धाओं को प्रथम बार तोपों का सामना करना पड़ा था; बाबर की व्यूह-रचना एवं पार्श्वों पर आक्रमण करने की उसकी युद्ध-प्रणाली भी राजपूतों के लिए सर्वथा नई तथा उनकी सेना में पराजय-जनक अस्तव्यस्तता उत्पन्न कर देने वाली थी। वीर राजपूतों की युद्ध-विद्या के विकास के इतिहास में एक नया अध्याय प्रारम्भ होने वाला था।

पूर्व-मध्यकाल में अनेकानेक जनपदों के नाम से सुप्रसिद्ध यह प्रदेश राजस्थान के विभिन्न आधुनिक राजघरानों के अधिकार में आकर अलग-अलग स्वाधीन या अर्ध-स्वतन्त्र राज्यों में बँट गया था। कुंभा और सांगा की वीरता, साहस एवं युद्ध-कौशल के फल-

स्वरूप मेवाड़ का राज्य दूर-दूर तक फैल कर अखिल भारतीय राजनीति में एक महत्वपूर्ण सत्ता समझा जाने लगा था। मेवाड़ की इस शक्ति, गौरव एवं प्रतिष्ठा के कारण ही राजस्थान तथा अन्य पड़ोसी प्रदेशों के राजपूत राजाओं ने राणा सांगा का नेतृत्व स्वीकार किया और सारे राजपूत राजघरानों ने एकत्रित होकर उसी के सेनापतित्व में विदेशी आक्रमणकारी मुग़ल-विजेता बाबर का सामना किया था। परन्तु खानवा के युद्ध की इस पराजय एवं उसके कुछ ही समय बाद राणा सांगा की मृत्यु के फलस्वरूप मेवाड़ का महत्व बहुत ही घट गया, जिससे राजपूतों की इस ऊपरी एकता तथा सामन्तशाही भावनाओं के आधार पर स्थित राजस्थानी राज्यों के इस असम्बद्ध राजनैतिक ऐक्य का भी सर्वदा के लिए अन्त हो गया। अब भविष्य में राजस्थान की राजनैतिक एकता तथा वहाँ के प्रान्तीय सैनिक संगठन के लिए सर्वथा दूसरे ही आधारों को स्वीकार करने में कोई भी बाधा नहीं रह गई थी।

राजपूतों की लोक-प्रसिद्ध राजनैतिक अदूरदर्शिता के कारण ही अपने निर्बल शत्रु इब्राहीम लोदी को विनष्ट करने के लिए राणा सांगा ने शक्तिमान् बाबर को काबुल से आमन्त्रित किया था। इब्राहीम लोदी के संहार के बाद उसी बाबर ने राणा सांगा को भी खानवा के युद्ध में हरा कर भारत में भावी मुग़ल साम्राज्य की नींव सुदृढ़ बना दी। राणा सांगा की यह हार तथा तदनन्तर उसकी मृत्यु केवल मेवाड़ के लिए ही नहीं परन्तु राजस्थान के लिए भी बहुत ही घातक प्रमाणित हुए। राजस्थान की सदियों पुरानी स्वतन्त्रता तथा उसकी प्राचीन हिन्दू संस्कृति को सफलतापूर्वक अक्षुण्ण बनाए रख सकने वाला अब वहाँ कोई भी नहीं रह गया। मुग़ल साम्राज्य ने राजस्थान की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया,

और राजनैतिक शक्ति के पतन के बाद राजस्थान की संस्कृति, वहाँ की विद्या और कला का भी ह्रास होने लगा। नए-नए प्रभाव उन पर पड़ने लगे तथा विदेशी भावनाओं से वे अछूते नहीं रह सके, जिससे आगे चल कर उनका मध्यकालीन स्वरूप ही बदल गया। सुदूरस्थ विदेशों से आने वाले इन विधर्मी आक्रमणकारी मुग़लों ने राजनैतिक एकता के साथ ही धीरे-धीरे समूचे राजस्थान की संस्कृति तथा साहित्य में एक अनोखी समानता भी उत्पन्न कर दी थी। मुग़ल साम्राज्य की स्थापना के बाद उत्तरी भारत में उत्पन्न होने वाली नई सम्मिलित हिन्दू-मुस्लिम संस्कृति का प्रभाव कुछ समय बाद राजस्थान-निवासियों के आचार-विचार, रहन-सहन, वेष-भूषा तथा खान-पान तक में देख पड़ने लगा।

परन्तु इन सारी नई-नई प्रवृत्तियों तथा महत्वपूर्ण क्रान्तिकारी प्रभावों का प्रारम्भ खानवा के युद्ध के बाद तथा उसी के परिणामों के फलस्वरूप ही हो सका था, अतएव राजस्थान के इतिहास में पूर्व-आधुनिक काल का प्रारम्भ इस निर्णायक युद्ध के दिन से ही माना जाना चाहिए। उस दिन खोई हुई वह स्वाधीनता तथा अपना वह विगत प्राचीन गौरव एवं महत्व कोई ४२० वर्ष बाद अगस्त १५, १९४७ ई० के दिन समूचे भारत के साथ ही राजस्थान को भी पुनः प्राप्त हुए, और उसके साथ ही राजस्थान का यह पराधीनता-पूर्ण पूर्व-आधुनिक काल समाप्त होता है।

अपनी-अपनी ऐतिहासिक विशेषताओं, विभिन्न राजनैतिक तथा सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की एकता तथा घटनात्मक विकास की समानताओं के ही आधार पर चार सदियों से भी अधिक वर्षों के इस समूचे काल को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) मुग़ल-कालीन राजस्थान : (१५२७–१६७८ ई०);

(२) अराजकतापूर्ण राजस्थान : (१६७९–१८१८ ई०); और (३) अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्तर्गत राजस्थान : (१८१९–१९४७ ई०) ।

प्रत्येक भाग को क्रमशः लेकर यहाँ इन भाषणों में तीनों ही भागों का अलग-अलग विवरण तथा उनकी विस्तृत विवेचना देने का प्रयत्न किया गया है । किस प्रकार पिछले भाग की विशेषताओं के फलस्वरूप अगले भाग की विभिन्नता का प्रारम्भ हुआ, तथा क्योंकर एक भाग की प्रवृत्तियों की परिणति दूसरे भाग की सर्वथा विभिन्न प्रवृत्तियों में ही होती गई, आदि तथ्यों की ओर भी यथा-स्थान निर्देश करने की चेष्टा की गई है । पुनः प्रत्येक भाग का अध्ययन करते समय अपनी-अपनी विशेषता के आधार पर उसे भी अनेकानेक उप-विभागों में विभक्त किया गया, जिससे उस विशिष्ट भाग की आन्तरिक एकता को स्मरण रखते हुए उसमें समय-समय पर होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों तथा ऐतिहासिक विकास की उन अत्यावश्यक नई कड़ियों की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया जा सके ।

खानवा के युद्ध में राणा सांगा की इस पराजय के बाद कई वर्षों तक राजस्थान का मुग़लों के साथ कोई सम्पर्क नहीं रहा । राजस्थान-विजय के लिए मुग़लों के प्रयत्न अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के बाद ही प्रारम्भ हुए । तथापि राजस्थान के पूर्व-आधुनिक इतिहास का यह मुग़ल-कालीन भाग खानवा के युद्ध से ही प्रारम्भ होता है । खानवा के युद्ध के फलस्वरूप राजस्थान की बदली हुई राजनैतिक परिस्थिति के कारण ही आगे चलकर राजस्थान पर मुग़लों का एकाधिपत्य हो सका । मेवाड़ के महाराणा का मुग़लों के साथ युगों तक संघर्ष चलता रहा, और अन्त में विवश होकर

दोनों ने ही आपस में सन्धि कर ली, जिससे मुग़ल सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार कर लेने पर भी मेवाड़ के महाराणा को अर्ध-स्वतन्त्र बने रहने का विशेष अधिकार दिया गया, तथा मुग़ल सम्राट् ने भी उसके प्रति विशेष आदर और सम्मान प्रदर्शित किया। तदनन्तर कुछ युगों तक राजस्थान में शान्ति बनी रही, परन्तु जब महाराणा राजसिंह मेवाड़ का शासक बना तब पुनः कशमकश प्रारम्भ हुई और औरंगज़ेब के सिंहासनारूढ़ होने के बाद उसमें उग्रता आने लगी। तथापि दिसम्बर, १६७८ ई० में जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के समय तक राजस्थान में किसी ने भी मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह करने की न सोची थी। यह सत्य है कि १६७९ ई० के बाद भी कोई अर्ध शताब्दी तक राजस्थान पर मुग़लों का बहुत-कुछ आधिपत्य बना रहा। तथापि जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद मारवाड़ में जो उत्कट विद्रोह उठ खड़ा हुआ और मेवाड़ के साथ जो युद्ध छिड़ा, उनके कारण राज-स्थान में मुग़ल सत्ता की जड़ें बहुत-कुछ उखड़ गई थीं, जिससे मरहठों के आक्रमणों के साथ ही वहाँ मुग़ल आधिपत्य का भी एकबारगी ही अन्त हो गया। पुनः राठौड़ों के विद्रोह तथा मुग़ल-राजपूत युद्ध के फलस्वरूप सन् १६७९ ई० से ही राजस्थान में अराजकता प्रारम्भ हुई, जो पूरी एक शताब्दी से भी अधिक समय तक निरन्तर बढ़ती ही गई। अतएव जसवन्तसिंह की मृत्यु के साथ ही अराजकतापूर्ण काल का प्रारम्भ होकर मुग़ल-कालीन भाग की समाप्ति होती है। यह मुग़ल-कालीन भाग पाँच विभिन्न विभागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) परिवर्तन काल (१५२७–१५५८ ई०),

(२) मुग़ल-विजय काल (१५५८–१५७७ ई०),

(३) मुग़ल-मेवाड़ संघर्ष तथा राजस्थान की राजनैतिक एकता की स्थापना का काल (१५७७–१६१५ ई०),

(४) शान्ति-समृद्धि काल (१६१५–१६५२ ई०),

और (५) राजस्थान में विरोध का प्रारम्भ (१६५२–१६७८ ई०)।

१. परिवर्तन काल (१५२७–१५५८ ई०)

शनिवार, मार्च १६, १५२७ ई० को फतेहपुर सीकरी से कोई १० मील दक्षिण-पश्चिम में खानवा नामक गाँव के पास बाबर और राणा सांगा के बीच यह निर्णायक युद्ध हुआ था। युद्ध प्रारम्भ होने के कुछ ही समय बाद सिर में तीर लगने से राणा सांगा मूर्छित हो गया, जिससे उसे पालकी में डाल कर मेवाड़ की ओर ले गए, परन्तु झाला अज्जा के नेतृत्व में युद्ध बराबर होता रहा। मुग़ल सेना ने राजपूतों को चारों ओर से घेर लिया था। राजपूत वीरता-पूर्वक लड़े, परन्तु तोपों के गोलों के आगे उनकी एक न चली। राजपूतों के कई एक प्रमुख सेनानायक खेत रहे और अन्त में उन्हें विवश होकर युद्ध-क्षेत्र से पीछे हटना पड़ा। इच्छा रहते भी इस समय ग्रीष्म ऋतु के कारण बाबर राजस्थान पर चढ़ाई नहीं कर सका, और बयाना से वह अलवर पहुँचा तथा मेवात पर उसने अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर लिया।

घायल राणा सांगा शीघ्र ही ठीक हो गया, और एक बार खानवा की पराजय की ग्लानि मन से दूर होने के बाद वह पुनः बाबर का सामना कर पिछली पराजय का बदला चुकाने के लिए उत्सुक हो उठा। अतएव राणा सांगा के ही साथी राय मेदिनी राय पर चढ़ाई करने के लिए जब बाबर जनवरी, १५२८ ई० के

प्रारम्भ में काल्पी से ससैन्य चन्देरी की ओर बढ़ने लगा तब राणा सांगा भी मेदिनी राय की सहायतार्थ ससैन्य चल पड़ा। परन्तु इस नए युद्ध का विरोध करने वाले राणा सांगा के राजपूत साथियों ने राणा सांगा को विष दे दिया, जिससे जनवरी ३०, १५२८ ई० को राह में ही राणा सांगा की मृत्यु हो गई*। अपने समय के सबसे बड़े प्रतापी राजपूत राजा एवं मध्यकालीन भारत के अन्तिम एवं वास्तविक हिन्दूपति की जीवन-लीला का यों खेदजनक दुःख-पूर्ण अन्त हुआ।

खानवा के युद्ध में राजपूतों की हार हुई और राणा सांगा की मृत्यु के बाद राजपूतों की रही-सही एकता भी विलीन हो गई, परन्तु फिर भी उनका बल नहीं टूटा था। मेवाड़ का राज्य तब भी उत्तर में काणौता और बसवा तक फैला हुआ था, अजमेर पर भी मेवाड़ का अधिकार था, और पूर्व में रणथम्भोर का किला और उसके आस-पास का सारा प्रदेश मेवाड़ राज्य में ही सम्मिलित था। बूंदी राज्य के हाड़ा शासक भी मेवाड़ की आधीनता स्वीकार कर वहाँ के राणा की सेवा करने में अपना गौरव समझते थे। मेवाड़ से दक्षिण में बागड का विस्तृत राज्य था जिसे अपने ही जीवनकाल में दो भागों में विभक्त कर रावल उदयसिंह ने अपने दोनों पुत्रों में बाँट दिया था, जिससे खानवा के युद्ध में रावल उदयसिंह की मृत्यु के बाद इस विभाजन के फलस्वरूप बागड़ के इन गुहिलों की

---

* राणा सांगा की मृत्यु-तिथि सम्बन्धी ओझा का मत मान्य है। परन्तु राणा सांगा की मृत्यु कहाँ हुई यह निश्चितरूपेण नहीं कहा जा सकता है। राणा सांगा के इरिच तक पहुँच जाने तथा काल्पी में उसकी मृत्यु होने के बाद मांडलगढ़ ले जाकर वहाँ उसकी दाह-क्रिया करने की बात स्वीकार करना भौगोलिक, सामरिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रमपूर्ण ज्ञात होता है।

शक्ति बहुत ही घट गई। बागड़ से लगा हुआ उसी के पश्चिम में राठौड़ों का ईडर राज्य था। गुजरात की सल्तनत से लगे हुए इस सीमान्त राजपूत राज्य के आन्तरिक मामलों में मेवाड़ के राणा को विशेष दिलचस्पी रहती थी। मेवाड़ से पश्चिम में देवड़ा चौहानों का सिरोही राज्य था, जिस पर इस समय राव अखैराज या उसका पुत्र रायसिंह राज्य कर रहा था। सिरोही से लगे हुए जालोर और सांचोर के परगने थे, जो इस समय गुजरात के सुलतानों की आधीनता स्वीकार करने वाले बिहारी पठान मलिक सिकन्दर ख़ाँ के अधिकार में थे। इस प्रदेश के उत्तर में स्थित मारवाड़ राज्य पर राव गांगा शासन कर रहा था। वहाँ के सरदार बहुत ही शक्तिशाली थे, और अपने शासक की उपेक्षा करना उनके लिए एक साधारण बात थी। मारवाड़ से उत्तर-पश्चिम में भाटियों का जैसलमेर राज्य था, जहाँ के शासक मरुभूमि में स्थित अपने राजकीय मामलों में ही उलझे रहते थे। जैसलमेर से पूर्व में राठौड़ों का दूसरा महत्वपूर्ण बीकानेर राज्य था, जहाँ राव लूणकर्ण का पुत्र राव जैतसिंह शासन कर रहा था। बीकानेर और जोधपुर राज्यों के बीच स्थित नागोर परगने पर मुसलमानों का अधिकार था, एवं सरखेल ख़ाँ और उसका पुत्र दौलत ख़ाँ स्वाधीन शासक के रूप में वहाँ राज्य कर रहे थे। मारवाड़ राज्य के पूर्व में कछवाहों का आम्बेर राज्य था, जहाँ राणा सांगा का जामाता, हरिभक्त पृथ्वीराज शासन करता था। खानवा के युद्ध में पृथ्वीराज राणा सांगा की ओर से लड़ा था। इस युद्ध के कुछ ही महीनों बाद उसकी मृत्यु हो गई। इन प्रमुख राज्यों के अतिरिक्त राजस्थान में सर्वत्र कई एक छोटे-मोटे अर्ध-स्वतन्त्र राज्य थे, जो आवश्कतानुसार अपने पड़ोसी शक्तिशाली राज्यों में से एक या दूसरे की अधीनता स्वीकार

कर उसकी सहायता के इच्छुक रहते थे।

राणा सांगा का ज्येष्ठ पुत्र भोजराज, जिसके साथ जगत्-प्रसिद्ध भक्त-शिरोमणि मीरां का विवाह हुआ था, अपने पिता के जीवन-काल में ही मर गया था, एवं अब भोजराज का छोटा भाई रत्नसिंह मेवाड़ की राज-गद्दी पर बैठा। राणा सांगा की मृत्यु के साथ ही दक्षिणी राजस्थान के विभिन्न राज्यों की सापेक्षिक शक्तियों के संतुलन एवं उनके राजनैतिक महत्व में अनेकों परिवर्तन होने लगे। अपने छोटे पुत्रों, विक्रमाजीत और उदयसिंह, को राणा सांगा द्वारा दी गई रणथम्भोर की विस्तृत अर्ध-स्वतन्त्र जागीर के प्रश्नों को ले कर रत्न-सिंह तथा उसकी विमाता हाड़ी रानी कर्मवती में पारस्परिक विरोध उठ खड़ा हुआ। अपने बड़े लड़के विक्रमाजीत को मेवाड़ की राज-गद्दी पर बैठाने के प्रयत्न में अपने कट्टर विरोधी बाबर से भी सहायता मांगने में कर्मवती को कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। अवकाश न होने के कारण बाबर मेवाड़ के इस आपसी झगड़े में हस्ताक्षेप नहीं कर सका, परन्तु इससे रत्नसिंह तथा कर्मवती के चचेरे भाई हाड़ा सूरजमल में पारस्परिक विरोध बढ़ता ही गया। अपने पड़ोसी राज्यों से मेवाड़ का आतंक पहले ही बहुत-कुछ उठ चुका था, और उसका रहा-सहा दबदबा भी अब निरन्तर घटने लगा। जनवरी, १५३१ ई० में बड़ी तत्परता के साथ मालवा पर सफलतापूर्वक आक्रमण करके भी रत्नसिंह मेवाड़ के विगत आतंक की पुर्नस्थापना नहीं कर सका।

उधर गुजरात के सुलतान बहादुर शाह की शक्ति तथा प्रभाव दिनों-दिन बढ़ते जा रहे थे। सन् १५३० ई० की वर्षा ऋतु समाप्त होने के बाद बागड़ पर चढ़ाई कर उसने रावल उदयसिंह द्वारा किए गए बटवारे को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उसके उत्तराधिकारी पृथ्वीराज को बाध्य किया। पृथ्वीराज के छोटे भाई जगमाल ने यों

बांसवाड़ा राज्य की स्थापना की। विभक्त होने के फलस्वरूप बागड़ राज्य की शक्ति घटने के साथ ही उस सारे प्रदेश पर बहादुर शाह का प्रभाव स्थापित हो गया। मेवाड़ का रत्नसिंह भी अब उसके साथ मेल बनाए रखने को उत्सुक था, एवं मालवा की चढ़ाई से लौटते समय फरवरी, १५३१ ई० के प्रारम्भ में बांसवाड़ा राज्य के अन्तर्गत खरजी की घाटी के पास वह बहादुर शाह से मिला।

परन्तु रत्नसिंह अधिक दिनों तक जीवित नहीं रहा। बहादुर शाह से मिल कर वह मेवाड़ को लौटा, और कुछ ही दिनों बाद शिकार खेलता हुआ बूंदी के निकट पहुँचा। रत्नसिंह द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर हाड़ा सूरजमल भी आकर शिकार में सम्मिलित हुआ। दोनों का बैर बढ़ते-बढ़ते अब चरम सीमा को पहुँच गया था, अतएव शिकार के समय जंगल में ही मार्च-अप्रेल, १५३१ ई० के लगभग एक दिन वे दोनों आपस में लड़ मरे। यों हाड़ा-सीसोदियों के उस इतिहास-प्रसिद्ध बैर का प्रारम्भ हुआ, जो शताब्दियों तक निरन्तर चलता रहा और जब-जब उसका अन्त करने के लिये प्रयत्न किये गये तब-तब रत्नसिंह-सूरजमल की इसी शिकार वाली घटना की पुनरावृत्ति होकर उस बैर की उत्कटता में वृद्धि ही हुई।

रत्नसिंह के बाद उसका छोटा भाई विक्रमाजीत मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठा। रणथम्भोर की जागीर के प्रश्न को लेकर चलने वाले इस आन्तरिक विरोध का अब आप ही आप अन्त हो गया, परन्तु फिर भी मेवाड़ की राजनैतिक परिस्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। विक्रमाज़ीत में शासन करने की योग्यता बिलकुल ही नहीं थीं; उसके छिछोरेपन से अप्रसन्न होकर सारे ही सरदार अपने-अपने ठिकानों को चले गए थे, जिससे राज्य की शासन-व्यवस्था बिगड़ने लगी। उधर मालवा के सुलतान महमूद ख़िलजी पर विजय प्राप्त कर मार्च-अप्रेल, १५३१

ई० में गुजरात के सुलतान बहादुर शाह ने मालवा के सारे राज्य को अपने आधीन कर लिया था, जिससे बहादुर शाह की शक्ति अत्यधिक बढ़ गई। एवं मेवाड़ के पुराने साथी तथा अपने सम्बन्धी रायसीन के तँवर सलहदी के सहायतार्थ फरवरी, १५३२ ई० में जब विक्रमाजीत स्वयं मेवाड़ की सेना लेकर चला, तब उसने बहादुर शाह से भी बैर मोल ले लिया। चाह कर भी विक्रमाजीत सलहदी की सहायता न कर सका, उलटे अगले वर्ष उसे मेवाड़ पर बहादुरशाह की चढ़ाई का सामना करना पड़ा। ढाई माह से भी अधिक समय तक चित्तोड़ का घेरा लगाने के बाद विवश होकर राजमाता कर्मवती ने बहादुर शाह के साथ मार्च २४, १५३३ ई० को सन्धि कर ली, जिसके फलस्वरूप राणा सांगा द्वारा जीते गये मालवा के सारे परगने और तब के सब विजयोपहार बहादुर शाह को सौंपना पड़े।

किन्तु मेवाड़ के दुर्भाग्य का यहीं अन्त नहीं हुआ। गागरोन और रणथम्भोर के सुदृढ़ दुर्ग पहले ही जीते जा चुके थे, अब बहादुर शाह के सेनानायकों ने अजमेर पर भी अधिकार कर लिया। यही नहीं, चित्तोड़ के किले को अपने अधिकार में लेने की बहादुर शाह की इच्छा अब भी बनी हुई थी, एवं सन् १५३४ ई० के अन्तिम महिनों में उसने पुनः चित्तोड़ के किले को जा घेरा, और अब जो कशमकश प्रारम्भ हुई, वह इतिहास में 'चित्तोड़ के दूसरे साके' के नाम से प्रसिद्ध है। विक्रमाजीत से अप्रसन्न होते हुए भी राजमाता कर्मवती के आमन्त्रण पर मेवाड़ के सारे सरदार, सगे-सम्बन्धी और भाई-बेटे चित्तोड़ की रक्षा के लिए वहाँ एकत्रित हो गए। विक्रमाजीत और उसके भाई उदयसिंह को बूंदी भेज दिया था, एवं चित्तोड़ में राणा का प्रतिनिधित्व करने को राणा कुम्भा के छोटे भाई खेमा के पौत्र रावत बाघा को नियुक्त किया गया। किले का घेरा चलता रहा। बहादुर शाह के साथ बारूद से

चलने वाली तोपें और युरोपीय गोलन्दाज़ थे, जिनके विरुद्ध इन राजपूत वीरों की एक न चली। अन्त में जब आक्रमणकारियों को रोकना असम्भव हो गया तब चित्तोड़ में पुनः जौहर हुआ, राजमाता कर्मवती के साथ ही सारी अन्य स्त्रियों ने अग्नि-प्रवेश किया, और बाकी रहे वीर-योद्धा शत्रु से लड़ते हुए काम आये। रावत बाघा किले के प्रवेश-द्वार 'पाडल पोल' के पास खेत रहा। उसका वह स्मारक-चिह्न भी अब तक चित्तोड़ के उस द्वार पर प्रहरी बना हुआ है। राणा के इस अद्वितीय प्रतिनिधि के उत्तराधिकारी भी तदनन्तर 'दीवान' कहलाने लगे। मार्च ८, १५३५ ई० को यह जौहर हुआ, और उसी दिन चित्तोड़ गढ़ पर बहादुर शाह का अधिकार हो गया।

शैख़ जीव की भविष्यवाणी सत्य हुई; चित्तोड़-विजय के साथ ही बहादुर शाह का सितारा अस्त हो गया। बहादुर शाह को अब अपने नए पड़ोसी, मुग़ल-सम्राट् हुमायूँ की चढ़ाई का सामना करना था। जब बहादुर शाह चित्तोड़ का घेरा डाले बैठा था, तभी वह मालवा में बड़ी दूर तक घुसा चला आया था, एवं चित्तोड़ पर अधिकार होते ही उसे हुमायूँ का सामना करने के लिए वहाँ से चल देना पड़ा। अप्रेल २४, १५३५ ई० को जब हुमायूँ का सामना न कर बहादुर शाह मन्दसौर से भाग खड़ा हुआ, तब चित्तोड़ पर उसका अधिकार बनाए रखने वाली बहादुर शाह की सेना भी वहाँ से चल देने को उतारू हुई। चित्तोड़ पर पुनः मेवाड़ राज्य का अधिकार हो गया एवं विक्रमाजीत भी बूंदी से लौट आया।

इतना सब भुगत कर भी विक्रमाजीत में कोई सुधार नहीं हुआ। अतएव सन् १५३६ ई० के पिछले महीनों में जब राणा रायमल के सुप्रसिद्ध कुँअर पृथ्वीराज का अनौरस पुत्र बणबीर विक्रमाजीत को मार कर स्वयं मेवाड़ का अधिपति बन गया, तब किसी को विक्रमा-

जीत के न रहने का कुछ भी खेद नहीं हुआ। अपने मार्ग को निष्कण्टक बनाने के लिए बणबीर ने उदयसिंह का भी वध करने का प्रयत्न किया था, किन्तु स्वामिभक्त पन्ना धाय ने उसे बचा लिया। मेवाड़ राज-घराने के हितेच्छु उदयसिंह को लेकर अन्त में कुम्भलगढ़ पहुँचे, और सन् १५३७ ई० में वहीं उसे मेवाड़ का शासक घोषित किया। अनेकानेक प्रयत्नों के बाद जब उसका पक्ष सबल हो गया तब तीन वर्ष बाद चढ़ाई कर बणबीर को चित्तोड़ से निकाल बाहर किया गया।

जब इस प्रकार इन आपसी झगडों और बाहरी आक्रमणों के फलस्वरूप मेवाड़ राज्य की शक्ति क्षीण हो रही थी, तब राजस्थान के ही एक दूसरे कोने में राठौडों के मारवाड़ राज्य की सत्ता का उदय हो रहा था। मई, १५३२ ई० के प्रारम्भ में मालदेव ने बहुत ही नरम और शान्ति-प्रिय स्वभाव वाले अपने अफीमची पिता मारवाड़ के शासक राव गांगा को ऊपर की मंजिल के झरोखे में से गिरा कर मार डाला, तथा वह स्वयं मारवाड़ का शासक बन गया। इस समय मारवाड़ के सरदारों का बल बढ़ गया था और वे सब प्राय: स्वतन्त्र बन बैठे। मालदेव के निजो अधिकार में तब केवल जोधपुर और सोजत के दो परगने ही रह गये थे। मालदेव उग्र स्वभाव का महत्वाकांक्षी शासक था। वह एक-एक कर मारवाड़ के अन्य परगनों को भी अपने अधिकार में लेने लगा। भाद्राजूण को आधीन किया। दौलत खाँ के अधिकार को दूर कर सन् १५३६ ई० के प्रारम्भ में उसने नागोर को भी अपने राज्य में मिला लिया। मेड़ता के दूदावत बीरमदेव ने गुजरात के बहादुर शाह के सेनानायक से छीन कर सन् १५३५ ई० में अजमेर पर स्वयं अधिकार कर लिया था। कुछ वर्षों के सतत प्रयत्न के बाद मालदेव ने बीरमदेव को मेड़ता और अजमेर दोनों ही स्थानों से निकाल बाहर किया और उन्हें भी अपने आधिपत्य में ले लिया। उसने सिवाणा

को जीता, टोंक और टोड़ा के सोलंकियों को हराया, सांचोर के चौहानों को अपने आधीन किया, तथा आम्बेर के कछवाहा राजाओं से छीन कर उनके चार परगनों को भी अपने राज्य में मिला लिया। सन् १५४२ ई० के प्रारम्भ में मालदेव ने बीकानेर पर चढ़ाई की; वहाँ का राव जैतसिंह युद्ध में मारा गया; तब विजयी मालदेव ने जांगल देश पर भी अधिकार कर लिया। मालवा राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था, मेवाड़ राज्य की शक्ति अत्यधिक क्षीण हो गई थी, बहादुर शाह की मृत्यु के बाद गुजरात में भी कोई शक्तिशाली शासक रह नहीं गया था, और जुलाई, १५३७ ई० से ही मुग़ल सम्राट् हुमायूँ सुदूर पूर्व में शेरशाह सूर के साथ पूरी तरह उलझा हुआ था। इस अपूर्व अवसर से लाभ उठा कर मालदेव ने अपने राज्य की सीमाएँ चारों ओर दूर दूर तक फैला दीं, और अब वह उत्तरी भारत का बहुत ही शक्तिशाली राजा समझा जाने लगा।

शेरशाह सूर के साथ बंगाल में हुमायूँ की जो कशमकश चल रही थी, उसका परिणाम हुमायूँ के लिये सर्वनाशकारी हुआ। चौसा (संभवतः सितम्बर, १५३९ ई०) तथा बिलग्राम (मई १७, १५४० इ०) के युद्धों में पराजित होने के बाद हुमायूँ का दिल्ली के तख़्त पर बना रहना सर्वथा असंभव हो गया था; वह लाहौर की ओर भाग चला और उत्तरी भारत के मुग़ल राज्य पर शेरशाह सूर का आधिपत्य हो गया। पंजाब होता हुआ हुमायूँ सिन्ध पहुँचा, और कोई एक वर्ष से भी अधिक समय तक वहाँ अपना आधिपत्य जमाने का यत्र-तत्र विफल प्रयत्न करता रहा। जब वह भक्कर में था, तब मालदेव ने उसे मित्रतापूर्ण पत्र लिख कर भारत का राज्य पुनः प्राप्त करने में उसकी सहायता करने का वादा भी किया था। अतएव सब ओर से निराश होकर मई, १५४२ ई० में हुमायूँ मारवाड़ की ओर चल दिया, तथा

बीकानेर के पास होता हुआ अगस्त के पहिले सप्ताह में फलौदी से कुछ आगे तक पहुँच गया। परन्तु इस समय तक राजस्थान की पूर्वी तथा दक्षिणी-पूर्वी सीमा पर सारी राजनैतिक परिस्थिति ही बदल गई थी। शेरशाह ने समूचे मालवा पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर वहाँ का शासन-प्रबंध अपने विश्वस्त सेनानायक शुजाअत ख़ाँ को सौंपा था। वहाँ से लौटते समय राह में रणथम्भोर किले को भी उसने अपने आधीन कर लिया था। और अब हुमायूँ के मारवाड़ की ओर बढ़ने की सूचना पाते ही वह स्वयं ससैन्य मारवाड़ की ओर बढ़ने लगा। अतएव अब मालदेव हुमायूँ का साथ देने को तैयार नहीं था। उधर हुमायूँ को भी मालदेव के प्रति अविश्वास हो गया था, जिससे वह वापस लौट पड़ा और सातलमेर तथा जैसलमेर के पास होता हुआ अगस्त २२ को उमरकोट पहुँच गया। शेरशाह भी वापस आगरा को लौट गया।

इस प्रकार सन् १५४२ ई० में तो युद्ध टल गया। परन्तु मालदेव की यह बढ़ती हुई शक्ति शेरशाह को बहुत ही खटक रही थी। उधर मेड़ता का वीरमदेव, बीकानेर के जैतसिंह का पुत्र कल्याणमल, आदि मालदेव के शत्रु भी मालदेव पर आक्रमण करने के लिए शेरशाह को निरन्तर प्रेरित कर रहे थे। अतएव सन् १५४३ ई० की वर्षा की समाप्ति पर युद्ध की पूरी तैयारी करके शेरशाह ने मालदेव पर चढ़ाई कर दी। आगरा से सीधा पश्चिम में मेवात तथा शेखावाटी में होता हुआ वह डीडवाना की ओर बढ़ता हुआ चला आया। वीरमदेव साथ था ही, कल्याणमल भी सिरसा से चल कर राह में ससैन्य शेरशाह के साथ जा मिला। शेरशाह की इस चढ़ाई की सूचना मिलते ही मालदेव अजमेर पहुँचा और वहाँ उसका सामना करने को तत्पर हुआ। कुचामन के पास तक पहुँच कर

शेरशाह दक्षिण-पश्चिम की ओर मुड़ा। अजमेर के पश्चिम में पहुँच कर जोधपुर को लौटने की अपनी एकमात्र राह रोकने के शेरशाह के प्रयत्न को समझते ही अजमेर में ठहर शेरशाह की प्रतीक्षा करना मालदेव को अनुचित प्रतीत हुआ, अतएव अजमेर छोड़ कर वह दक्षिण-पश्चिम में जेतारण की ओर लौट पड़ा। तब तक शेरशाह भी अजमेर से कोई तीस मील दक्षिण-पश्चिम में जेतारण के 'सुमेल' गाँव के पास पहुँच गया था, अतएव उससे कुछ ही दूरी पर गिर्री नामक गाँव में मालदेव ने भी ससैन्य पड़ाव डाला।

समकालीन इतिहासकारों के कथनानुसार मालदेव के पास इस समय कोई ५० से लेकर ८० हजार तक घुड़-सवार थे। उसकी इस सैनिक शक्ति को देख कर शेरशाह का साहस नहीं हुआ कि मालदेव पर एकबारगी आक्रमण कर दे, अतएव कई दिनों तक दोनों सेनाएँ आमने-सामने पड़ी रहीं। अन्त में कुछ बनावटी पत्र लिख कर तथा अन्य कई उपायों से शेरशाह ने मालदेव के हृदय में उसके प्रमुख सेनानायक, जैता और कूंपा के प्रति अविश्वास उत्पन्न कर दिया। अपने इन सेना-नायकों के आशंकित विश्वासघात से बचने के उद्देश्य से मालदेव जनवरी ४, १५४४ ई० की संध्या को गिर्री से जोधपुर की ओर लौट पड़ा। अपनी अडिग स्वामिभक्ति का आश्वासन देकर मालदेव को वापस लौटाने के लिए जैता और कूंपा के सारे प्रयत्न विफल हुए। मालदेव के यों रवाना होते ही वह बड़ी राठौड़ सेना बिखरने लगी, परन्तु जैता, कूंपा, आदि मालदेव के कई एक प्रमुख सेनानायक अपनी प्रगाढ़ स्वामिभक्ति प्रमाणित करने के लिए व्यग्र थे, एवं बिखरती हुई राठौड़ सेना में से यथा-शक्य कोई दस हज़ार घुड़-सवारों को एकत्रित कर दूसरे दिन (जनवरी ५, १५४४ ई०) प्रातःकाल ही जल्दी शेरशाह की सेना पर पूरे वेग के साथ आक्रमण

कर दिया। घमासान युद्ध हुआ; राठौड़ों ने निर्भीकता पूर्वक लड़ कर कई बार शेरशाह की सेना को पीछे हटाया, जिसे देख कर शेरशाह ने भी इस युद्ध में विजयी होने की आशा तक छोड़ दी। परन्तु शेरशाह की सेना की तुलना में राठौड़ों की संख्या अत्यधिक कम रह गई थी, एवं युद्ध अधिक समय तक नहीं चल सका, और सारे ही राजपूत वीर मारे गए। यों मुट्ठी भर बाजरे के लालच में पड़ने से शेरशाह के हिन्दुस्तान की बादशाहत खोने की नौबत पहुँच गई थी।

सुमेल की इस विजय के बाद अपनी सेना का एक दल अजमेर भेज कर शेरशाह ने उस पर अधिकार कर लिया। बाकी रही सेना के साथ वह स्वयं मेड़ता पहुँचा, और उसे जीत कर वीरमदेव को दे दिया। कल्याणमल को बीकानेर मिला। मेड़ता से शेरशाह जोधपुर पहुँचा। मालदेव तब तक जोधपुर छोड़ कर सिवाणा की ओर चला गया था, तथापि बड़ी कशमकश के बाद ही जनवरी मास के अन्त तक शेरशाह जोधपुर पर अधिकार कर सका।

कुछ मास तक जोधपुर रह कर शेरशाह ने वहाँ का शासन-प्रबन्ध व्यवस्थित किया। तब खवास ख़ाँ को वहाँ नियुक्त कर वह अजमेर को लौटा। वर्षा ऋतु दूर न थी, फिर भी वह अजमेर सेससैन्य चित्तोड़ की ओर बढ़ा। उदयसिंह ने शेरशाह के साथ सुलह करना ही ठीक समझा। खवास ख़ाँ के भाई शम्स ख़ाँ को मेवाड़ में छोड़ कर वर्षा ऋतु प्रारम्भ होते २ शेरशाह मालवा के खीचीवाड़ा प्रदेश में जा पहुँचा। इस बार जोधपुर पर मुसलमानों का अधिकार पूरे ५२४ दिन तक रहा। मई २२, १५४५ ई० के दिन कालिंजर के किले के सामने शेरशाह की मृत्यु हुई, और उसका छोटा लड़का जलाल ख़ाँ इस्लामशाह के नाम से सिंहासन पर बैठा। अपनी आधीनता स्वीकार करवाने के लिए इस्लामशाह ने राजस्थान में नियुक्त खवास ख़ाँ,

उसके भाई, आदि प्रमुख सेनानायकों को अपने पास बुलवाया। उनकी इस अनुपस्थिति से लाभ उठा कर जुलाई, १५४५ ई० में मालदेव ने जोधपुर पर पुनः अधिकार कर लिया, तथा मेवाड़ में भी अब सूर बादशाहों का कोई प्रभाव नहीं रह गया।

पूर्वी राजस्थान में अवश्य उनका अधिकार जैसा का तैसा ही बना रहा। रणथम्भोर में तब भी इस्लामशाह द्वारा नियुक्त फौजदार रहता था। अजमेर में भी इस्लामशाह का अधिकारी शासन करता था। मेवात उनके अधिकार में था ही, एवं अजमेर और मेवात के बीच में पड़ने वाले आम्बेर राज्य के कछवाहा राजाओं ने भी सूर बादशाहों की आधीनता स्वीकार कर ली थी। परन्तु राजस्थान में अपने इस आधिपत्य को बढ़ाने या राजस्थान के अन्य स्वाधीन राज्यों में हस्ताक्षेप करने का इस्लामशाह ने कभी भी प्रयत्न नहीं किया। अतएव अपनी शक्ति को पुनः संगठित करने तथा अपने राज्य की सीमाओं को बढ़ाने का मालदेव को अवसर मिल गया। फलौदी और पोकरण के परगनों को उसने अपने राज्य में मिला लिया, बाड़मेर और कोटड़ा पर अधिकार करने का प्रयत्न किया, तथा जैसलमेर राज्य पर चढ़ाई कर वहाँ के रावल से पेशकश वसूल किया (सन् १५५२ ई०)। परन्तु सुमेल के युद्ध में मारे जाने वाले योद्धाओं की क्षति को पूरा करना कठिन था; जालोर के किले पर एक बार अधिकार कर के भी वह उसे अपने आधीन नहीं रख सका (१५५५ ई०)। पुनः वीरमदेव की मृत्यु के बाद जब उसका पुत्र जयमल मेड़ता का शासक बना, तब मेड़ता पर अधिकार करने के लिए मालदेव ने चढ़ाई की, परन्तु बीकानेर के कल्याणमल की सैनिक सहायता प्राप्त कर जयमल ने उसे पूर्णतया पराजित कर भगा दिया (अप्रेल ४, १५५४ ई०)।

बूंदी के हाड़ा शासक तब भी मेवाड़ के राणा की आधीनता स्वीकार करते थे। राव सूरजमल हाड़ा के मारे जाने के बाद उसका पुत्र सुरताण बूंदी का अधिकारी बना, किन्तु वह अत्याचारी निकला, और बूंदी के सारे सरदार उसके विरोधी हो गए, एवं उसे पद-च्युत कर राणा उदयसिंह ने अपने मामा अर्जुन के पुत्र सुर्जन को बूंदी की गद्दी पर बैठाया (१५५४ ई०)। इसी प्रकार सन् १५३७ ई० में वहाँ के राजा भीम की मृत्यु के बाद आम्बेर राज्य में भी असन्तोष एवं पारस्परिक विरोध उठ खड़ा हुआ था, जो ग्यारह वर्ष बाद जून १, १५४८ ई० को भीम के ही सगे भाई भारमल के राजगद्दी पर बैठने के बाद जाकर कहीं मिटा, और तब उस राज्य में पुनः शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित हो पाई।

अक्तूबर, १५५३ ई० में इस्लामशाह की मृत्यु हो गई, और उसके साथ ही सूर सल्तनत का भी एक तरह से अन्त हो गया। इस्लाम शाह के उत्तराधिकार के दावेदारों के पारस्परिक युद्धों से लाभ उठा कर मुगल सम्राट् हुमायूँ ने पुनः भारत में प्रवेश किया और जुलाई, १५५५ ई० में उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। किन्तु जनवरी २४, १५५६ ई० को दिल्ली में हुमायूँ की मृत्यु हो गई और तब सुदूर पंजाब में उसका तेरह-वर्षीय पुत्र अकबर भारतीय मुग़ल साम्राज्य की राजगद्दी पर बैठा। दिल्ली और आगरा पर पुनः मुग़ल आधिपत्य स्थापित करने के लिए उसे पानीपत के दूसरे युद्ध में हेमू को हराना पड़ा (नवम्बर ५, १५५६ ई०)। अकबर के दिल्ली पहुँचने पर मुग़ल दरबार से निमन्त्रण पाकर आम्बेर का राजा भारमल दिल्ली पहुँचा, वहाँ अकबर की आधीनता स्वीकार की और अपनी वीरता से उसने अकबर को प्रसन्न भी किया (दिसम्बर, १५५६ ई०)।

हुमायूँ की मृत्यु के बाद दिल्ली के आस-पास जब पुनः

अव्यवस्था फैली, तब शेरशाह का सेनानायक हाजी ख़ाँ पठान मेवात पर अधिकार कर एक स्वतन्त्र शासक बन बैठा और वहाँ अपना राज्य और शक्ति बढ़ाने लगा। एवं पानीपत की इस विजय के बाद ही जब मेवात पर अधिकार करने के लिए मुग़ल सेनाएँ अलवर की ओर चल पड़ीं, तब हाजी ख़ाँ वहाँ से भाग कर अजमेर गया। हाजी ख़ाँ को लूटने के लिए मालदेव ने अपनी सेना भेजी, तब हाजी ख़ाँ की प्रार्थना पर उसकी सहायतार्थ बीकानेर के राव कल्याणमल ने अपनी सेना भेजी, और मेवाड़ का राणा उदयसिंह तो स्वयं अपनी सेना लेकर हाजी ख़ाँ से जा मिला। इस सम्मिलित सेना का सामना करने का मालदेव के सेनानायकों को साहस नहीं हुआ, और वे जोधपुर को लौट पड़े। अपनी इस सहायता के बदले में राणा उदयसिंह ने हाजी ख़ाँ से रंगराय पातर नामक उसकी प्रेयसी को मांगा, तब तो हाजी ख़ाँ और उदयसिंह में विरोध उत्पन्न हो गया और उदयसिंह ने हाजी ख़ाँ पर चढ़ाई कर दी। उदयसिंह का सामना करने के लिए हाजी ख़ाँ ने मालदेव से सहायता ली। जनवरी २४, १५५७ ई० को हरमाड़ा के युद्ध में मालदेव और हाजी ख़ाँ की सम्मिलित सेना ने राणा उदयसिंह को पराजित किया। इस युद्ध में मेड़ता के शासक जयमल ने राणा उदयसिंह का साथ दिया था, एवं इस पराजय के बाद हरमाड़ा के युद्ध-क्षेत्र से ही मालदेव की सेना मेड़ता पहुँची और जनवरी २७ के दिन मेड़ता पर जयमल के स्वाधीन एकाधिपत्य का सर्वदा के लिये अन्त हो गया। अब मेड़ता पर मालदेव का अधिकार हो गया और मेड़ता पर पुनः अपना आधिपत्य करने के लिए उत्सुक जयमल ने भी अपने पिता की तरह दिल्ली की राह पकड़ी।

इस विजय के बाद हाजी ख़ाँ ने अजमेर के साथ ही साथ उसके आस-पास के सारे प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया। उदयसिंह के

विरुद्ध हाजी ख़ाँ की सफलता एवं उसके बढ़ते हुए बल का यह सारा विवरण जब अकबर के राजदरबार में ज्ञात हुआ, तब उस पर चढ़ाई करने के लिए अप्रेल, १५५७ ई० के लगभग मुहम्मद कासिम ख़ाँ, शाह कुली ख़ाँ, आदि सेनानायकों को ससैन्य अजमेर की ओर भेजा गया। आम्बेर का राजा भारमल, उसका छोटा भाई जगमाल एवं मेड़ता का जयमल भी इसी सेना के साथ थे। कई माह तक हाजी ख़ाँ इस मुग़ल सेना का सफलतापूर्वक सामना करता रहा। दिसम्बर, १५५७ ई० तक भी जब मुग़ल सेना को कोई सफलता नहीं मिली, तब उसकी सूचना अकबर के पास भेजी गई। इस समय अकबर ससैन्य लाहौर से दिल्ली को लौट रहा था; लुधियाना के पास यह सूचना मिलते ही सारी शाही सेना वहाँ से सीधी हिसार की ओर बढ़ी, और अकबर भी कुछ दिन बाद उसके साथ हिसार में जा मिला। अकबर के यों ससैन्य राजस्थान पर चढ़ाई करने की सूचना पाने पर हाजी ख़ाँ ने मुग़ल सेना का अधिक विरोध करना निरर्थक समझा, और जल्दी-जल्दी गुजरात की ओर चला गया। अब मुग़ल सेना का विरोध कर सकने वाला कोई नहीं रहा, अतएव कासिम ख़ाँ ने मार्च, १५५८ ई० के प्रारम्भ में आगे बढ़ कर अजमेर पर अधिकार कर लिया। शाह कुली ख़ाँ के नेतृत्व में मुग़ल सेना का दूसरा दल जेतारण पहुंचा, और मार्च १२, १५५८ ई० को उसे भी जीत लिया। अजमेर और जेतारण पर मुग़ल आधिपत्य की स्थापना होने के बाद धीरे-धीरे मुग़लों ने सारे राजस्थान को अपने आधीन कर लिया, जिसके फलस्वरूप वहाँ के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक संगठन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। यों मार्च, १५५८ ई० से ही राजस्थान के इतिहास में एक सर्वथा नए युग 'मुग़ल-विजय काल' का प्रारम्भ होता है।

पूर्व-आधुनिक काल के इन प्रारम्भिक परिवर्तन-पूर्ण वर्षों में भी जहाँ एक ओर उत्तर-मध्यकालीन राजनैतिक प्रवृत्तियों तथा सदियों पुराने आदर्शों का ही नैरन्तर्य मिलता है, वहीं धीरे-धीरे राजस्थान में कई एक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगी थीं, जिनसे आगे चल कर वहाँ मुग़लों के आधिपत्य द्वारा आधुनिक काल का सूत्रपात हो सका। राजस्थान के सब ही राज्यों के शासन एकमात्र सामन्तशाही ढंग से संगठित थे। चतुर प्रतापी शासकों के अभाव में अपने सरदारों को अनुशासन में रख कर अपने राज्य की शक्ति को बढ़ाना एक असम्भव बात थी। मेड़ता और बूंदी जैसे अर्ध-स्वतन्त्र राज्य प्रान्तीय राजनीति में एक दूसरी ही उलझन पैदा करते थे और उनके अस्तित्व से राजस्थान की शक्ति घटती ही थी। खानवा के युद्ध-क्षेत्र में विभिन्न राजघरानों की सेनाओं का यों एकत्र होना राजपूतों के इतिहास का एकाकी अपवाद मात्र था। इस पराजय के बाद भी पुरानी जातीय प्रतिस्पर्धा एवं परम्परागत विरोध की भावनाएँ वैसी ही अक्षुण्ण बनी रहीं। राणा सांगा की मृत्यु के बाद उपयुक्त नेता के अभाव के कारण राजस्थानी राज्यों में पुनः एक्य होना एक असम्भव बात हो गई थी। मालदेव ने तो राजस्थान की अनैकता को ही बढ़ाया, और उसके विरोधी दिल्ली के मुसलमान शासकों की सहायता के इच्छुक हुए। तुगलकों के भारत-व्यापी साम्राज्य का अन्त हुए कोई डेढ़ सौ वर्ष बीत चुके थे और अब दिल्ली के शासकों की भी गणना भारत के अन्य महत्वपूर्ण प्रान्तीय शासकों के साथ ही की जाती थी। समूचे भारत की राजनैतिक एकता एक भूली हुई बात हो गई थी और उसकी सम्भावना का विचार भी किसी के हृदय में उठता न था। विभिन्न शासकों के लिए उनका व्यक्तिगत, उनके राजघराने का या उनके विशिष्ट राज्य का ही हित सर्वोपरी

होता था। समूचे भारत के राष्ट्रीय हित की भावना के लिए वहाँ कोई स्थान नहीं था। राजतन्त्र एवं राजनीति में जन-साधारण का कोई महत्व नहीं था, और न उन्हें निरन्तर होने वाले इन परिवर्तनों में कोई दिलचस्पी ही थी। आक्रमणकारियों का उन्होंने कभी भी विरोध नहीं किया, परन्तु शान्ति और सुरक्षा के लिए वे अवश्य इच्छुक रहते थे। राणा सांगा के बाद दूसरे किसी भी राजस्थानी शासक या सेनानायक ने मुग़लों एवं दिल्ली के अन्य मुसलमानी शासकों में कोई भेद नहीं समझा, और विशेषतया शेरशाह सूर के हाथों पराजित होकर हुमायूँ के भारत से भागने के बाद तो कोई भी मुग़लों के भावी महत्त्व एवं भारत पर उनके एकाधिपत्य की संभावना का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगा सका। पुनः बारूद के प्रयोग के फलस्वरूप मुग़लों की सेना को जो विशेष बल प्राप्त हुआ था, उसी कारण राजस्थानी शासक भी उनका सामना करने का एकबारगी ही साहस नहीं करते थे। अतएव अकबर के सिंहासनारूढ़ होने के बाद जब मुग़ल सेनाएँ राजस्थान में बढ़ने लगीं, तब वहाँ राजपूत शासकों की ओर से उनका कोई विशेष उल्लेखनीय विरोध नहीं हो सका।

परिवर्तन-कालीन इन पिछले ३१ वर्षों में भी राजस्थान के सामाजिक जीवन एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में मध्यकालीन परिस्थितियों तथा हिन्दू भावनाओं का ही पूर्ण प्राधान्य रहा। अजमेर जैसे दो-एक केन्द्रों को छोड़कर राजस्थान में अन्यत्र न तो मुसलमानों की बस्ती ही थी और न उनके साथ विशेष सम्पर्क ही आता था। पुनः राजस्थान या उसके पड़ोस के मुसलमानों की संस्कृति में ऐसा कोई बल या नूतनता नहीं रह गए थे कि उनसे तत्कालीन राजस्थानी संस्कृति पर कोई भी उल्लेखनीय प्रभाव पड़ सकता। इस समय तक प्रान्त के साहित्य की भाषा ने विशुद्ध डिंगल तथा आधुनिक

राजस्थानी का स्वरूप ग्रहण कर लिया था, और उसमें प्राकृत एवं अपभ्रंश का कोई उल्लेखनीय सम्मिश्रण या रहा-सहा प्रभाव भी नहीं रह गया था। अब भी वीरोपासना की परम्परा चल रही थी, और चारण-भाट वीर-काव्य की रचना करते थे। बीठू सूजो नग-राजोत कृत 'राउ जइतसी रउ छंद' इस काल की एक महत्वपूर्ण रचना है। पुनः भक्ति-भाव की पुण्य-धारा की लहर तब तक राजस्थान में भी पहुँच चुकी थी, एवं इस काल के प्रारम्भ से ही मीरां राजस्थान को अपनी भक्ति-भावना एवं पदावली द्वारा पावन कर रही थी। मेड़ता पर मालदेव का अधिकार होने के बाद मीरां ने राजस्थान से बिदा ली, परन्तु उसने साहित्यिक एवं भक्ति-मार्ग की जिस परम्परा को प्रारम्भ किया था, वह आगे भी चलती रही। निरन्तर युद्ध, आक्रमण एवं अशान्ति के इस काल में मारवाड़ के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी स्थापत्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया। अपने बढ़ते हुए राज्य में महत्वपूर्ण स्थानों पर नए किले बनाना और पुरानों को सैनिक दृष्टि से सुदृढ़ करना ही मालदेव का एकमात्र उद्देश्य रहता था। कला-कौशल की ओर विशेष ध्यान देना संभव भी नहीं था। तदर्थ अत्यावश्यक रुचि एवं परिस्थितियों का वहाँ तब अभाव ही था।

२. मुग़ल-विजय काल (१५५८–१५७७ ई०)

मुग़ल तब भी मेवाड़ से दूर थे; परन्तु स्वयं शक्तिशाली होते हुए हुए भी राजस्थान में आई हुई मुग़ल सेनाओं का सामना करने का मालदेव को भी साहस नहीं हुआ। उनके प्रार्थना करने पर भी मालदेव ने जेतारण में नियुक्त उसके अपने अधिकारियों तक की सहायता नहीं की। अजमेर, जेतारण एवं उनके आस-पास के प्रदेशों पर मुग़लों

का अधिकार हो गया। आगे चल कर समूचे राजस्थान पर भी मुग़लों के एकाधिपत्य होने की संभावना की ओर राजस्थानी नरेशों का यत्किंचित् भी ध्यान नहीं गया। वे सब अपने-अपने व्यक्तिगत या राजकीय मामलों में ही उलझे रहे। सामरिक दृष्टि से चित्तोड़ के किले की अपेक्षा अधिक सुदृढ एवं सुरक्षित स्थान में अपनी भावी राजधानी स्थापित करने के हेतु सन् १५५९ ई० की ग्रीष्म ऋतु में मेवाड़ के राणा उदयसिंह ने उदयपुर नगर में स्थित वर्तमान राजमहलों की नींव डाली और अपने नाम से उस नगर को बसाना प्रारंभ किया।

अजमेर और उसके आस-पास का जो भी प्रदेश इस समय तक मुग़लों के अधिकार में आगया था, शासन-प्रबन्ध के लिए वह सब मेवात के मुग़ल शासक मिर्ज़ा शरीफ़ुद्दीन हुसैन को जागीर में दे दिया गया। रणथम्भोर का क़िला तब भी सूर बादशाहों के ही पठान सेनानायक के अधिकार में था, एवं उसे जीतने के लिये अक्तूबर, १५५८ ई० से ही प्रयत्न होने लगे थे; ग्वालियर-विजय के बाद हबीब अली ख़ाँ को भी ससैन्य रणथम्भोर के विरुद्ध भेजा गया। कई महीनों के घेरे के बाद अपनी कठिनाइयों को बढ़ता देखकर अन्त में वहाँ के पठान क़िलेदार ने समुचित द्रव्य के बदले में यह सुदृढ़ किला सन् १५५९ ई० के अंतिम दिनों में बूंदी के शासक सुर्जन को सौंप दिया। अपनी सफलता अब और भी दुष्कर देख मुग़ल सेनानायक घेरा उठा कर वापस लौट गए, और सुर्जन ने आस-पास के परगनों को भी अपने अधिकार में कर लिया तथा उस क़िले को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिये प्रयत्नशील हुआ। तब तो सुर्जन को हरा कर रणथम्भोर जीतने का हुसेन ख़ाँ ने भी पुनः प्रयत्न किया, परन्तु इसी समय अकबर तथा उसके राज-अभिभावक बैराम ख़ाँ में अनबन हो जाने के कारण रणथम्भोर-विजय के प्रयत्न इस बार भी त्याग दिए गए।

अकबर अब वयस्क होकर साम्राज्य का शासन-प्रबन्ध स्वयं संभालने को इच्छुक हो रहा था, जिससे बैराम असंतुष्ट हो गया और अंत में विद्रोह कर बैठा । बैराम मेवात से चल कर नागोर होता हुआ बीकानेर पहुँचा और तब वहाँ से पंजाब की ओर चला गया । उसका पीछा करने के लिए भेजी गई सेना के साथ मुगल सेनानायक आदम ख़ाँ जून १३, १५६० ई० को नागोर पहुँचा, तथा नागोर एवं उसके आस-पास के सारे ही प्रदेश को जीत लिया । नागोर और उसके आस-पास का यह पूरा प्रदेश भी शरीफ़ुद्दीन हुसैन को जागीर में दे दिया गया ।

मेवात और अजमेर का शासक होने के नाते आम्बेर का कछवाहा राज्य भी शरीफ़ुद्दीन के ही अधिकार-क्षेत्र में पड़ता था । शरीफ़ुद्दीन आम्बेर नगर को राजा भारमल से छीन लेना चाहता था, एवं उसी के भतीजे सूजा के राज्याधिकार के प्रश्न को लेकर शरीफ़ुद्दीन ने सन् १५६१ ई० में आम्बेर पर चढ़ाई की, और उसके आदेशानुसार राजा भारमल के टाँका दे देने पर इस बार तो शरीफ़ुद्दीन वापस अजमेर को लौट गया, परन्तु अगले वर्ष उसके पुनः आक्रमण करने की आशंका से त्रस्त राजा भारमल जंगल-पूर्ण पहाड़ियों में आश्रय लेने की सोचता रहा । भारमल के सौभाग्य से जनवरी, १५६२ ई० में अकबर तीर्थ-यात्रा करने के लिए अजमेर की ओर आया । तब मुग़ल राज्य का संरक्षण प्राप्त करने के लिए भारमल प्रयत्नशील हुआ । उसकी प्रार्थना स्वीकृत होते ही शाही दरबार में उपस्थित होने के लिए वह निमंत्रित किया गया । तब तो सांगानेर के पड़ाव पर पहुंच कर जनवरी २०, १५६२ ई० के लगभग उसने अकबर की आधीनता स्वीकार की । उसी दिन से आम्बेर के कछवाहा राजघराने का भाग्य-सितारा चमक उठा, और कुछ ही युगों में भारमल के वंशज केवल राजस्थान में ही नहीं, परन्तु मुग़ल साम्राज्य के साथ ही समूचे भारत में भी अत्यधिक

महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली व्यक्ति बन गए। इस कठिन समय में मुग़ल शाही घराने का संरक्षण प्राप्त कर यही घराना सदियों तक बड़ी ही तत्परता एवं स्वामिभक्ति के साथ मुग़ल साम्राज्य की सेवा करता रहा। मुग़ल साम्राज्य के प्रमुख सेनानायक एवं विश्वस्त उच्चाधिकारी बन कर आम्बेर के राजाओं ने उस साम्राज्य की वृद्धि, उन्नति एवं समृद्धि में पूर्ण सहयोग दिया तथा औरंगज़ेब जैसे धर्मान्ध सम्राट् का साथ देने से भी वे नहीं हिचके।

अकबर की यह अजमेर-यात्रा राजस्थान के साथ ही मुग़ल साम्राज्य के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण तथा निर्णायक हुई। अजमेर की धार्मिक-महत्वपूर्ण प्रारंभिक विजय तथा नागोर की आकस्मिक सफलता के बाद इस बार मेड़ता-विजय (मार्च ७, १५६२ ई०) द्वारा राजस्थान पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने के लिए अकबर निश्चित-रूपेण प्रयत्नशील हुआ था। पुनः अजमेर से लौटते हुए सांभर में फरवरी ६, १५६२ ई० के लगभग भारमल की पुत्री के साथ स्वयं विवाह कर अकबर ने राजस्थान के राजपूत राजघरानों के साथ अत्यधिक निकट सम्बन्ध स्थापित करने की एक नई नीति प्रारंभ की। तदनन्तर अकबर ने स्वयं अनेक राजपूत राजकुमारियों के साथ विवाह किया, और समय आने पर अपने पुत्रों के लिए भी ऐसी ही वधुओं का आयोजन किया। अकबर के बाद भी कोई एक शताब्दी तक यह परंपरा थोड़ी बहुत बनी रही। आम्बेर के साथ ही साथ जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, आदि कई राजघरानों तथा उनके भाई-बेटों की पुत्रियाँ मुग़ल हरम में पहुँची।

परन्तु क्या अकबर की यह नीति ठीक थी? इस नीति के फलस्वरूप मुग़ल साम्राज्य के भावी उत्थान में कहाँ तक सहायता मिली? क्या इस नीति को अपनाए बिना मुग़ल साम्राज्य को राजस्थान के इन

राजपूत घरानों का वैसा ही सहयोग नहीं प्राप्त हो सकता था ? इस्लाम के प्रति शाहजहाँ का विशेष आग्रह एवं औरंगज़ेब की वह उत्कट धर्मान्धता किस हद तक अकबर की इस राजपूत-नीति की प्रतिक्रिया मात्र थी ? और क्या इस प्रतिक्रिया का यह बीजारोपण कर अकबर ने स्वयं ही मुग़ल साम्राज्य के पतन की भूमिका भी यों समुपस्थित नहीं कर दी थी ? मुग़ल साम्राज्ञियाँ बनकर ये राजपूत राजकुमारियाँ क्या किसी प्रकार साम्राज्य की नीति को प्रभावित कर सकीं ? पुनः मुग़ल साम्राज्य के अस्तित्व के फलस्वरूप भारत में उत्पन्न होने वाली नई सम्मिश्रित हिन्दू-मुस्लिम सभ्यता के विकास में इन राजस्थानी राज-कन्याओं का क्या हाथ था ? इन उपर्युक्त तथा इसी प्रकार के तत्सम्बन्धी अनेकानेक प्रश्नों का उत्तर देते समय विभिन्न इतिहासकारों में पूर्णतया मतैक्य होना संभव नहीं तथापि अपने सशक्त विजेताओं के प्रति राजस्थानी राजघरानों के इस आत्म-समर्पण का यत्किंचित् भी समर्थन नहीं किया जा सकता है। अपने वंशजों से कभी भी ऐसी मांग नहीं किए जाने का वादा रणथंभोर का किला देते समय ही राव सुर्जन ने अकबर से करवाया था। मेवाड़ का राणा प्रताप, उसके वंशज एवं उनके अधीन राजपूत राजघराने मुग़लों के विरोधी बने रह कर शाही दरबार की इस दलदल से दूर ही रहे। आपसी फूट और पारस्परिक द्वेष से असम्बद्ध राजस्थान में आंतरिक विरोध का अब यह एक नया कारण उत्पन्न हो गया था। मुग़ल शाही घराने के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने वाले राजघरानों का सामाजिक एवं नैतिक बहिष्कार किया जाने लगा, जिसका राजस्थान तथा मुग़ल साम्राज्य के इतिहास पर स्थायी प्रभाव पड़ा। औरंगज़ेब की मृत्यु के बाद पतनोन्मुख साम्राज्य का साथ छोड़ कर जब ये ही विरोधी तिरस्कृत राजघराने पुनः मेवाड़ के साथ वैवाहिक

सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हुए तब शक्तिहीन मेवाड़ अपने राजघराने के इस नैतिक महत्व को स्पष्टरूपेण प्रमाणित करने के लिए अत्यधिक उत्सुक हो उठा, और मेवाड़ की उस अदूरदर्शिता के कारण ही तब भी राजस्थान पारस्परिक भेद-भाव तथा आंतरिक विरोध के उस विषम-चक्कर से नहीं निकल सका।

ऐसे वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने के अतिरिक्त अकबर की राजपूत नीति का एक दूसरा अंग था, उसकी आधीनता स्वीकार कर लेने वाले राजपूत नरेशों के भाई-बेटों तथा उनके अन्य निकट सम्बन्धियों को भी अपनाना। इस अजमेर-यात्रा से लौटते समय राजा भारमल के पुत्र राजा भगवानदास, पौत्र कुंवर मानसिंह एवं उसके अन्य सगे-संबन्धियों को अपने साथ लेता गया। इसी तरह अपनाए गए राजपूत वीरों में से उसने अपने अंग-रक्षक चुने और ऐसे उत्कट योद्धाओं के दल वह जुटा सका, जिनके साहस और स्वामिनिष्ठा को भयंकर से भयंकर आपत्ति तथा बड़े से बड़े प्रलोभन भी नहीं डिगा सकते थे। जब राजस्थान के शक्तिशाली राजपूत राजघराने मुग़ल साम्राज्य के पृष्ठपोषक तथा स्थायी सुदृढ़ आधार-स्तम्भ बन गए, तब उन्हीं में से सुयोग्य व्यक्तियों को चुन कर अकबर तथा उसके उत्तराधिकारियों ने उन्हें शाही मनसब तथा उपयुक्त पद दिए। इस प्रकार मुग़ल सम्राटों ने मुग़ल साम्राज्य के लिए अनेकों अत्यावश्यक विश्वासपात्र अधिकारी, सुयोग्य शासक, विश्वस्त सलाहकार तथा वीर साहसी सेनानायक इन्हीं राजस्थानी वीरों में से ढूंढ निकाले, और तब उन राजस्थानी नर-पुंगवों की जीवनियाँ मुग़ल साम्राज्य के राजनैतिक तथा सामरिक इतिहास के अनुपेक्षणीय अविभाज्य अध्याय बन गईं। परन्तु राजस्थान से बाहर की उनकी इन कार्यवाहियों से राजस्थान का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होने के कारण यहाँ उनका कुछ भी उल्लेख करना सर्वथा

असंगत होगा ।

मेड़ता-विजय के बाद यह नया जीता हुआ प्रदेश भी अजमेर और मेवात के शासक शरीफ़ुद्दीन को सौंप दिया गया । तब उसके सहायक के रूप में मेड़ता का पिछला शासक जयमल पुनः वहाँ का अधिकारी बना । परन्तु मेड़ता पर उसका यह परेच्छाधीन अधिकार कोई एक साल भर से अधिक नहीं रह पाया । अक्तूबर, १५६२ ई० में शरीफ़ुद्दीन के शाही आज्ञा बिना ही आगरा से लौट आने पर अकबर ने उसकी सारी जागीर हुसैन कुली को दे दी, जिसने शरीफ़ुद्दीन का ससैन्य पीछा कर उसे नागोर, अजमेर और अन्त में जालोर से भी निकाल बाहर किया । तब शरीफ़ुद्दीन द्वारा नियुक्त जयमल के अधिकार से भी मेड़ता का किला ले लिया गया । अब जयमल को शाही दरबार से कोई आशा नहीं रह गई थी, एवं वह मेवाड़ के राणा उदयसिंह के पास चला गया, तथा उसकी सेवा स्वीकार कर ली ।

पूरे तीस वर्ष तक शासन करने के बाद जब नवम्बर ७, १५६२ ई० को मालदेव की मृत्यु हुई, तब जोधपुर में भी उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर आपसी फूट और पारस्परिक झगड़े उठ खड़े हुए । अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को मालदेव ने सन् १५४७ ई० में ही निर्वासित कर दिया था । दूसरे पुत्र उदयसिंह को फलौदी की जागीर दे दी गई तथा उससे भी छोटे पुत्र चन्द्रसेन को अपना उत्तराधिकारी बनाया । अतएव गद्दी पर बैठते ही जब चन्द्रसेन ने अपने सरदारों को असंतुष्ट कर दिया तब चन्द्रसेन के विरोधियों ने राम और उदयसिंह को उकसाया । पारस्परिक युद्ध में सफलता नहीं मिलने पर उदयसिंह तो फलौदी जाकर स्वाधीन बन बैठा । चन्द्रसेन से सोजत का परगना पाकर भी जब राम को संतोष नहीं हुआ, तब वह अजमेर के नए मुग़ल शासक हुसैन कुली के पास पहुँचा और उसने अकबर की आधीनता स्वीकार कर

ली, तब तो सोजत का परगना उसकी ही जागीर में रहने दिया गया। इन भाइयों की इस फूट से लाभ उठाकर दिसम्बर, १५६३ ई० के लगभग हुसैन कुली ने जोधपुर पर चढ़ाई की। मुग़ल सेना का विरोध कठिन जान चन्द्रसेन जोधपुर छोड़ कर चला गया और संभवतः जनवरी, १५६४ ई० में जोधपुर पर मुग़लों का अधिकार हो गया। सन् १५८३ई० में उदयसिंह को मारवाड़ राज्य मिलने तक जोधपुर का किला तथा वह सारा परगना मुग़लों के ही अधिकार में रहे। दक्षिणी मारवाड़ पर तब भी चन्द्रसेन का ही अधिकार था, एवं जोधपुर से वह भाद्राजूण पहुँचा तथा वहीं रहकर वह अपने बचे-खुचे राज्य पर शासन करता रहा।

अनेकानेक छोटे-बड़े उपद्रवों तथा विद्रोहों के होते हुए भी उत्तरी भारत में पंजाब से लेकर बिहार तक अकबर का साम्राज्य सुदृढ़ रूप से स्थापित हो चुका था। राजस्थान की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर स्थित मालवा प्रांत भी सन् १५६२ ई० के बाद पूर्णतया अकबर के आधीन हो गया था। राजस्थान में नागोर, जोधपुर, जेतारण, अजमेर और आम्बेर के उत्तर-पूर्व के सारे प्रदेश पर मुगलों का ही एकाधिपत्य था। जोधपुर खोने के बाद चन्द्रसेन की शक्ति बहुत ही क्षीण हो गई थी। अतएव अब समूचे राजस्थान में एकमात्र स्वाधीन शक्तिशाली शासक रह गया था मेवाड़ का राणा उदयसिंह। सिरोही राज्य में उत्तराधिकार सम्बन्धी कशमकश से लाभ उठा कर राणा उदयसिंह ने वहाँ के देवड़ा राजा मानसिंह से अपना आधिपत्य स्वीकार कराया था। रणथंभोर के सुदृढ किले पर अधिकार कर लेने के बाद बूंदी के हाड़ा राजघराने के प्रमुख राव सुर्जन की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, तथापि अब भी वह राणा उदयसिंह को ही अपना स्वामी मानता था। मालवा के अंतिम स्वाधीन सुलतान पराजित बाज़ बहादुर को आश्रय देने का

भी राणा उदयसिंह ने दुस्साहस किया था। चित्तोड़ के किले को जीते बिना मेवाड़ राज्य की शक्ति घटना असंभव था। पुनः चित्तोड़ के किले तथा उसके आस-पास के सारे पूर्वी-प्रदेश को जीत कर ही अजमेर से मालवा के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता था। अतएव चितोड़ पर चढ़ाई करने का निश्चय कर सितम्बर, १५६७ ई० में धौलपुर से रवाना हो शिवपुर और कोटा के किले को अधिकार में करता हुआ अक्तूबर २३, १५६७ ई० के दिन अकबर चित्तोड़ के किले के पास जा पहुँचा।

राणा उदयसिंह में अपने सुप्रसिद्ध वीर पिता राणा सांगा का सा न तो साहस था और न वैसी युद्ध-कुशलता ही। अतएव चित्तोड़ पर अकबर की चढ़ाई की सूचना मिलने पर उसके सरदारों तथा सेना-नायकों की सलाह मानकर इस बार भी वह सकुटुम्ब चित्तोड़ का किला छोड़कर चल दिया, और कुछ ही दिनों के लिए कांटों का राज-मुकुट पहिन कर चित्तोड़ की युद्ध-देवी की बलिवेदी पर अपना वह अभिसिंचित सिर चढ़ाने के लिए सीसोदिया-वंशीय दूसरा बाघा रावत इस बार मेवाड़ को नहीं मिला। सीसोदियों की उस परित्यक्ता राजधानी के संरक्षण का भार मेड़ता से निर्वासित वहाँ के अंतिम स्वाधीन शासक जयमल राठौड़ ने उठाया। राणा उदयसिंह के साथ ही साथ राजपूत स्वाधीनता के एकमात्र प्रतीक, त्याग और बलिदान के पुण्य-पवित्र तीर्थ, चित्तौड़ के उस ऐतिहासिक दुर्ग की वह चिरकालीन राज्यश्री भी वहाँ से सर्वदा के लिए बिदा हो गई।

चित्तोड़ छोड़ कर पश्चिम में पहाड़ों की ओर भागते हुए राणा उदयसिंह का पीछा न कर चितोड़ के किले को जीतना ही अकबर को अधिक महत्वपूर्ण तथा आवश्यक जान पड़ा। और चित्तौड़-विजय को लेकर जो कुछ भी वहाँ हुआ वह इतना सुज्ञात है कि उसे यहाँ दुहराना

अनावश्यक होगा। जयमल की अनुकरणीय जागरूकतापूर्ण तत्परता एवं सुदृढ़ कर्तव्यनिष्ठा, और पत्ता की साहसपूर्ण अद्वितीय वीरता को उनके कट्टर शत्रु अकबर तक ने श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया। चित्तोड़ में तीसरी तथा अन्तिम बार जौहर हुआ (फरवरी २३, १५६८)। दूसरे दिन सारे राजपूत कट मरे और तब ही कहीं चितोड़ पर अकबर का अधिकार हो पाया। माण्डलगढ़ पहिले ही जीता जा चुका था। चित्तोड़ और उसके आसपास का यह सारा प्रदेश आसफ़ ख़ाँ को सौंप कर कुछ ही दिनों बाद अकबर अजमेर होता हुआ आगरा को लौट गया। चित्तोड़ किले के साके के समय हुसैन कुली ख़ाँ ससैन्य उदयपुर और कुंभलमेर की तरफ गया था, तथा वहाँ लूट-पाट भी की थी, परन्तु उस प्रदेश पर मुग़लों का अधिकार नहीं हो पाया। अकबर के चित्तोड़ से चले जाने बाद उदयसिंह उदयपुर को लौट आया, तथा अपनी इस नई राजधानी को सुसज्जित करने तथा सुरक्षित बनाने के लिए प्रयत्नशील हुआ।

रणथंभोर के सुदृढ़ दुर्ग को जीते बिना चित्तोड़ की यह विजय सर्वथा अपूर्ण ही थी, एवं अवकाश मिलते ही सन् १५६८ ई० के अन्तिम दिनों में अकबर ने रणथंभोर पर चढाई कर दी। फरवरी, १५६९ ई० के प्रारंभ में वहाँ पहुँच कर अकबर ने उस किले का घेरा डाला। डेढ़ माह तक घेरा चलने के बाद आम्बेर के कछवाहा राजा भगवानदास तथा कुँअर मानसिंह, आदि के बीच में पड़ने पर राव हाड़ा सुर्जन ने आत्म-समर्पण कर दिया। अकबर की आधीनता स्वीकार कर मार्च २१, १५६९ ई० को वह स्वयं शाही दरबार में पहुँचा तथा तीन दिन बाद अपने कुटुम्ब और माल-असबाब के साथ राव सुर्जन बाहर निकल आया, एवं रणथंभोर का वह ऐतिहासिक दुर्ग अकबर के मुग़ल अधिकारियों को सौंप दिया गया। मेवाड़ के राजघराने के साथ हाड़ा

राजघराने के उस सदियों पुराने सम्बन्ध का यों अन्त हो गया। उधर सुर्जन की चाही कुछ शर्तों को स्वीकार कर अकबर ने इन हाड़ा वीरों को भी शाही मुग़ल घराने का प्रबल समर्थक बना दिया।

रणथंभोर-विजय के बाद अकबर अजमेर होता हुआ आगरा को लौटा। अजमेर के ख़्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की क़ब्र पर ज़ियारत करने के लिए अकबर इन वर्षों में वहाँ बार बार आता था। नवम्बर, १५७० ई० में अजमेर की ऐसी ही तीर्थ-यात्रा के बाद अकबर वहाँ से सीधा नागोर गया। मारवाड़ के राव चन्द्रसेन, उसी के बड़े भाई फलौदी के शासक उदयसिंह, एवं बीकानेर के राव कल्याणमल ने अपने उत्तराधिकारी कुंअर रायसिंह के साथ इस समय नागोर पहुँच कर अकबर की आधीनता स्वीकार की। जैसलमेर का रावल हरराज स्वयं तो शाही दरबार में नहीं आया, परन्तु उपयुक्त प्रतिनिधि भेजकर उसने भी अपने आधीनता स्वीकार करने का संदेशा भिजवा दिया। चन्द्रसेन को आशा थी कि उसके आधीनता स्वीकार करते ही जोधपुर का परगना उसे दे दिया जावेगा, परन्तु जब उसकी यह आशा पूर्ण न हुई तब अपने ज्येष्ठ पुत्र रायसिंह को अकबर की सेवा में ही छोड़ कर वह स्वयं नागोर से लौट गया। चन्द्रसेन का यह बर्ताव अकबर को बहुत रुचिकर नहीं हुआ, एवं अकबर के नागोर से चले जाने के बाद अजमेर के तत्कालीन मुग़ल सूबेदार ख़ान कलाँ ने चन्द्रसेन के विरुद्ध भाद्राजूण पर चढ़ाई की; तब फरवरी १७, १५७१ ई० को चन्द्रसेन भाद्राजूण भी छोड़कर सिवाणा की पहाड़ियों में चला गया और भाद्राजूण पर मुग़लों का अधिकार हो गया। मुग़लों के साथ चन्द्रसेन का यह विरोध उसकी मृत्यु-पर्यन्त चलता ही रहा। किन्तु मुग़लों के साथ चन्द्रसेन के इस विरोध के होते हुए भी उसका उत्तराधिकारी रायसिंह तो निरन्तर अकबर ही की सेवा में बना रहा।

कोई पैंतीस वर्ष के गौरव-विहीन विफलतापूर्ण शासन के बाद फरवरी २८, १५७२ ई० को मेवाड़ के राणा उदयसिंह की गोगुंदा में मृत्यु हो गई । उदयसिंह ने अपने ज्येष्ठ पुत्र प्रतापसिंह को अधिकार-च्युत कर अपनी प्रिय भटयाणी राणी के पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था, परन्तु उदयसिंह की मृत्यु के बाद मेवाड़ के सरदारों ने जगमाल को राज्य-विमुख कर प्रतापसिंह को ही मेवाड़ की गद्दी पर बैठाया । राज्यारूढ़ होते ही राणा प्रताप ने स्पष्टतया मुग़ल-विरोधी नीति अंगीकार की, और यों मेवाड़ के ही नहीं राजस्थान के इतिहास में भी एक महत्वपूर्ण परम स्फूर्तिदायक अध्याय का प्रारम्भ हुआ, जो कठोर पराधीनता के गहरे निराशापूर्ण दुःखमय दिनों में राजस्थान के साथ ही समूचे भारत तक को स्वाधीनता के लिए सर्वस्व बलिदान कर उसकी निरन्तर अडिग साधना का पाठ पढ़ाता रहा । उधर मेवाड़ के सरदारों तथा उनके नए शासक प्रताप से रुष्ट होकर अधिकारच्युत जगमाल अकबर की कृपा का प्रार्थी हुआ, तथा जहाज़पुर परगना जागीर में पाकर शाही सेना में मनसबदार बन गया ।

उत्तरी एवं पूर्वी राजस्थान पर पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर तथा चन्द्रसेन को शक्तिहीन बना जुलाई, १५७२ ई० में अकबर ने गुजरात प्रान्त को जीतने के लिये वहाँ चढ़ाई करने का दृढ़ निश्चय किया । तदर्थ अहमदाबाद जाने को मुग़ल सेनाएँ अजमेर से सिरोही की ओर बढ़ीं । इस समय भी राव मानसिंह देवड़ा सिरोही का शासक था; अपने दूत भेज कर उसने तो अकबर की आधीनता स्वीकार कर ली (सितम्बर, १५७२ ई०), परन्तु सिरोही के कई राजपूत इस तरह आसानी से झुकने वाले न थे; मुग़ल सेना के हरावल के सेनानायक ख़ान कलाँ की हत्या करने का उन्होंने प्रयत्न किया तथा अकबर

के सिरोही पहुँचने पर उसका भी सामना करते हुए अनेकों मारे गए। अजमेर-अहमदाबाद के इस सैनिक मार्ग को सिरोही के ऐसे विरोधियों तथा राणा प्रताप आदि अन्य आक्रमणकारियों से सुरक्षित करना गुजरात की इस चढ़ाई को सफल बनाने के लिये अत्यावश्यक था, अतएव अक्तूबर ३०, १५७२ ई० के लगभग अपने विश्वस्त सेनानायक बीकानेर के शासक राय रायसिंह को जोधपुर सरकार का मुग़ल अधिकारी नियुक्त कर अकबर ने गुजरात की इस राह को खुला रखने का भार भी उसे ही सौंप दिया। तब अकबर के नेतृत्व में मुग़ल सेनाएँ गुजरात की ओर चल पड़ीं।

गुजरात-विजय में अकबर को विशेष कठिनाई नहीं हुई; वहाँ के सुलतान मुजफ़्फ़र शाह ने प्रारम्भ में ही आत्म-समर्पण कर दिया। परन्तु उस प्रान्त पर अपना अधिकार सुदृढ़ बना कर उसका शासन-प्रबन्ध संगठित करते समय अकबर का पुराना विरोधी चचेरा भाई मिर्ज़ा इब्राहिम हुसैन, जो इस समय भड़ोंच में था, विद्रोही हो उठा। अकबर के हाथों सरनाल के युद्ध में दिसम्बर २२, १५७२ ई० की रात को पराजित हो कर इब्राहिम हुसैन ईडर, जालोर और जोधपुर होता हुआ नागोर पहुँचा। राजस्थान में राय रायसिंह और उसके अन्य साथी सेनानायकों ने भी उसका पीछा करते हुए नागोर से आगे कोई ४० मील पूर्व में इब्राहिम हुसैन को जा मिलाया (जनवरी ७, १५७३ ई०), और उसी रात इन मुग़ल सेनानायकों के हाथों पराजित हो इब्राहिम हुसैन राजस्थान छोड़ कर दिल्ली की ओर भाग गया।

गुजरात प्रान्त का समुचित शासन-प्रबन्ध कर अकबर अप्रेल, १५७३ ई० में सिरोही और अजमेर होता हुआ सीधा फतेहपुर सीकरी को लौट आया। परन्तु कुँअर मानसिंह कछवाहा तथा अन्य मुग़ल

सेनानायकों ने ईडर की राह डूंगरपुर पर चढ़ाई की तथा बीलपण गाँव के पास अप्रेल १८, १५७३ ई० को डूंगरपुर के शासक रावल आसकरण को पूर्णतया पराजित कर वहाँ से वे उदयपुर पहुँचे। राणा प्रताप से भेंट कर मानसिंह ने उसे शाही दरबार में चलने को कहा तथा अकबर के विशेष आदेशानुसार अनेकों तरह से उसे समझाया-बुझाया। परन्तु निश्चितरूपेण इन्कार नहीं करते हुए भी राणा प्रताप कुँअर मानसिंह के साथ अकबर के दरबार में नहीं गया*।

राजधानी पहुँचने के कोई ढाई माह बाद ही वहाँ के विद्रोह को दबाने के लिये अकबर को पुनः गुजरात जाना पड़ा। सीकरी से रवाना होकर अविश्वसनीय तेज़ी के साथ केवल ग्यारह ही दिन में अजमेर, जालोर और सिरोही होता हुआ वह अहमदाबाद पहुँचा, तथा वहाँ उसने आश्चर्य-चकित विद्रोहियों को बुरी तरह हराया (सितम्बर २, १५७३ ई०)। गुजरात की सुव्यवस्था कर अकबर तो सीधा ही वापस सीकरी लौट गया, परन्तु उसके आदेशानुसार इस बार राजा भगवानदास कछवाहा ईडर की राह मेवाड़ पहुँचा। राणा प्रताप इन दिनों उदयपुर से कोई १६ मील उत्तर-पश्चिम

---

* इसी अवसर पर उदय सागर की पाल पर राणा प्रताप के कुँअर मानसिंह से मिलने और भोजन के अवसर पर विरस होने के फलस्वरूप क्रुद्ध मानसिंह के शाही दरबार में लौट कर बरसों बाद हल्दीघाटी के युद्ध में उसका बदला लेने का जो अतिरंजित विवरण टाड ने दंतकथाओं तथा युगों बाद लिखित ख्यातों के आधार पर दिया है, सुप्रमाणित ऐतिहासिक घटनावली द्वारा किसी भी प्रकार उसका समर्थन नहीं किया जा सकता है। अनेकों युगों बाद प्रचलित होने वाली राणा प्रताप सम्बन्धी अनेकानेक कल्पनापूर्ण कथाओं में ही इसकी भी गणना होनी चाहिये।

में गोगुन्दा नामक स्थान पर रहता था, एवं वहीं जाकर भगवानदास उससे मिला। राणा प्रताप स्वयं अकबर के दरबार में जाने को किसी भी तरह तैयार न था, परन्तु इस बार कुछ न कुछ करना आवश्यक जान उसने अपने चौदह-वर्षीय पुत्र, कुँअर अमर को राजा भगवानदास के साथ फतेहपुर सीकरी भेज दिया। राणा प्रताप को अकबर की पूरी सैनिक शक्ति का ठीक पता था, एवं अकबर की ओर से सैनिक चढ़ाई द्वारा विशेष रूपेण दबाव न पड़ने तक वह खुल कर मुग़ल सत्ता का विरोध करने को तत्पर नहीं था। अतएव स्वयं मुग़ल दरबार में जाने से सुस्पष्ट शब्दों में इन्कार न कर मीठी-मीठी बातों तथा दूसरे ऊपरी दिखावे द्वारा ही वह इन अवसरों को टालने का प्रयत्न करता रहा। परन्तु उधर कुँअर अमरसिंह को अपने दरबार में देख कर भी अकबर को संतोष नहीं हुआ। कुछ ही दिनों बाद अकबर ने उसे वापस मेवाड़ भेज दिया। इस समय अकबर पूर्वी भारत में बिहार, बंगाल आदि प्रान्तों को जीतने के लिये उत्सुक हो रहा था, अतएव राणा प्रताप के इस दुराग्रहपूर्ण बर्ताव की तब उसने उपेक्षा ही की।

परन्तु मारवाड़ के विद्रोही राव चन्द्रसेन राठौड़ के प्रति अकबर ने दूसरी ही नीति काम में ली। तब सिवाणा ही चन्द्रसेन की राजधानी था, एवं चन्द्रसेन ने वहाँ के किले को बहुत ही सुदृढ़ बना दिया था। सिवाणा के इस किले को जीतने के लिए मार्च, १५७४ ई० में अकबर ने शाही सेना भेजी। किले की सुरक्षा का भार पत्ता राठौड़ को सोंप कर चन्द्रसेन स्वयं पीपलोद की ओर चला गया। अब शाही सेना ने सिवाणा के किले को जा घेरा, और यह घेरा थोड़ा-बहुत कोई दो वर्ष तक चलता ही रहा। उधर चन्द्रसेन भी दक्षिणी मारवाड़ में यत्र-तंत्र लूट-मार तथा उपद्रव करता रहता था; एक बार तो वह

जोधपुर के पास तक भी पहुँच गया। उसको दबाने के लिये भेजी गई शाही सेनाओं को भी कोई विशेष सफलता नहीं मिल रही थी। अतएव सन् १५७६ ई० के प्रारम्भ में अकबर ने अपने विश्वस्त सेना-नायक शाहबाज़ ख़ाँ को मारवाड़ भेजा। उसने दुनाड़ा के पास राठौड़ों की एक बड़ी सेना को पूर्णतया पराजित किया और तब सिवाणा के घेरे को दृढ़ता के साथ चलाया। अब किले को अधिक समय तक अपने अधिकार में रखना असम्भव जान मार्च, १५७६ ई० के अन्तिम दिनो में पत्ता राठौड़ ने उसे शाहबाज़ ख़ाँ को सौंप दिया। दुनाड़ा की पराजय के बाद चन्द्रसेन का मारवाड़ में रहना भी असम्भव हो गया, एवं अपने जीवन के अगले चार वर्ष (१५७५-१५८० ई०) उसने सिरोही और बागड़ के दुरूह पहाड़ों और जंगलों में ही बिताए।

सुनीम ख़ाँ द्वारा जीते हुए बंगाल प्रान्त का शासन उसकी मृत्यु के बाद ख़ान-इ-जहाँ को नवम्बर, १५७५ ई० में सौंप कर अकबर उस ओर से बहुत कुछ निश्चिन्त हो गया था। पुनः इन पिछले दो वर्षों तक उसके प्रति दिखाई गई उपेक्षा के बाद भी अब तक मुग़ल राज्य के प्रति राणा प्रताप की भावनाओं में यत्किंचित भी परिवर्तन नहीं हुआ था। अतएव इस बार मेवाड़ पर चढ़ाई कर राणा प्रताप के विरुद्ध समुचित कार्यवाही करने का दृढ़ निश्चय कर मार्च, १५७६ ई० के दूसरे सप्ताह में अकबर ससैन्य अजमेर पहुँचा। अकबर ने कुँअर मानसिंह कछवाहा को मेवाड़ के विरुद्ध भेजी जाने वाली इस सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त किया, और अनेकानेक वीर योद्धा सेनानायकों के साथ एक बड़ी सेना लेकर मानसिंह अप्रेल २, १५७६ ई० को अजमेर से चल पड़ा। मेवाड़ पर इस चढ़ाई का यह सब प्रबन्ध कर अकबर अप्रेल २० को वापस राजधानी को लौट गया। उधर मानसिंह अजमेर

से चल कर ससैन्य माण्डलगढ़ पहुँचा और कुछ समय तक वहाँ ठहरा रहा। अकबर को कुछ ऐसी आशा थी कि मेवाड़ पर सैनिक चढ़ाई का आयोजन देख कर संभवतः राणा प्रताप आधीनता स्वीकार कर लेगा, और बहुत करके इस उद्देश्य से भी मानसिंह के कुछ दिन माण्डलगढ़ ठहरने का प्रारम्भ में ही निश्चय किया गया था। परन्तु मानसिंह की इस चढ़ाई का राणा प्रताप पर सर्वथा विपरीत प्रभाव पड़ा। शाही सेना का युद्ध-क्षेत्र में सामना करने को वह तत्पर होगया। मानसिंह की सैनिक शक्ति को उपेक्षणीय समझ कर एक बार तो राणा प्रताप माण्डलगढ़ तक जा वहाँ ही मानसिंह पर आक्रमण करने की सोचने लगा था, परन्तु अन्त में अपने सरदारों की सलाह मान कर उसने मेवाड़ के उन सुविख्यात पहाड़ों से बाहर नहीं निकलना ही ठीक समझा।

इन दिनों राणा प्रताप प्रायः उदयपुर से भी कोई १६ मील आगे उत्तर-पश्चिम में पहाड़ों से पूर्णतया घिरे हुए गोगुन्दा नामक स्थान में रहता था। अतएव मई माह के अन्तिम दिनों में मांडलगढ़ से चल कर मोही गाँव होता हुआ मानसिंह उत्तर-पूर्व की ओर से गोगुन्दा को जाने वाली हल्दीघाटी के उत्तरी छोर से कोई ४-५ मील की दूरी पर बसे हुए खमनोर नामक गाँव के पास ससैन्य पहुँचा और जून १५, १५७६ ई० के लगभग वहाँ पड़ाव डाला। अब शत्रु को अधिक आगे बढ़ने देना अनुचित जान राणा प्रताप ने स्वयं मुग़ल सेना पर आक्रमण करने का निश्चय किया, और जून १८, १५७६ ई० के प्रातःकाल में हल्दीघाटी से निकल कर वह मुग़ल सेना की ओर बढ़ा। भारतीय इतिहास में चिरस्मरणीय हल्दीघाटी के उस सुविख्यात युद्ध का यों प्रारम्भ हुआ। इतिहासकार अल्बदौनी इस युद्ध में स्वयं उपस्थित था, एवं अपनी आँखों-देखे इस युद्ध का

ठीक ठीक वर्णन उसने सविस्तार लिखा है, जो किसी भी प्रकार सर्वथा एकपक्षीय नहीं कहा जा सकता। ऐतिहासिक दृष्टि से मान्य इस विवरण का ओझाजी ने अपने 'उदयपुर के इतिहास' में अविकल हिन्दी अनुवाद दिया है, जिसे यहाँ दुहराना अनावश्यक है।

युद्ध के प्रारम्भ में राणा प्रताप को बहुत कुछ सफलता मिली थी, परन्तु वह उसे किसी भी प्रकार स्थाई नहीं बना सका। मुग़ल सेना संख्या में बहुत अधिक थी, परन्तु उस ऊबड़-खाबड़ पहाड़ी-पूर्ण असम प्रदेश में उन्हें जान पर खेलने वाले मेवाड़ के अदम्य साहसी वीरों तथा मृत्यु से यत्किंचित् भी नहीं हिचकने वाले उनके जंगली भील साथियों का सामना करना पड़ा, अतएव इससे विशेष लाभ नहीं उठाया जा सकता था। राणा प्रताप में अतुलनीय साहस तथा अद्वितीय वीरता थी, परन्तु शतरंज के खेल की तरह बुद्धि-बल पर सामूहिक रूप से लड़े जाने वाले आधुनिक युद्धों में सेनापतित्व करने के उपयुक्त वह कदापि न था, क्योंकि वहाँ कठिन से कठिन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी स्थिर बुद्धि से अत्यावश्यक शीघ्रता के साथ पूरा सोच विचार कर अपनी सूझ-बूझ तथा सेना-संचालन के कौशल का पूर्ण उपयोग किये बिना अन्त में किसी न किसी प्रकार विजय प्राप्त कर ही लेना कदापि संभव नहीं हो सकता है। मुग़ल सेना पर आक्रमण करते समय राणा प्रताप ने न तो कोई सुनिश्चित व्यवस्था ही अपनाई थी, और न युद्ध-क्षेत्र पर अपनी सेना के विभिन्न दलों के संचालन में किसी भी प्रकार का पारस्परिक समन्वय बनाये रखने का कोई उपाय ही निर्धारित किया गया था कि उन सबके सामूहिक परिणामस्वरूप अन्त में शत्रु पर पूर्ण सफलता प्राप्त हो सके। घुड़-सवारों के दो सशक्त बड़े दलों द्वारा एक साथ ही विरोधी सेना पर प्रबल आक्रमण करना, और उनके ऐसे हमलों के प्रचण्ड आवेग को न सह सकने के फल-

स्वरूप शत्रु सेना के विशिष्ट भागों के भाग निकलने पर उनका पीछा करते जाने की पुरातन अनादृत आक्रमण-शैली का ही राणा प्रताप ने इस युद्ध में प्रयोग किया। किन्तु अपनी सेना के सारे ही विभिन्न दलों के साथ पूरा-पूरा सम्पर्क बनाए रख कर उनका ठीक तरह संचालन करते रहने वाले उत्कृष्ट सेनापति की सेना पर केवल ऐसे आवेगपूर्ण आक्रमण द्वारा ही युद्ध में पूर्ण विजय प्राप्त करना एक सर्वथा अनहोनी बात थी। विभिन्न योद्धाओं या सैनिक दलों के व्यक्तिगत रूपेण आशातीत वीरतापूर्ण युद्ध करने पर भी एक-दूसरे से पूर्णतया असम्बद्ध होने के कारण उनके द्वारा उस युद्ध के अन्तिम परिणाम में किसी भी प्रकार का परिवर्तन होने की आशा करना ही व्यर्थ था। अच्छा निशाना लगाने वाले अभ्यस्त घुड़-सवार योद्धाओं के विरुद्ध हाथियों द्वारा आक्रमण करने की निस्सारता हल्दीघाटी के इस युद्ध द्वारा एक और बार प्रमाणित हो गई। सामने से किये जाने वाले इस प्रचण्ड आक्रमण द्वारा ही इस युद्ध में पूर्ण सफलता प्राप्त करने की आशा से इस एक आक्रमण में ही राणा प्रताप ने अपनी बहुत कुछ सैनिक शक्ति लगा दी थी। न तो अपनी पृष्ठ-रक्षा के लिए ही उसने कोई सैनिक दल रखा था, और न आवश्यकता पड़ने पर सहायतार्थ अधिरक्षित विशेष सेना का ही कोई आयोजन किया गया था। अतएव आक्रमण के फलस्वरूप प्रारम्भ में प्राप्त सफलता को राणा प्रताप स्थायी नहीं बना सका, तथा आक्रमण के उस प्रारम्भिक आवेग को रुद्ध करने वाले विरोध को दबाने का भी राणा प्रताप की ओर से ठीक समय पर कोई आयोजन नहीं किया जा सका।

मध्याह्न तक युद्ध होता रहा। दोनों ही पक्षों के सैकड़ों सैनिक मारे गए। मेहतर ख़ाँ के अपनी सहायक सेना के साथ

चंदावल से निकल कर मानसिंह की सहायतार्थ आगे बढ़ने पर राणा प्रताप को युद्ध में विजय प्राप्त कर सकने की आशा ही न रही, और विवश होकर अपने रहे-सहे योद्धाओं के साथ उसे युद्ध-क्षेत्र छोड़ना पड़ा। इस भीषण युद्ध में मुग़ल सेना की भी ऐसी बुरी दुर्दशा हो गई थी कि राणा प्रताप तथा उसके साथियों का पीछा करने की न तो उसमें शक्ति ही रह गई थी और न वैसा करने का उसे साहस ही हुआ*। राणा प्रताप का सुविख्यात प्यारा घोड़ा चेटक युद्ध में बुरी तरह घायल हुआ था, एवं युद्ध-क्षेत्र से उस दिन लौटते समय राह में हल्दीघाटी से कोई दो मील दूर बलीचा नामक गाँव के निकट उसका देहान्त हो गया, जहाँ आज भी उसका स्मारक विद्यमान है। पराजित होने पर भी हल्दीघाटी के इस युद्ध ने राणा प्रताप की कीर्ति को अधिक समुज्ज्वल बना दिया, तथा राजस्थान की स्वाधीनता के एकमात्र क्रियात्मक समर्थक राणा प्रताप की पराजयपूर्ण स्मृति वाला वह युद्ध-क्षेत्र भी स्वतन्त्रता देवी की बलिवेदी पर मर मिटने वाले उन स्वामिभक्त देश-प्रेमी वीरों के पुनीत रुधिर से सींचा जाकर राजस्थान की थर्मापिली और समूचे

---

* मुग़ल सेना के साथ होते हुए भी राणा प्रताप का पीछा करने वाले अपने साथी मुग़ल सैनिकों को मार, 'नीले घोड़े के असवार' को अपना निजी घोड़ा दे उस कठिन घड़ी में शक्तिसिंह का अपने ज्येष्ठ भाई का यों सहायता करने का विवरण नाटकीय तत्वों से भरपूर तथा कवि की अनोखी कल्पनामय होते हुए भी विश्वसनीय नहीं माना जा सकता है। इस चढ़ाई के समय यदि शक्तिसिंह भी शाही सेना के साथ गया होता तो अबुल फ़जल आदि मुसलमान इतिहासकार मुग़ल सेना के साथ जाने वाले प्रमुख राजपूत सेनानायकों की सूची में उसके नाम का भी अवश्य ही विशेषरूपेण उल्लेख करते।

भारत के स्वाधीनता-प्रेमियों के लिये एक पुण्य पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया।

इस युद्ध के बाद राणा प्रताप गोगुन्दा को नहीं लौटा; कुँभलगढ़ के पास वाले घने जंगलपूर्ण दुरूह पहाड़ों में ही उसने शरण ली। युद्ध के दूसरे दिन युद्ध-क्षेत्र से आगे बढ़ कर मानसिंह ने गोगुन्दा पर अधिकार कर लिया और अपनी सेना के साथ उसने अगले तीन माह वहाँ ही बिताये; तथापि गोगुन्दा के आस-पास के पहाड़ी प्रदेश पर भी मुग़ल सेना अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर सकी, जिससे वहाँ रहते समय उसे अत्यधिक कठिनाइयों का निरन्तर सामना करना पड़ा। वर्षा ऋतु की समाप्ति पर सितम्बर २८, १५७६ ई० को जब अकबर अजमेर पहुँचा, तब मानसिंह भी ससैन्य गोगुन्दा से लौट कर वहाँ शाही दरबार में उपस्थित हो गया।

युद्ध में पराजित होने पर भी पश्चिमी मेवाड़ एवं उसके अन्य पड़ोसी प्रदेशों पर राणा प्रताप का प्रभाव अक्षुण्ण ही बना रहा। मेवाड़ की पश्चिमी सीमा पर लगे हुए अन्य राज्यों तथा गुजरात प्रान्त की ओर भी अपना आधिपत्य बढ़ाने के लिये राणा प्रताप के प्रयत्न करने की पूरी-पूरी संभावना थी। अतएव इस बार अजमेर पहुँचते ही अकबर तदर्थ पूरा-पूरा अत्यावश्यक आयोजन करने लगा। जालोर और सिरोही के राज्यों पर मुग़ल आधिपत्य अधिक सुदृढ़ बनाने के लिये अक्तूबर, १५७६ ई० के प्रारम्भ में राय रायसिंह, सैय्यद हाशिम ख़ाँ, आदि सेनानायकों को ससैन्य उनके विरुद्ध भेजा। जालोर के पठान शासक ताज ख़ाँ ने तो बिना किसी विरोध के आधीनता स्वीकार कर ली, परन्तु सिरोही का नया राव सुरताण देवड़ा यों आसानी से मानने वाला नहीं था, एवं सिरोही पर चढ़ाई कर सिरोही नगर के बाद फरवरी, १५७७ ई० माह में राय रायसिंह ने आबूगढ़ पर

भी अधिकार कर लिया। तब विवश होकर राव सुरताण को भी आत्म-समर्पण करना पड़ा।

शाही सेना के गोगुन्दा से लौटते ही उस प्रदेश में राणा प्रताप के आक्रमण होने लगे थे, एवं राजा भगवानदास, कुँअर मानसिंह, आदि को पहले ससैन्य गोगुन्दा भेज कर पीछे-पीछे अकबर स्वयं भी अजमेर से अक्तूबर १३, १५७६ ई० को गोगुन्दा की ओर चल पड़ा। मेवाड़ में शाही सेना के आने की सूचना मिलते ही राणा प्रताप जंगल-पूर्ण पहाड़ी प्रदेशों में जा पहुँचा, जहाँ प्रयत्न करने पर भी कोई उसका पता न पा सका। मोही नामक गाँव के पास कई दिनों तक ठहर कर अकबर उस प्रदेश की सुरक्षा की व्यवस्था करता रहा। तब नवम्बर २७ को वहाँ से रवाना होकर उदयपुर नगर के पास होता हुआ बाँसवाड़ा की ओर चला। अकबर की प्रबलता देख कर अब डूंगर-पुर के शासक रावल आसकरण तथा बाँसवाड़ा के रावल प्रताप ने भी उसकी आधीनता स्वीकार कर ली और शाही दरबार में उप-स्थित हो गये। उधर अकबर के मोही से ससैन्य रवाना होने के बाद उत्तरी मेवाड़ के समतल प्रदेशों पर पुनः राणा प्रताप के आक्रमण होने लगे थे, एवं उन्हें रोकने के लिए दिसम्बर २६, १५७६ ई० को अकबर ने राजा भगवानदास, कुँअर मानसिंह आदि को पुनः ससैन्य गोगुन्दा भेजा।

कुछ दिन बाँसवाड़ा ठहर कर जनवरी, १५७७ ई० में अकबर मालवा प्रान्त की ओर चला गया। आबूगढ़-विजय तथा सिरोही के राव सुरताण के आत्म-समर्पण के सुसमाचार फरवरी २७, १५७७ ई० को मालवा में ही अकबर के पास पहुँचे थे। कोई तीन माह मालवा में बिता कर अन्त में रणथंभोर की राह मई माह में वह वापस सीकरी को लौट गया। अकबर की इस मेवाड़-यात्रा की समाप्ति

के साथ ही राज स्थान के इतिहास में मुग़ल-विजय काल का भी अन्त हो जाता है। मेवाड़ में होकर अकबर के यों ससैन्य गुज़र जाने के बाद भी वहाँ स्थायी-रूपेण शान्ति स्थापित करने में मुग़ल सेना को अत्यावश्यक सफलता तक नहीं मिली। परन्तु अपनी इस मेवाड़-यात्रा से पूर्ण लाभ उठा क़र अकबर ने बाकी रहे दक्षिण-पश्चिमी राजस्थान पर भी अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया और यों उसने अपनी राज़स्थान-विजय को सब तरह सम्पूर्ण बना लिया था। राणा प्रताप के साथी-सहायकों को हरा कर या आतंकित कर अकबर ने उन्हें अपने आधीन कर लिया, जिससे अब राणा प्रताप की खुले तौर से सहायता करने वाला कोई भी नरेश राजस्थान में नहीं रहा, तथा उसका राज्य भी उत्तर में कुंभलगढ़ से लगा कर दक्षिण में ऋषभदेव से कुछ आगे तक और पूर्व में देबारी से लगा कर पश्चिम में सिरोही की सीमा तक ही सीमित हो गया। राणा प्रताप के इस संकुचित राज्य को छोड़ कर बाकी रहे समूचे राजस्थान पर अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर अकबर ने वहाँ के सारे ही नरेशों से अपनी आधीनता स्वीकार करवा ली थी; अनेकों नरेश या उनके भाई-बेटे शाही सेवा स्वीकार कर मुग़ल सेना में मनसबदार भी बन गए थे।

राजस्थानी राज्यों के लिये यह विषम संक्रांति काल था। मरु-भूमि में स्थित या दुर्गम पहाड़ों से पूर्णतया घिरे हुए सुदूर राज्यों को छोड़ क़र बाकी रहे सब ही राजस्थानी राज्यों को कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। मुग़ल विजेताओं का शक्तिपूर्ण प्रबल प्रवाह तथा उत्तराधिकार जैसे प्रश्नों के कारण प्रारम्भ होने वाली घरेलू फूट एवं आंतरिक विरोधों के फलस्वरूप इन राजस्थानी राज्यों की कठिनाइयाँ अत्यधिक उत्कट हो गईं। विभिन्न आक्रमणकारियों के आघातों को निरन्तर सहते-सहते मेवाड़ का प्राचीन राज्य अत्यधिक

निर्बल हो गया था, जिससे उसके बहुत बड़े भाग पर अधिकार करने में मुग़लों को कोई कठिनाई नहीं हुई, तथा एक-एक कर मेवाड़ की सारी राजधानियों पर विजेताओं का आधिपत्य हो जाने के कारण वहाँ का शासन-संगठन भी पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गया था। मालदेव का शक्तिशाली मारवाड़ राज्य तो उसकी मृत्यु के बाद ही विशृङ्खलित होने लगा था और राजस्थान पर मुगलों के बढ़ते हुए आधिपत्य से भी प्रारम्भ में इस प्रवृत्ति को उत्तेजना ही मिली थी। मालदेव के उत्तराधिकारी चन्द्रसेन से सिवाणा छीन लिये जाने के बाद एक बार तो मारवाड़ राज्य का सम्पूर्ण विनाश हो गया था, तथा मोटा राजा उदयसिंह की वहाँ नियुक्ति होने तक उस राज्य का भावी अस्तित्व तक पूर्णतया शंकापूर्ण ही बना रहा। उधर रणथंभोर का किला देकर राव सुर्जन ने बूंदी के अपने पैतृक राज्य के भावी स्थायित्व को सुनिश्चित बना लेने का प्रयत्न किया था, परन्तु अपने ज्येष्ठ पुत्र दूदा के साथ उठने वाले राव सुर्जन के विरोध से कुछ ही वर्षों बाद उस राज्य का भी अस्तित्व डाँवा-डोल हो गया था। इस काल के प्रारम्भ में शरीफ़ुद्दीन के हाथों आपत्तियों की अपनी कड़वी घूँट पीकर एवं तदन्तर अपनी जान पर खेल कर अनेकों बार अकबर की स्वामिभक्तिपूर्ण सेवाएँ करके भी कछवाहा राजा भगवानदास तथा कुँअर मानसिंह कई वर्षों तक अकबर का अडिग विश्वास नहीं प्राप्त कर सके, और राणा प्रताप के विरुद्ध उनकी सैनिक विफलताओं का कारण उस अकबर-विरोधी के प्रति उनके सजातीय पक्षपात की संभावना में ही ढूँढा जाने का प्रयत्न किया गया।

परन्तु विरोध, विश्रृङ्खलन एवं विनाश से पूर्ण इस संकट काल में ही राजस्थान के भावी पुनर्निर्माण का बीज भी बोया गया।

राजस्थान पर अकबर के बढ़ते हुए एकाधिपत्य के साथ धीरे धीरे आप ही आप राजस्थान सूबे का निर्माण होने लगा था, जो आगे चल कर अजमेर सूबे के रूप में पूर्णतया सुसंगठित किया गया। जिन-जिन राजस्थानी नरेशों, उनके भाई-बेटों या सगे-सम्बन्धियों ने अकबर की आधीनता स्वीकार कर ली थी, उन नरेशों या शासकों के प्रान्तीय शासन से सम्बद्ध होते हुए भी उनके अधिकार वाले प्रदेशों के आन्तरिक शासन-प्रबन्ध या वहाँ के अन्य निजी मामलों में प्रान्तीय मुग़ल अधिकारियों की ओर से किसी भी प्रकार का हस्ताक्षेप नहीं होता था। इस प्रकार विभिन्न स्थानीय शासकों के सारे प्रदेश को छोड़ने के बाद केवल अजमेर, नागोर और रणथंभोर की सरकारों में ही ऐसा बहुत-कुछ भाग बच जाता था, जो खालसा के रूप में पूर्णतया मुग़ल साम्राज्य के आधीन हो। अपने साम्राज्य के अन्य पुराने सूबों के साथ ही इन स्वतःशासित प्रदेशों को लेकर राजस्थान में भी अकबर राजस्व-शासन सम्बन्धी अनेकानेक नए प्रयोग करने लगा। माल की उपज के आधार पर ही लगान की दर को निश्चित करने का कुछ प्रयत्न सन् १५६६ ई० में किया गया था। परन्तु इससे भी संतुष्ट न रह कर कोई नौ वर्ष बाद अकबर ने खालसा प्रदेशों के माली प्रबन्ध में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। वहाँ के जो भी परगने किसी अधिकारी को जागीर के रूप में नहीं दिये जा चुके थे, उन सब का शासन-प्रबन्ध सीधे साम्राज्य के अधिकारियों द्वारा ही करवाने का आयोजन करने के उद्देश्य से उन प्रदेशों का नए सिरे से विभाजन किया गया, तथा प्रत्येक विभाग एक विशिष्ट अधिकारी को सौंपा गया, जो करोड़ी या आमिल कहलाता था। वहाँ की सारी धरती को माप कर उसके वर्गीकरण एवं उपज के आधार पर उसका निश्चित लगान नगद दामों में वसूल करने का भी नियम बनाया गया।

राजस्थान में अजमेर तथा नागोर के कुछ विशिष्ट भागों में भी तब यह नया प्रबन्ध चालू किया गया था। किन्तु यह प्रयोग भी सफल नहीं हो सका, अतएव कोई पाँच वर्ष बाद सन् १५८० ई० में उसका अन्त कर नई शासन-व्यवस्था प्रारम्भ की गई। करोड़ियों के लिये विशेष-रूपेण किए गये देश-विभागों का भी अन्त हो गया था, परन्तु माली अधिकारियों का यह नामकरण आगे भी बहुत समय तक प्रचलित ही रहा।

सन् १५६२ ई० में कछवाहा राजा भगवानदास, कुँअर मानसिंह, आदि के अकबर की सेवा स्वीकार करने के समय से ही राजस्थानी नरेशों तथा उनके वंशजों के मुग़ल दरबार में रह कर शाही मनसबदार बनने एवं साम्राज्य की सेवा करने की जो परम्परा तब प्रारम्भ हो गई थी, वह आगे भी बराबर चलती ही गई। अकबर की आधीनता स्वीकार कर साम्राज्य की सेवा करने वाले उन अनेकों राजस्थानी नरेशों को उनकी योग्यता, उनके सम्मान एवं मुग़ल साम्राज्य के प्रति उनकी भावना तथा सेवाओं के अनुसार उपयुक्त मनसब दिया जाकर समय-समय पर उसमें उचित वृद्धि भी होती रहती थी। परन्तु इस मनसबदारी संस्था का ठीक-ठीक संगठन करने का आयोजन सन् १५७३ ई० के अन्तिम महीनों में सोचा जाने लगा था, जो दो वर्ष बाद ही कार्यान्वित हो सका। तब साम्राज्य के सारे पदाधिकारियों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त कर उनका समुचित अनुक्रम निश्चित किया गया। मनसबदारों की विभिन्न पद-श्रेणियाँ के अनुसार उनके सैनिकों की संख्या तय कर तदर्थ समुचित आय का प्रबन्ध किया गया। मनसबदारों के लिये विस्तृत नियमावलियाँ बनाई गईं जिनमें समय-समय पर आवश्यकतानुसार संशोधन किये जाते रहे। शाही सेवा के लिये विभिन्न मनसबदारों द्वारा रखे जाने वाले घोड़ों की

पहिचान आदि के हेतु उनको दागने की प्रथा भी इसी समय प्रचलित की गई । अकबर के अनेकों प्रमुख मुसलमान सेनानायकों ने भी इस प्रथा का डट कर विरोध किया । यद्यपि इन नियमों का कभी भी कड़ाई के साथ पालन नहीं किया जा सका, यह प्रथा बराबर बनी रही। राजस्थानी नरेशों को तो वह अत्यधिक अरुचिकर थी । उनकी पराधीनता की यह सुस्पष्ट अमिट छाप उन्हें तथा राजस्थान की जनता को सदैव खटकती रही । इसी कारण राणा प्रताप की प्रशंसा में बनाए गए सारे मुग़ल-कालीन राजस्थानी काव्य में उसके 'अणदागल असवार' होने को विशेष महत्व दिया गया है ।

राजस्थानी राज्यों तथा उनके शासकों के साथ ही राजस्थान की जनता के लिए भी यह काल विषम कठिनाइयों वाला था । अब तक वहाँ मुग़लों की सर्वोपरी सत्ता स्थापित नहीं हो सकी थी, अतएव स्थानीय राज्यों के आन्तरिक गृह-कलह , विशृङ्खलन एवं विनाश के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अराजकता के कारण राजस्थान की आर्थिक परिस्थिति बहुत ही बिगड़ गई। मुग़लों द्वारा जीते जाने पर भी अब तक गुजरात प्रान्त एवं वहाँ जाने वाले व्यापार-मार्गों की परिस्थिति डाँवा-डोल ही थी, जिससे राजस्थान के व्यापार को बड़ा धक्का लगा । इस हानि की बहुत-कुछ पूर्ति अकबर के प्रायः अजमेर आने एवं उसके फलस्वरूप स्थानीय उद्योग-धंधों को शाही दरबार से प्राप्त होने वाले प्रोत्साहन से हो जाती थी ।

इस काल में राजस्थान पर होने वाले आक्रमणों तथा वहाँ निरन्तर चलने वाले युद्धों का प्रभाव वहाँ के साहित्य, कला, आदि सांस्कृतिक क्षेत्रों पर भी पड़े बिना नहीं रहा । इनकी प्रगति वहाँ प्रायः रुद्ध ही रही । यद्यपि मीरां के बाद अग्रदास ने उसकी साहित्यिक परम्परा को चलाए जाने का प्रयत्न किया था, साहित्यिक दृष्टि से यह काल

राजस्थान के लिए सर्वथा महत्वहीन ही रहा। कला के क्षेत्र में भी इस काल में कोई विशेष प्रगति नही हुई। मालदेव ने अपने विस्तृत राज्य में अनेकों महत्वपूर्ण स्थानों पर नए किले या परकोटे बनवाए थे, और उनका निर्माण करते समय बारूद से चलने वाली बन्दूक-तोपों की मार का भी सामना करने के लिए अत्यावश्यक बातों का बहुत-कुछ ध्यान रखा गया था। परन्तु स्थापत्य कला की यह प्रगतिशील प्रवृत्ति राजस्थान में अन्यत्र पूर्णतया उपेक्षित ही रही, और मालदेव के बाद इसको अधिक विकसित कर सकने वाला तो कुछ समय तक मारवाड़ में भी नहीं रह गया था।

राजस्थान के राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन में इस प्रकार राजनैतिक कारणों के फलस्वरूप जो उत्कट गतिरोध उत्पन्न होगया था, इस मुग़ल-विजय काल की समाप्ति के बाद वह भी बड़ी तेज़ी के साथ दूर होने लगा। मेवाड़ के कुछ भाग को छोड़ कर बाक़ी रहे समूचे राजस्थान पर मुग़ल साम्राज्य की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना का वहाँ के सारे ही विभिन्न राज्यों की राजनैतिक तथा सांस्कृतिक विचारधाराओं पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ने लगा, जिससे राजस्थान में पुनः नवजीवन के अंकुर फूटने लगे तथा एक नवीन सम्मिश्रित राजस्थानी संस्कृति का उद्भव हुआ।

३. मुग़ल-मेवाड़ संघर्ष तथा राजस्थान की राजनैतिक एकता की स्थापना का काल (१५७७-१६१५ ई०)

हल्दीघाटी के युद्ध में उसकी पराजय तथा तदनन्तर अकबर की मेवाड़-यात्रा और मेवाड़ पर की गई मुग़ल सेनानायकों की चढ़ाइयाँ भी राणा प्रताप को अकबर की आधीनता स्वीकार करने

के लिए विवश नहीं कर सकी थीं। अतएव अपनी राजस्थान-विजय को सर्वथा सम्पूर्ण बनाने के लिए अकबर प्रयत्नशील हुआ। अक्तूबर, १५७७ ई० में अकबर ने शाहबाज़ ख़ाँ के सेनापतित्व में एक बड़ी सेना मेवाड़ की ओर भेजी। यत्र-तत्र घूमने के बाद अन्त में शाहबाज़ ख़ाँ ने कुंभलगढ़ किले को जा घेरा। जब उस किले का अधिक काल तक अपने अधिकार में बनाए रखना कठिन हो गया तब राणा प्रताप वहाँ से निकल गया और अन्त में अप्रेल ३, १५७८ ई० को कुंभलगढ़ पर मुग़लों का अधिकार हो गया। परन्तु सारे प्रयत्न करने पर भी जब शाहबाज़ ख़ाँ राणा प्रताप को पकड़ नहीं सका, तब मई, १५७८ ई० में वह वापस शाही दरबार को लौट गया।

अपने अधिकार से कुंभलगढ़ के भी निकल जाने पर राणा प्रताप ने उदयपुर से दक्षिण में स्थित छप्पन के पहाड़ी प्रदेश को अपना प्रधान केन्द्र बनाया और वहाँ चावण्ड को अपनी राजधानी बना कर इस प्रदेश से लगे हुए मुग़लों के आधीन मेवाड़ और मालवा के भागों में लूट-मार तथा उपद्रव करता रहा। अतएव दिसम्बर, १५७८ ई० एवं नवम्बर, १५७९ ई० में भी अकबर ने शाहबाज़ ख़ाँ को राणा प्रताप के विरुद्ध भेजा था, किन्तु दोनों ही बार उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली। इन वार्षिक आक्रमणों से राणा प्रताप की कठिनाइयाँ अवश्य बढ़ गई थीं। सन् १५८० ई० के अन्तिम महीनों में बैराम ख़ाँ का बेटा, अब्दुर्रहीम ख़ानख़ाना, राजस्थान का सूबेदार नियुक्त हुआ। इन दिनों अकबर का सारा ध्यान बिहार-बंगाल के विद्रोह तथा उत्तर-पश्चिमी सीमा पर उसी के सौतेले भाई एवं काबुल के अर्ध-स्वतंत्र शासक मिर्ज़ा मुहम्मद हाकिम के विरोध की ओर लगा हुआ था, अतएव इन वर्षों में उसने राणा प्रताप के विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की, और ख़ानख़ाना स्वयं भी राणा प्रताप के

साथ कोई छेड़छाड़ करने को उत्सुक नहीं था । अतएव अपने रहे-सहे राज्य में अपनी छिन्न-भिन्न शक्ति को सुसंगठित कर अपने खोये हुए प्रदेशों पर धीरे धीरे पुनः अधिकार करने के लिए राणा प्रताप को इन कुछ वर्षों का अत्यावश्यक अवकाश और उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया ।

राजस्थान के इतिहास में सन् १५८० ई० का विशेष महत्व है । पाँच वर्ष पहिले प्रचलित की गई करोड़ी व्यवस्था को पूर्णतया बदल कर इस वर्ष के प्रारम्भ में नया माली बन्दोबस्त कर दिया गया और भविष्य में अनिश्चित समय के लिए लगान की नई दरें निर्धारित की गईं, जो राजस्थान के खालसा मुग़ल प्रदेशों में उपज के १/७ भाग से किसी भी हालत में अधिक नहीं थीं । इसमें से भी बहुत ही थोड़ी रकम नकद दामों में वसूल होती थी । पुनः साम्राज्य के विभिन्न अधिकारियों को खालसा परगनों की आवश्यक राजस्व-आय वेतन के रूप में न देने की जो नीति तब निश्चित की गई थी, अब वास्तविक व्यवहार में उसे पूर्णतया त्याग दिया गया । इस समय आयोजित राजस्थान के इन परगनों के राजस्व-शासन की व्यवस्था अकबर की मृत्यु के बाद भी बहुत-कुछ इसी रूप में चलती रही ।

पुनः अकबर ने इसी वर्ष अपने विस्तृत साम्राज्य को बारह सूबों में विभक्त कर उन विभिन्न सूबों के प्रान्तीय शासन को नए ढंग से संगठित किया । इस समूचे ही प्रदेश का तब कोई भी एक प्रान्तीय नाम नहीं होने के कारण यह प्रान्त अपनी राजधानी के नाम से 'अजमेर सूबा' कहलाया * । यह प्रान्त सात

---

* आईन० (अंग्रेजी), २ (द्वितीय संस्करण), पृ० १२९ ।

अंग्रेजों से पहिले यह सारा प्रदेश कभी भी किसी एक प्रान्तीय नाम

सरकारों में विभक्त किया गया था, अजमेर, चित्तोड़, रणथंभोर, जोधपुर, नागोर, बीकानेर, और सिरोही †। उस समय इन सातों सरकारों में कुल मिला कर कोई १९७ परगने थे।

से प्रसिद्ध रहा हो ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। टाड ने ही सर्व-प्रथम इस सारे प्रदेश को 'राजस्थान' या 'रायथान' नाम दिया था। परन्तु यह समूचा प्रदेश अधिकतर राजपूत राजाओं के ही आधीन होने के कारण अन्य सारे अंग्रेज अधिकारी साधारणतया इसे 'राजपूताना' नाम से ही पुकारते थे, जिससे यही नाम प्रचालित होकर कुछ समय बाद इस प्रदेश का प्रान्तीय नाम माना जाने लगा। ओझा, राजपूताना०, १, पृ० १-२; टाड, १, पृ० १।

† मुग़ल-कालीन राजस्थान प्रान्त की सीमाओं के लिए अन्त में दिया हुआ नकशा देखो। विभिन्न सरकारों के अन्तर्गत निम्नलिखित राज्य या प्रदेश भी आते थेः—

अजमेर—आम्बेर का कछवाहा राज्य;
चित्तोड़—तत्कालीन सारा मेवाड़ राज्य;
रणथंभोर—हाड़ौती तथा तत्कालीन बूंदी राज्य;
जोधपुर—सारा मुग़ल-कालीन मारवाड़ राज्य;
नागोर—शेखावाटी का पश्चिमी भाग;
बीकानेर—बीकानेर और जैसलमेर के राज्य;
सिरोही—सिरोही, डूंगरपुर, जालोर का पठान राज्य तथा बाँसवाड़ा राज्य का पश्चिमी भाग।

मालवा और राजस्थान प्रान्तों को विभक्त करने वाली प्रान्तीय सीमा बाँसवाड़ा नगर के पास से निकलती थी, एवं बाँसवाड़ा का पूर्वी प्रदेश मालवा सूबे के अन्तर्गत पड़ता था, तथा इसी कारण उस राज्य से वसूल होने वाले खिराज का भी एक भाग मालवा सूबे के कोष में जमा किया जाता था।

अजमेर सूबे का यह प्रान्तीय शासन-संगठन ईसा की १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में फर्रुख़सियर के शासन-काल तक बहुत ही थोड़े हेर-फेर के साथ ऐसा ही चलता रहा। इस लम्बे काल में जो दो महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गए उनका एकमात्र कारण था शासकीय सुविधा। प्रथम तो रामपुरा के राज्य को अजमेर सूबे की चित्तोड़ सरकार से निकाल कर मालवा के सूबे में सम्मिलित कर दिया गया था। दूसरे, ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में जैसलमेर राज्य को बीकानेर सरकार से निकाल कर उसे एक स्वतंत्र सरकार बना दिया गया, जिससे तब अजमेर सूबे में आठ सरकारें हो गई थीं। इनके अतिरिक्त निरन्तर होनेवाले परिवर्तनों के फलस्वरूप समय-समय पर आवश्यक्तानुसार नए परगनों के निर्माण तथा कई पुरानों को तोड़ने का आयोजन भी होता रहता था, जिससे सारे सूबे के परगनों की कुल संख्या सदैव घटती-बढ़ती रहती थी।

यह बात विशेष रूपेण ज्ञातव्य है कि एक बार प्रान्तीय सीमाओं के यों निश्चित हो जाने के बाद विभिन्न राजस्थानी नरेशों को समय-समय पर मनसब की जागीर में दिये जाने वाले परगनों की बदला-बदली का इन प्रान्तीय सीमाओं पर कभी भी कोई असर नहीं पड़ा। राजस्थान से इतर सूबों में जागीर मिलने पर उन परगनों के सम्बन्ध में वह नरेश समुचित सूबेदार के प्रति ही उत्तरदायी रहता था। इसी प्रकार राजस्थान की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर स्थित देवलिया राज्य के सीसोदिया शासक यद्यपि अपने कौटुम्बिक संबन्ध के कारण स्वयं को मेवाड़ से सम्बद्ध समझते थे, उनके अधिकार में मालवा सूबे की मन्दसौर सरकार के बसाड़, ग़यासपुर, आदि परगने होने से इस मुग़ल शासन-काल में उनकी गिनती मालवा के ही सरदारों में की जाती थी।

अजमेर सूबे के शासन का यों संगठित किया जाना, राजस्थान के प्रान्तीय इतिहास की अतीव महत्वपूर्ण तथा बहुत ही निर्णायक घटना है। परस्पर-विरोधी एवं सर्वथा विभिन्न परम्पराओं वाले इन अनेकानेक राजस्थानी राज्यों को एक सर्वोपरि प्रान्तीय शासन-संगठन के आधीन कर तथा उन राज्यों के शासकों एवं उनके उत्तराधिकारियों में स्वेच्छानुसार परिवर्तन करके उन राजस्थानी नरेशों एवं वहाँ की जनता के सम्मुख उस सार्वभौम सत्ता की प्रबल शक्ति को ही सुस्पष्ट नहीं किया गया, किन्तु साथ ही उसकी तुलना में उन विभिन्न राज्यों की सापेक्षिक नगण्यता भी पूर्णतया प्रदर्शित कर दी गई थी। अकबर ने ही तब यों अनजाने राजस्थान की प्रान्तीय एकता का बीज प्रथम बार बोया था, जो सदियों बाद ही कहीं समूचे राजस्थान की सम्पूर्ण शासकीय एकता की स्थापना में जाकर फलीभूत हुआ। अकबर द्वारा स्थापित राजस्थान की इस प्रान्तीय राजनतिक एकता का मुग़ल साम्राज्य के पतन के साथ ही तब अन्त हो गया, परन्तु मुग़ल शासन कालीन इस राजनैतिक संगठन के फलस्वरूप राजस्थान में जो नूतन प्रान्तीय समानता तथा वहाँ की सांस्कृतिक प्रवृतियों में जो अनोखी आन्तरिक एकता उत्पन्न होगई थी उन्होंने ही तदनन्तर आने वाले उस विश्रृंखलन काल में भी इस नव-स्थापित प्रान्तीय एकता की भावना को दूसरे ही रूप में बनाए रखा। 'राजपूताना एजन्सी' की स्थापना कर अंग्रेज़ों ने भी राजस्थान का प्रान्तीय संगठन करने की अकबर की नीति के मूल तत्त्व को स्वीकार कर राजस्थान की प्रान्तीय एकता के आदर्श की प्राप्ति में अनजाने ही परोक्ष रूपेण बहुत बड़ी सहायता की।

'राजस्थान का यह प्रान्तीय संगठन होने के समय भी जोधपुर

राज्य के भविष्य का प्रश्न अनिश्चित ही था। राव राम के पुत्र राव कल्ला के फरवरी, १५८० ई० में मरने के बाद जब सोजत का परगना भी खालसा हो गया, तब मारवाड़ के सरदारों का आमन्त्रण पा कर चन्द्रसेन मारवाड़ को वापस लौटा और अपने खोये हुए राज्य पर अधिकार करने के लिये पुनः प्रयत्नशील हुआ, किन्तु विशेष कुछ कर सकने के पहिले ही छः-सात माह बाद जनवरी, १५८१ ई० में चन्द्रसेन की मृत्यु हो गई। तब पिछले दस वर्षों की निरन्तर शाही सेवा के बाद भी अकबर ने चन्द्रसेन के ज्येष्ठ पुत्र, रायसिंह को केवल सोजत का परगना देकर टाल दिया; और उसके कोई दो वर्ष बाद अप्रेल, १५८३ ई० के लगभग मालदेव के पुत्र तथा अपने विश्वस्त कृपापात्र फलौदी के राव उदयसिंह को मारवाड़ का राजा बनाया, जो अपने शरीर की स्थूलता के कारण 'मोटा राजा' के नाम से सुप्रसिद्ध हुआ।

काबुल का मामला तय करके दिसम्बर, १५८१ ई० में अकबर राजधानी को वापस लौटा; तथापि कुछ वर्षों तक उसने मेवाड़ की ओर ध्यान नहीं दिया। उधर इस अवसर से पूर्ण लाभ उठा कर राणा प्रताप ने मेवाड़ के बहुत से भाग पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, जिससे अन्त में दिसम्बर ५, १५८४ ई० को अकबर ने राजा भगवानदास के छोटे भाई कछवाहा जगन्नाथ के सेनापतित्व में एक बड़ी सेना अजमेर की राह मेवाड़ की ओर भेजी। जगन्नाथ ने मांडलगढ़, मोही, मदारिया, आदि स्थानों में शाही थाने पुनः स्थापित किये और राणा प्रताप के निवास-स्थान तक भी जा पहुँचा, किन्तु वह तो उससे पहिले ही पहाड़ों में जा चुका था। इसी प्रकार जगन्नाथ ससैन्य मेवाड़ में घूमता रहा। सितम्बर १७, १५८५ ई० को वह राणा प्रताप के बहुत ही निकट पहुँच गया

और उसके निवास-स्थान तथा राजघराने का अन्य निजी माल-असबाब तक लूट लिया, परन्तु फिर भी वह राणा प्रताप को नहीं पकड़ पाया। एवं तब निराश हो सन् १५८६ ई० में वह मेवाड़ छोड़ कर शाही दरबार को लौट गया। इस समय अकबर लाहौर में था एवं उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रदेश की अफ़ग़ान जातियों को दबाने तथा कश्मीर राज्य को जीतने के लिए प्रयत्नशील था।

राजस्थान में इस समय मेवाड़ के अतिरिक्त दो और भी स्थान ऐसे थे, जहाँ यदा-कदा अशान्ति बनी रहती थी। प्रथम तो बूंदी राज्य था। रणथम्भोर का किला सौंप कर अकबर की आधीनता स्वीकार करने के बाद राव सुर्जन निरन्तर शाही सेवा में ही लगा रहा, और नवम्बर, १५७५ ई० में चुनार का परगना उसको जागीर में मिलने के बाद बनारस को ही उसने अपना प्रधान निवास-स्थान बना लिया था। अतएव बूंदी के शासन-प्रबंध के प्रश्न को लेकर सुर्जन के पहले दो बेटों में परस्पर वैमनस्य हो गया। राव सुर्जन स्वयं अपने दूसरे पुत्र भोज से अधिक प्रसन्न था; उधर ज्येष्ठ पुत्र, दूदा, अकबर से मेल रखने की नीति का विरोधी था। अतएव अगस्त, १५७६ ई० में बूंदी पर अधिकार कर दूदा ने वहाँ विद्रोह का झंडा खड़ा किया। दो बार चढ़ाई करने के बाद ही मुग़ल सेना बूंदी पर अधिकार कर सकी, और कुछ महीनों के प्रयत्न के बाद दूदा को उसने बूंदी राज्य से निकाल बाहर किया। तब सन् १५७७ ई० के पिछले महीनों में अकबर ने बूंदी का राज्य भोज को दे दिया। उधर शाहबाज़ ख़ाँ के बीच में पड़ने से जून, १५७८ ई० में दूदा भी अकबर की आधीनता स्वीकार कर शाही दरबार में पहुँचा, परन्तु जब कुछ माह वहाँ ठहरने के बाद अपने बूंदी राज्य पाने की उसने क़ोई भी संभावना नहीं देखी तब वह पुनः विद्रोही हो गया और

सितम्बर, १५८५ ई० में मृत्यु होने तक अपने घर से निर्वासित यत्र-तत्र घूमता ही रहा। दूदा की मृत्यु के कुछ ही माह बाद राव सुर्जन की भी बनारस में मृत्यु हो गई। अब राव भोज बूंदी का शासक बना और बूंदी राज्य की शान्ति भंग करने वाला भी कोई नहीं रहा।

परन्तु सिरोही राज्य का मामला इससे भी अधिक उलझा हुआ था। सन् १५७७ ई० के प्रारम्भ में वहाँ के शासक राव सुरताण के अकबर की आधीनता स्वीकार कर लेने पर भी उस राज्य में शान्ति स्थायी नहीं हो सकी। सुरताण का प्रमुख कर्मचारी बीजा देवड़ा, तथा मेवाड़ के सुप्रसिद्ध राणा प्रताप का भांजा राव कल्ला मेहजलोत देवड़ा, दोनों भी स्वयं सिरोही के शासक बनने को उत्सुक थे, एवं तीनों ही दलों में निरन्तर आन्तिरिक विरोध और षड्यन्त्र चलते जाते थे। अपने इन विरोधियों से हैरान होकर सन् १५८२ ई० में सुरताण ने अपना आधा राज्य अकबर की भेंट कर दिया। किन्तु जब अकबर की आज्ञानुसार सिरोही राज्य का यह भाग जुलाई, १५८३ ई० में राणा प्रताप के विरोधी भाई जगमाल को दे दिया गया, तब तो सुरताण विद्रोही हो गया और उसने जगमाल पर आक्रमण कर दिया, जिससे दताणी के युद्ध में अक्तूबर १७, १५८३ ई० को जगमाल तथा उसकी सहायतार्थ अकबर की ओर से नियुक्त सोजत का राव रायसिंह राठौड़ मारे गए। राव सुरताण ने पुनः सारे सिरोही राज्य पर अधिकार कर लिया, और सन् १५८५ ई० के अन्तिम महीनों में गुजरात को जाते हुए अब्दुर्रहीम खानखाना के सिरोही के पास पहुँचने पर सुरताण ने पुनः अकबर की आधीनता स्वीकार कर ली, जिससे अगले आठ वर्षों तक उसे किसी ने भी नहीं छेड़ा। और बीजा देवड़ा के उकसाने पर सुरताण को पदच्युत कर सिरोही राज्य पर भी अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये सन् १५९४ ई० में

जब मोटा राजा ने सिरोही पर चढ़ाई की तब बीजा देवड़ा युद्ध में काम आया और सुरताण भाग गया । मोटा राजा के सिरोही से लौटते ही सुरताण ने पुनः अपने राज्य पर अधिकार कर लिया और अपने मृत्यु-समय तक वहाँ निष्कंटक राज्य करता रहा ।

उधर यद्यपि उसके शासन-काल में आम्बेर राज्य का विस्तार अधिक नहीं बढ़ा, वहाँ के राजा भारमल कछवाहा ने दूरदर्शितापूर्ण अपनी कुशल नीति द्वारा अतीव संकटमय समय में उस राज्य को अत्यावश्यक स्थायित्व प्रदान किया था । पुनः अपने पुत्रों तथा पौत्रों को मुग़ल साम्राज्य की सेवा में लगा कर यों परोक्ष रूप से उसने अपने राजघराने का राजनैतिक महत्व बहुत अधिक बढ़ा लिया था । पूरे पच्चीस वर्ष तक आम्बेर राज्य पर सफलतापूर्वक शासन करने के बाद जनवरी २७, १५७४ ई० को मथुरा के विश्रान्त घाट पर राजा भारमल की मृत्यु हो गई और तब उसका पुत्र भगवानदास*

---

*कछवाहा राजघराने की ख्यातों और वंशावलियों से यह तो सुस्पष्ट है कि राजा भारमल के 'भगवानदास' और 'भगवंतदास' नामक दो विभिन्न पुत्र थे । परन्तु उनमें से कौन सा पुत्र आम्बेर का राजा बना, तथा उसका उत्तराधिकारी राजा मानसिंह इन दोनों भाइयों में से किसका पुत्र था, इन प्रश्नों पर फ़ारसी ऐतिहासिक आधार-ग्रन्थों के साथ ही ख्यातों और वंशावलियों में भी किसी प्रकार का मतैक्य नहीं पाया जाता है । 'कछवाहों के इतिहास में एक उलझन' शीर्षक लेख द्वारा ओझा ने इस समस्या को उठाया था (माधुरी, वर्ष ४, खण्ड २, पृ० ७६३-६८) । इस प्रश्न पर कोई भी संतोषजनक सुनिश्चित निर्णय कर सकने के लिये मूल ऐतिहासिक आधारों एवं उनकी समकालीन प्रामाणिक सामग्री की अधिक खोज तथा उसका पूरा-पूरा अध्ययन आवश्यक होगा । इन समस्याओं पर कोई भी निर्णय

आम्बेर की राजगद्दी पर बैठा। तब भी वह निरन्तर शाही सेवा में बना रहा। सन् १५८३ ई० के प्रारम्भ में वह पंजाब का सूबेदार बना और तदनन्तर कुछ समय के लिए उसने काबुल की भी सूबेदारी की। उसका मनसब बढ़ते बढ़ते मार्च, १५८५ ई० में पंच-हज़ारी हो गया, और तब वह 'अमीर-उल्-उमरा' भी कहलाया। उसके बढ़ते हुए मनसब के अनुरूप उसे अपने जीवन-काल के लिए पंजाब, आदि राजस्थानेतर प्रदेशों में नई-नई जागीरें मिलीं। नवम्बर ५, १५८९ ई० को लाहौर में भगवानदास की मृत्यु हो गई। अब मानसिंह आम्बेर का शासक बना। पिछले सत्ताईस वर्षों की लगातार महत्वपूर्ण सेवाओं पर विचार कर मानसिंह के राजा बनते ही उसे पंच-हज़ारी मनसब दे दिया गया। इस समय वह बिहार का सूबेदार था एवं जागीर भी उसे उसी प्रान्त में दी गई।

किन्तु मोटा राजा उदयसिंह को तो जोधपुर की राजगद्दी पर बैठ कर भी अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। एक पूर्णतया विश्रृंखलित शक्तिहीन राज्य को पुनः संगठित करना किसी भी प्रकार सरल कार्य नहीं था। राव रायसिंह के दताणी में मारे जाने के बाद सोजत का परगना उसे मिला तथा कुछ वर्ष बाद सिवाणे के परगने पर भी उसका अधिकार हो गया। आस-पास का दूसरा प्रदेश भी मारवाड़ राज्य में मिल जाने पर अब पुनः उसकी गिनती महत्वपूर्ण शक्तिशाली राज्यों में होने लगी थी। जुलाई ११, १५९५ ई० को लाहौर में मोटा राजा की मृत्यु हुई और तब उसका छठा पुत्र सूरसिंह मारवाड़ का शासक बना।

न देकर इतिहास में अधिक प्रचालित तथा सुज्ञात नाम 'भगवानदास' को ही यहाँ अपनाया गया है।

सितम्बर-अक्तूबर, १५७९ ई० में अकबर ने अन्तिम बार अजमेर की यात्रा की थी। उसके बाद फिर कभी राजस्थान में अन्यत्र भी वह कहीं नहीं गया। अपने सौतेले भाई मिर्ज़ा मुहम्मद हकीम की जुलाई २९, १५८५ ई० को मृत्यु होने का समाचार सुन कर अगस्त २४, १५८५ ई० के दिन अकबर पंजाब की ओर चल पड़ा; और तब अगले तेरह वर्ष उसने पंजाब तथा उत्तर-पश्चिमी सीमान्त सूबों में ही बिताए तथा सन् १५९९ ई० के प्रारम्भिक महीनों में वह वापस आगरा को लौटा। आगरा से अनुपस्थिति के इन वर्षों में अकबर पंजाब, कश्मीर तथा काबुल सूबों के मामलों में इतना अधिक उलझा रहा कि उसे राजस्थान के मामलों की ओर ध्यान देने का कोई अवसर नहीं मिला। विभिन्न प्रान्तों पर उपयुक्त सूबेदार नियुक्त करते समय नवम्बर २६, १५८६ ई० को जगन्नाथ कछवाहा तथा रामपुरा का शासक राय दुर्गा चन्द्रावत, दोनों ही अजमेर सूबे के संयुक्त सूबेदार नियुक्त किये गए थे, जिससे उनमें से एक के शाही दरबार में जाने पर कम से कम दूसरा तो सूबे में रह कर वहाँ के शासन-प्रबंध को देखभाल सके। किन्तु बहुत चाहते हुए भी इन दोनों में से एक भी निरन्तर राजस्थान में नहीं रह सका, तथा राणा प्रताप के शासन काल में सन् १५८४-६ ई० में जगन्नाथ कछवाहा के बाद फिर कभी किसी मुग़ल सेनानायक ने मेवाड़ पर चढ़ाई नहीं की। अतएव उपयुक्त अवसर पा कर राणा प्रताप धीरे धीरे अपने खोये हुए राज्य पर पुनः अधिकार करने लगा। मेवाड़ के स्वामिभक्त प्रधान मंत्री भामाशाह ने राज्य-कोष की ऐसी सुव्यवस्था की कि उससे राणा प्रताप को पूरी-पूरी सहायता पहुँची। कुंभलगढ़ पहिले ही लिया जा चुका था। देहान्त के समय तक चित्तोड़गढ़ और मांडलगढ़ के किलों तथा उनसे पूर्व के प्रदेश के अतिरिक्त बाकी सारा मेवाड़

राज्य उसने अपने आधीन कर लिया। तथापि राणा प्रताप ने जीवन के अन्तिम दिन अपने कठिनाईपूर्ण दिनों की राजधानी चावण्ड में ही बिताए।

राणा प्रताप ने अन्त तक अपना निश्चय निबाहा, और अनेकों कठिनाइयों, कष्टों एवं पराजयों को निरन्तर सहते रहने पर भी उसने प्राण रहते अकबर की आंशिक आधीनता तक स्वीकार नहीं की। एक विधर्मी विदेशी विजेता का यों विरोध कर अपने परम्परा-गत मेवाड़ राज्य की स्वाधीनता को अक्षुण्ण बनाए रखना ही उसने अपना परम कर्त्तव्य समझा था। उसकी दृढ़ता, धीरज, अडिग आत्मविश्वास तथा अनवरत प्रयत्न संसार के इतिहास की बहुत ही अनोखी और सर्वथा अनुकरणीय वस्तुएँ हैं। किन्तु सुसंगठित शक्तिशाली स्वाधीन भारत के इस नए वातावरण में तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं का राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से निष्पक्ष अनुदर्शन करने पर राणा प्रताप के विशिष्ट आदर्श की संकीर्णता और उसकी विरोधपूर्ण नकारात्मक नीति में हर प्रकार की रचनात्मकता का पूर्ण अभाव सुस्पष्ट हो जाते हैं।

तथापि चावण्ड के उन सीधे-सादे सुदूर राजमहलों में जब जनवरी १९, १५९७ ई० को मेवाड़ की उस हुतात्मा ने अन्तिम सांसें लीं तब वह—

"अस लेगो अणदाग, पाघ लेगो अणनामी।
गौ आड़ा गवड़ाय, जिको बहतो धुर वामी॥"

और जीवन भर निरन्तर पराजित होने पर भी अन्त में "गहलोत राण जीती गयो"; तथा युगों-सदियों बाद घटने वाले अनेकानेक राजनैतिक और ऐतिहासिक संयोगों की परम्परा ने राणा प्रताप

की इस अन्तिम विजय को अधिकाधिक स्थायी एवं परिपूर्ण बना दिया। भारतीय स्वाधीनता के उपासकों तथा अदम्य साहसी देश-भक्तों ने भारतीय एकता और राष्ट्रीय सुसंगठन का भरसक विरोध कर केवल अपने छोटे-से मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए लड़ने वाले राणा प्रताप को ही अपना आदर्श स्वीकार किया। समूचे भारत को राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक एकता प्रदान करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न करने वाले एवं राजस्थान को सर्व-प्रथम प्रान्तीय एकता के सूत्र में बाँधने वाले अकबर का उन्हें तब ख़याल तक नहीं आया। भारत के अन्तिम विजेता, विदेशवासी अंग्रेज़ों की अतुलनीय शक्ति और कोई एक सदी से भी अधिक काल के उनके शोषणपूर्ण स्थायी एकाधिपत्य से पराधीन भारत के आधुनिक राष्ट्रीय नेता तिलमिला उठे थे। स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्नों में अत्यधिक विफलताओं तथा निरन्तर निराशाओं का सदैव सामना करते-करते उनमें गहरी विवशता भर गई थी और उनका सारा दृष्टि-कोण सर्वव्यापी विद्रोह की उत्कट नकारात्मक भावना से ही पूर्णतया रंग गया। तब राणा प्रताप के अनवरत विरोध तथा उसकी अडिगता को ही उन्होंने अपना एकमात्र आदर्श बनाया। उसकी उन पराजयों से ही राणा प्रताप की उस विरोधी भावना को यह नई स्फूर्तिपूर्ण शक्ति प्राप्त हुई, तथा उसकी वे जीवन-कालीन विफ़लताएँ भी सदियों बाद उसकी इस अनोखी सफलता का स्थायी आधार बन गईं।

सर्वस्व त्याग कर अपने पवित्र आदर्शों के लिए—चाहे वे यत्किंचित् संकीर्ण ही क्यों न हों—अपने जीवन तक की बलि देने वालों का किसी भी प्रकार क्षय नहीं होता है; मृत्यु भी उन्हें अमरत्व प्रदान करती है। तब इन वीरात्माओं का मानवीय हृदयों पर अखण्ड

शासन स्थापित हो जाता है , और उनकी कीर्ति की वह अमरबेल कवियों की कल्पना, साहित्यिकों की साधना एवं जनसाधारण की धारणा की त्रिवेणी पर स्थित मानवीय मनोभाव के अक्षय-वट पर ही निरन्तर फैलती और फूलती रहती है । राणा प्रताप के पुत्र को ही विवश होकर अन्त में मुग़ल सम्राट् की आंशिक आधीनता स्वीकार करनी पड़ी, जिससे राणा प्रताप का वह अडिग निश्चय तथा उसका अनन्त विरोध अधिक आदरणीय हो गये । अकबर के बाद उसकी वह धार्मिक सहिष्णुता कुछ ही युगों में पूर्णतया विलीन हो गई और मुग़ल साम्राज्य का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि-कोण भी दिनोंदिन अधिकाधिक संकुचित होने लगा, तब तो राणा प्रताप के उस विरोध को एक अनोखा राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक महत्व प्राप्त हो गया । औरंगज़ेब के धर्मान्धतापूर्ण शासन एवं शिवाजी जैसे सुदूरस्थ सफल विद्रोही शासक के भी राणा प्रताप के राजघराने के साथ वंशीय सम्बन्ध स्थापित करने से राणा प्रताप के काल की राजनैतिक परिस्थिति सम्बन्धी सारी भावनाएँ ही तब पूर्णतया बदल गईं । उत्तर मुग़ल-काल के राजस्थानी इतिहास-कार भी इन नवीन भावनाओं तथा परिवर्तित दृष्टि-कोणों से अछूते नहीं रह सके और उनके लिखे हुए राणा प्रताप के जीवन-वृत्तान्त पर भी उनकी सुस्पष्ट छाप देख पड़ती है । समय के साथ धीरे धीरे राणा प्रताप की जीवनी को लेकर अनेकानेक कल्पनापूर्ण कथानकों, अत्युक्तिमय आख्यायिकों तथा भावपूर्ण गीतों की सृष्टि होने लगी जिससे कुछ ही युगों में राणा प्रताप के उस ऐतिहासिक शासन-काल के विवरण का स्वरूप ही बहुत-कुछ बदल गया । टाड के ग्रंथ में हमें राणा प्रताप की उस परिवर्तित जीवनी की पूरी-पूरी झाँकी देखने को मिलती है, जो नाटकीय तत्वों से पूर्ण रोचक गहरे

आकर्षक रंगों वाली और स्फूर्तिदायक होते हुए भी बहुत-कुछ अंशों में ऐतिहासिक सत्यता से विहीन ही है ।

राणा प्रताप की मृत्यु के बाद भी मेवाड़-मुग़ल संघर्ष का अन्त नहीं हुआ । अपने पिता की मृत्यु-शय्या पर की गई शपथ-सौगन्दों को पूर्णतया निबाहने के लिये राणा अमर हर तरह तत्पर हुआ । उधर अकबर भी पंजाब से लौट कर सन् १५९९ ई० के प्रारंभ में दिल्ली होता हुआ आगरा पहुँचा, और तब से ही वह मेवाड़ पर चढ़ाई के लिए आयोजन करने लगा । परन्तु उसे स्वयं तो दक्षिण जाना था, अतएव मेवाड़ पर इस चढ़ाई का भार अपने ज्येष्ठ पुत्र शाहज़ादे सलीम को सौंप कर एक सेना के साथ उसे सितम्बर १९, १५९९ ई० के दिन अजमेर की ओर रवाना किया । बंगाल का सूबेदार कछवाहा राजा मानसिंह भी सलीम के साथ था । मांडल, आदि समतल प्रदेश पर अधिकार करती हुई शाही सेना उदयपुर तक जा पहुँची , किन्तु उससे आगे पहाड़ी प्रदेश में बढ़ने का साहस नहीं हुआ । इधर मेवाड़ के सेनानायकों ने आक्रमण कर ऊंटाले का किला मुग़लों से छीन लिया तथा दूसरे ही मार्ग से चल कर राणा अमर मांडल, आदि शाही थानों को लूटता हुआ मालपुरे जा पहुँचा । आराम-पसंद विलासी सलीम शीघ ही इस प्रदेश-व्यापी युद्ध से घबरा कर मेवाड़ से लौट पड़ा , और जून, १६०० ई० के लगभग राजस्थान छोड़ कर वह इलाहाबाद की ओर चला गया । बंगाल में उपद्रव तथा विद्रोह के समाचार पा कर राजा मानसिंह को भी सलीम के साथ ही साथ राजस्थान से चल देना पड़ा था ।

अकबर के बहुत चाहने पर भी उसके शासन-काल में पुनः मेवाड़ पर मुग़ल चढ़ाई नहीं हो सकी । अक्तूबर, १६०३ ई० में तदर्थ आगरा से ससैन्य रवाना किये जाने पर भी सलीम फतेहपुर सीकरी से आगे

नहीं बढ़ा और तब सलीम के विद्रोह, अन्य कौटुम्बिक उलझनों तथा अपनी शारीरिक अस्वस्थता में ही अकबर के वे अंतिम दो वर्ष बीते, जिससे राणा अमर को अपनी शक्ति सुसंगठित करने तथा भावी मुग़ल आक्रमणों का सामना कर सकने की तैयारी का पूरा अवसर मिल गया।

अक्तूबर १५, १६०५ ई० की आधी रात के लगभग अकबर की मृत्यु हो गई। मेवाड़ को जीत कर उसे अपने आधीन बनाने तथा वहाँ के राणा को अपने शाही दरबार में समुपस्थित देखने की उसकी इच्छा किसी भी तरह पूरी नहीं हो सकी। और अपने पिता के जीवन-काल में उदयपुर तक ससैन्य जाकर भी जो मेवाड़ पर मुग़ल आधिपत्य स्थायी बनाने के लिये प्रयत्नशील नहीं हुआ था, वही शाहज़ादा सलीम अब जहाँगीर नाम से मुग़ल साम्राज्य के सिंहासन पर आरूढ़ होते ही मेवाड़-विजय के लिए अत्यधिक आतुर हो उठा, तथा अपने राज्यारोहण के कुछ ही सप्ताह बाद नवम्बर, १६०५ ई० में उसने अपने दूसरे पुत्र परवेज़ एवं आसफ़ ख़ाँ जाफ़र बेग के सेनापतित्व में एक बड़ी सेना मेवाड़ पर चढ़ाई करने के लिए भेजी। राणा उदयसिंह के मनोनीत परन्तु पदच्युत उत्तराधिकारी जगमाल की मृत्यु के कुछ ही वर्षों बाद उसका सगा भाई सगर भी मुग़ल दरबार में पहुँचा था, तब 'राणा' की उपाधि देकर अकबर ने उसे आश्रय प्रदान किया था। जहाँगीर ने अब सगर को 'मेवाड़ का राणा' बना कर चित्तोड़ के किले के साथ ही सादड़ी, बेगूँ, बागौर, फूलिया और कपासन के परगने दिये तथा अपने नए राज्य पर अधिकार करने के लिये उपर्युक्त शाही सेना के साथ उसे भी मेवाड़ भेजा। किन्तु मेवाड़ की सेना के बढ़ते हुए विरोध के कारण ऊंटाला और देबारी तक जा कर भी

शाही सेना को वापस मांडल लौटना पड़ा। इसी समय अप्रेल ६, १६०६ ई० के दिन जहाँगीर के ज्येष्ठ पुत्र शाहज़ादे खुसरो के विद्रोही हो जाने के कारण जहाँगीर के आदेशानुसार जगन्नाथ कछवाहे को मांडल में छोड़ कर परवेज़ और आसफ़ खां मई माह के प्रारंभ में शाही दरबार के लिये चल पड़े। राणा सगर को चित्तोड़ के किले में स्थापित करने के अतिरिक्त इस चढ़ाई का कोई भी परिणाम नहीं निकला। उधर राणा सगर के चित्तोड़ की राजगद्दी पर बैठने के बाद भी मेवाड़ के स्वामिभक्त सरदारों में से किसी ने भी राणा अमर को छोड़ कर उसका साथ नहीं दिया, जिससे राणा अमर की शक्ति क्षीण करने का जहाँगीर का यह प्रयत्न विफल ही रहा।

खुसरो का पीछा करता हुआ जहाँगीर लाहौर जा पहुँचा था, और खुसरो के पकड़े जाने के बाद भी जहाँगीर ने डेढ़ वर्ष से अधिक समय उन उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में बिताया। मार्च, १६०८ ई० में वापस आगरा लौट कर जहाँगीर पुनः मेवाड़ पर चढ़ाई करने का आयोजन करने लगा, तथा जुलाई माह में महाबत ख़ाँ के सेनापतित्व में एक बड़ी सेना को राणा अमर के विरुद्ध भेजा। मेवाड़-विजय के लिए जहाँगीर के ये प्रयत्न अगले सात वर्ष तक निरन्तर चलते रहे तथा मेवाड़ के साथ संधि होने के बाद ही उनका अन्त हुआ।

ऊंटाला तक बढ़ने पर भी महाबत ख़ाँ को पीछे हटना पड़ा, और उसकी इस विफलता के कारण उसे वापस बुला कर जून, १६०९ ई० के अन्तिम दिनों में उसके स्थान पर अब्दुल्ला ख़ाँ को मेवाड़ के विरुद्ध भेजी गई सेना का सेनापति नियुक्त किया। कुंभलगढ़ के प्रदेश में भी शाही थाने स्थापित किये और उस पहाड़ी भाग में

चक्कर लगा कर प्रारम्भ म उसने राणा अमर को एकाध बार खदेड़ा भी, किन्तु दूसरे वर्ष राणपुर के युद्ध में मेवाड़ की सेना के हाथों उसकी पराजय होने के बाद, जब पुनः राणा अमर का पक्ष प्रबल होता-सा देख पड़ने लगा, तब अगस्त, १६११ ई० में अब्दुल्ला ख़ाँ को बदल कर गुजरात का सूबेदार बना दिया और उसके स्थान पर पहाड़ी पंजाब के तंवर राजा बासू को मेवाड़ में नियुक्त किया। किन्तु उसने तो मेवाड़ में कुछ भी नहीं किया। तब मिर्ज़ा अज़ीज़ कोका ख़ान आज़म के निरन्तर अत्यधिक प्रार्थना करने पर सन् १६१३ ई० के प्रारम्भ में राजा बासू को बदल कर उसे वहाँ नियुक्त किया।

मेवाड़-विजय में स्थायी सफलता प्राप्त करना अब अत्यावश्यक जान कर जहाँगीर स्वयं नवम्बर ८, १६१३ ई० को अजमेर पहुँचा तथा शाहज़ादे ख़ुर्रम को मुग़ल सेना का प्रधान सेनापति नियुक्त कर उसे मेवाड़ भेजा। मेवाड़ के पूर्वी समतल प्रदेश पर अधिकार करता हुआ ख़ुर्रम उदयपुर जा पहुँचा। मेवाड़ के विरुद्ध इस युद्ध में सेना-संचालन करते हुए ख़ुर्रम ने पूर्ण रण-कौशल एवं सैनिक-तत्परता का प्रदर्शन किया। उसके आदेशानुसार मुग़ल सेनाएँ पहाड़ी प्रदेशों में भी आगे बढ़ीं तथा राणा प्रताप की युद्ध-कालीन राजधानी चावण्ड पर भी अधिकार कर लिया। तब राणा अमर छप्पन के पहाड़ों में चला गया। राणा अमर के अधिकार का प्रदेश दिनोंदिन घटता जा रहा था, फिर भी वह अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण कर दृढ़तापूर्वक अपने विरोध में अडिग था। परन्तु पिछले पैंतालीस वर्षों के निरन्तर युद्ध से मेवाड़ के सरदार अत्यधिक थक गए थे। पुनः मेवाड़ के विजित प्रदेशों की अरक्षित प्रजा पर किये गये मुग़ल आक्रमणकारी सेना के अत्याचारों से वह भी घबरा उठी थी। अतएव राणा अमर के उत्तराधिकारी कुंवर कर्ण को अपने पक्ष में

करके मेवाड़ के इन सरदारों ने शाहज़ादे ख़ुर्रम के साथ संधि की बातचीत प्रारम्भ की, तथा मेवाड़ के राणा के स्वयं शाही दरबार में कभी उपस्थित नहीं होने की मुख्य शर्त पर जहाँगीर की स्वीकृति प्राप्त होते ही उन्होंने राणा अमर को संधि कर मुग़ल साम्राज्य की आधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया। फरवरी ५, १६१५ ई० को गोगुन्दा में राणा अमर की शाहज़ादे ख़ुर्रम के साथ भेंट हुई और यों उस दिन इस मेवाड़-मुग़ल संघर्ष का अन्त हुआ तथा अपने प्रतापी पिता द्वारा अप्राप्त मेवाड़-विजय में यह आशातीत सफलता प्राप्त कर जहाँगीर ने अमित संतोष तथा अपूर्व गौरव का अनुभव किया।

संधि की शर्तों के अनुसार ख़ुर्रम के साथ कुँअर कर्ण भी शाही दरबार में अजमेर पहुँचा और वहाँ उसे दाहिनी ओर की पंक्ति में सर्व-प्रथम खड़ा किया गया। पांच हज़ारी का मनसब देकर मुग़लों द्वारा जीता हुआ सारा मेवाड़ राज्य उसे वापस दे दिया गया तथा डूंगरपुर, बाँसवाड़ा एवं देवलिया के राज्य भी उसके आधीन कर दिए गए। वहाँ किला-बन्दी न करने की शर्त पर चित्तोड़ का किला भी मेवाड़ को सौंप दिया गया।

'मेवाड़ के राणा' के पद से च्युत होने पर सगर को मालवा में जागीर तथा रावत की उपाधि लेकर ही संतोष करना पड़ा। परिस्थितियों से विवश होकर ही राणा अमर को मुग़लों की यह आधीनता स्वीकार करनी पड़ी थी, तथापि उसने असीम आत्म-ग्लानि का अनुभव किया ,और वह एकान्तवास करने लगा जिससे उसके शासन-काल के पिछले वर्षों में कुँअर कर्ण ने ही राज्य का सारा शासन-प्रबन्ध संभाला।

इधर जब मेवाड़-विजय के लिए ये अनवरत प्रयत्न चल रहे थे तब

बीकानेर का राठौड़ राज्य अनेकानेक कठिनाइयों में से गुज़र रहा था। जनवरी २२, १६१२ ई० को सुदूर बुरहानपुर में बीकानेर के शासक राय रायसिंह का देहान्त हो गया। उसने पूरे इकतालीस वर्ष तक मुग़ल साम्राज्य की राजभक्तिपूर्ण सेवा की थी। अकबर का उस पर पूर्ण विश्वास था और साम्राज्य का एक चतुर सेनापति होने के कारण उसे प्रत्येक महत्वपूर्ण चढ़ाई पर भेजा जाता था। अकबर के शासन-काल में उसका मनसब बढ़ते बढ़ते चार हज़ारी हो गया था जिसे बढ़ा कर जहाँगीर ने पाँच हज़ारी कर दिया था। रायसिंह अपने ज्येष्ठ पुत्र दलपत से प्रसन्न न था एवं अपने छोटे लड़के सूरसिंह को बीकानेर का शासक बनाना चाहता था। दलपत मुग़ल सेना में मनसबदार था। विद्रोही होकर उसने दो बार बीकानेर तथा आस-पास के प्रदेश में बहुत उपद्रव मचाया था। तथापि रायसिंह की इच्छा-पूर्ति न करने के उद्देश्य से ही जहाँगीर ने मार्च, १६१२ ई० में दलपत को बीकानेर का शासक बनाया। परन्तु उच्छृंखल दलपत के लिए शाही आज्ञानुसार चलना एक असम्भव बात थी, एवं एक ही वर्ष में जहाँगीर उससे अप्रसन्न होगया। तब दलपत पुनः विद्रोही हो गया और उसको दबाने के लिए उसीका छोटा भाई सूरसिंह ससैन्य भेजा गया। पराजित दलपत क़ैद कर लिया गया। तब सितम्बर, १६१३ ई० के लगभग जहाँगीर ने सूरसिंह को बीकानेर का शासक बनाया तथा उसके कोई चार माह बाद दलपत को मृत्यु-दण्ड दिया गया।

मेवाड़-मुग़ल संघर्ष की समाप्ति के बाद केवल मुग़लों की राजस्थान-विजय ही सम्पूर्ण नहीं हो गई, किन्तु मुग़ल-कालीन राजस्थान के इस महत्वपूर्ण काल का भी अन्त हो जाता है। उन पिछले घटनापूर्ण युगों के सारे ही प्रमुख राजस्थानी सेनानी-शासक एक

एक कर इस पार्थिव रंगमंच से बिदा ले रहे थे। मोटा राजा उदयसिंह और राणा प्रताप का देहान्त हुए युग बीत चुके थे। बीकानेर के रायसिंह को मरे कुछ ही वर्ष बीते थे कि जुलाई ६, १६१४ ई० के दिन एलिचपुर में आम्बेर के सुविख्यात कछवाहा राजा मानसिंह की भी इहलोक-लीला समाप्त हो गई। अपनी मृत्यु से कुछ ही माह पहिले उसे सात हज़ारी का मनसब दे कर जहांगीर ने उसका अपूर्व सम्मान किया था। दिसम्बर, १५८७ ई० में बिहार भेजे जाने के बाद कोई बीस वर्ष तक वह निरन्तर बिहार अथवा बंगाल सूबे का सूबेदार बना रहा, तथा उड़ीसा प्रदेश को जीतने, पूर्वी बंगाल पर मुग़ल आधिपत्य स्थापित करने और बंगाल में विद्रोहियों को दबाने में उसका पूरा-पूरा हाथ रहा था। यद्यपि शाहज़ादे खुसरो के लिए मानसिंह का विशेष पक्षपात होने के कारण जहाँगीर उससे बहुत प्रसन्न नहीं था, उसके शासन-काल में भी मानसिंह की पिछली मान-मर्यादा अक्षुण्ण ही बनी रही। मानसिंह के शासन-काल में भी आम्बेर राज्य की सीमाएँ पूर्ववत् बनी रहीं, तथापि बंगाल—बिहार की इस दीर्घ कालीन सूबेदारी के समय में मानसिंह के निजी ऐश्वर्य-सम्पत्ति में अपार वृद्धि हुई। इस राजघराने की अटूट समृद्धि का तब से ही प्रारम्भ हुआ था। अकबर का शासन-काल कछवाहों के लिए तो बहुत ही सौभाग्यपूर्ण प्रमाणित हुआ। राजा भगवानदास और मानसिंह के साथ ही उनके कई भाई-बेटों तथा उनके दूरस्थ सह-परिवारियों को भी बड़े-बड़े मनसब तथा महत्वपूर्ण उच्च पद प्राप्त हुए थे। मुग़ल साम्राज्य के तत्कालीन प्रमुख अधिकारियों तथा सेनानायकों में राजा भारमल के पुत्र राजा जगन्नाथ और माधोसिंह, राजा आसकरण और उसके पुत्र राजसिंह, जगमाल के पुत्र खेंगार, रूपसी बैरागी के पुत्र जयमल, राय रायसल दरबारी, राय मनोहरदास

और राजा रामदास कछवाहा को विशेष महत्व प्राप्त था।

मानसिंह का ज्येष्ठ पुत्र जगतसिंह अत्यधिक मदिरा-पान के फलस्वरूप अपने पिता के जीवन-काल में ही अक्तूबर ९, १५९९ ई० को आगरा में मर चुका था। जगतसिंह का ज्येष्ठ पुत्र महासिंह शाही सेना में मनसबदार था, परन्तु उत्तराधिकार सम्बन्धी हिन्दू प्रथा की पूर्ण उपेक्षा कर जहाँगीर ने मानसिंह के तब एकमात्र जीवित पुत्र भावसिंह को आम्बेर का शासक बना कर उसे चार हज़ारी का मनसब तथा मिर्ज़ा राजा की उपाधि दी। नई जागीर दे तथा मनसब में वृद्धि कर महासिंह को भी संतुष्ट करने का जहाँगीर ने प्रयत्न किया। मानसिंह के इन उत्तराधिकारियों को मानसिंह या भगवानदास का-सा मान और गौरव नहीं प्राप्त हो सका।

शाहज़ादे ख़ुर्रम के साथ गोगुन्दा में राणा अमर की सर्व-प्रथम भेंट के दिन मुग़लों की राजस्थान-विजय संपूर्ण हुई। समूचे राजस्थान पर मुग़लों का एक-छत्र शासन हो गया था। साम्राज्य की स्थापना तथा उसकी बढ़ती हुई सत्ता के साथ ही एक वैभवपूर्ण नियम-बद्ध शाही दरबार का भी उद्‌भव हुआ। मनसबदारी प्रथा की स्थापना तथा उसके सुसंगठन के फलस्वरूप अनेकानेक नए नियमों तथा रीति-रस्मों का प्रचलन हुआ, जिनका पालन करना मनसबदारों का कर्तव्य बन गया। शाही मनसबदार बनने वाले राजस्थानी शासकों के लिए शाही दरबार में उपस्थिति या कहीं अन्यत्र नियुक्ति होने पर आदेशानुसार साम्राज्य की सेवा में वहाँ लगे रहना सर्वथा अनिवार्य था। मेवाड़ के राणा को विशेषरूपेण दी गई सुविधायें और छूट इन कठोर नियमों के एकमात्र अपवाद थे, जिनसे मेवाड़ के राजघराने का विशेष महत्व तथा गौरव सुस्पष्ट हो जाते थे।

राजस्थान पर मुग़ल साम्राज्य की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना

के फलस्वरूप विभिन्न राजस्थानी राज्यों के आन्तरिक स्थानीय मामलों में भी सम्राट् एवं उसके अधिकारियों का हस्ताक्षेप बहुत बढ़ गया। केवल ज्येष्ठाधिकार के नियमानुसार राज्यों के उत्तराधिकार को निश्चित करना एक भूतकालीन वस्तु हो गई; अब तो वह एक-मात्र मुग़ल सम्राट् की इच्छा पर ही निर्भर रह गया। पुनः प्रत्येक राज्य में राजधानी तथा उसके आस-पास वाले कुछ निश्चित परगनों के अतिरिक्त बाकी रहे किसी भी परगने की गणना उस राज्य के अन्तर्गत नहीं की जाती थी। बढ़ते हुए मनसब के साथ वे विभिन्न मनसबदारों को दिये जाते थे, और यों अस्थायी तौर से दिये गए परगने भी यदा-कदा अदल-बदल होते ही रहते थे।

शाही सेवा के इन बन्धनों तथा तत्सम्बन्धी नियमों की कड़ाई से राजस्थानी शासकों को कई एक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, परन्तु उससे उन्हें कई एक स्थायी लाभ भी हुए। अपनी योग्यता दिखा कर उच्च पद पाने तथा नया महत्व प्राप्त करने के लिए उन्हें अनेकानेक नूतन अवसर एवं साधन प्राप्त होने लगे। राजस्थानी सरदारों तथा वहाँ के राजपूत सैनिकों को भी दूर देशों की यात्रा, वहाँ की जानकारी तथा नए अनुभव, और युद्ध-विद्या में विशेष कौशल प्राप्त करने के लिए अपूर्व अवसर प्राप्त हुए। मुग़लों के शाही राजदरबार के साथ राजस्थानी शासकों और सरदारों के इस घनिष्ठ सम्पर्क का आगे चल कर राजस्थान की संस्कृति तथा कला पर गहरा एवं स्थायी प्रभाव पड़ा।

अकबर ने राजस्थान में केवल प्रान्तीय शासन का संगठन किया था, परन्तु उसका प्रभाव विभिन्न राज्यों के संगठनों पर भी पड़े बिना न रहा। राजा सूरसिंह के प्रधान मंत्री भाटी गोविन्ददास मानावत ने मारवाड़ राज्य के शासन-प्रबन्ध को पूर्णतया बदल कर

उसे मुग़ल साम्राज्य के ढांचे पर सुसंगठित किया। दीवान, बख़्शी, हाकिम, आदि अधिकारी नियुक्त किये गए। मारवाड़ के पिछले सब ही शासकों के अन्य भाई-बेटों की गिनती सरदारों में की जाकर राज्य के दूसरे सब जागीरदारों के साथ ही उनकी मान-मर्यादा भी निश्चित की गई तथा शाही दरबार के ढंग पर ही राज्य के दरबार की नई सुव्यवस्था कर दी। भाई-बिरादरी तथा ज़मींदारों की-सी सीधी-सादी रीति को बदल कर शाही नमूने पर उसे वैभवपूर्ण नियम-बद्ध राजकीय स्वरूप दिया गया। आम्बेर और बीकानेर के शासक भी मुग़ल शासन-व्यवस्था से पूर्णतया परिचित थे, एवं उनके राज्यों में भी शासन को इस नये ढांचे में ढालने का प्रयत्न किया गया। राजदरबार तथा शासन-संगठन की इस नई व्यवस्था को धीरे धीरे राजस्थान के छोटे बड़े सब ही राज्यों ने अपना लिया, और यों राजस्थान में अनजाने ही राजपद की मान-मर्यादा तथा उसके अधिकारों में एकबारगी अनपेक्षित परिवर्तन हो गया, जिसका आगे चल कर राजस्थान की संस्कृति एवं राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा।

यद्यपि इस काल में मेवाड़-मुग़ल संघर्ष चलता रहा, राजस्थान के अन्य सब भागों में बहुत-कुछ शान्ति ही बनी रही, जिससे वहाँ सर्वत्र नवजीवन के अंकुर पुनः फूटने लगे। राजस्थानी साहित्य के इतिहास में यह युग बहुत ही महत्वपूर्ण है। बीकानेर के शासक रायसिंह के छोटे भाई पृथ्वीराज ने इसी काल में 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' जैसे सर्वोत्कृष्ट काव्य की रचना की थी। राजस्थान के उस अमर जन्म-सिद्ध कवि आढ़ा दुरसा की वह ओजपूर्ण वाणी तथा उसकी वे भावपूर्ण मर्मभेदी कृतियाँ इसी काल में प्रथम बार सुन पड़ीं। राणा प्रताप के स्वातन्त्र्य प्रेम तथा उसकी उस अनुकरणीय दृढ़ता को लेकर इन दोनों ही कवियों ने कई एक अमर छन्दों की

रचना की जो आज भी राजस्थान में घर-घर दुहराये जाते हैं। भक्ति-प्रधान साहित्य की धारा इस काल में निरन्तर बहती ही रही। नाभादास ने 'भक्तमाल' की रचना कर साहित्य और इतिहास के दोनों ही महत्वपूर्ण अंगों को सुसमृद्ध बनाया। पुनः कबीर की विचार-धारा से प्रभावित संत दादू दयाल ने दादू पंथ की स्थापना की और अपने पन्थ का राजस्थान में प्रचार किया। राजस्थान में सन्त कवियों की परम्परा इसी काल से प्रारम्भ होती है। दादू-पंथियों ने राजस्थानी साहित्य की उन्नति में पूर्ण सहयोग दिया, और दादू के साथ ही रज्जबजी ने भी शान्तरस पूर्ण काव्य-धारा द्वारा राजस्थान को प्लावित किया।

उत्तर एवं पूर्वी राजस्थान में मुग़ल आधिपत्य तथा शान्ति-स्थापना के साथ ही वहाँ पुनर्निर्माण का कार्य भी प्रारम्भ हो गया था। आम्बेर और बीकानेर के शासक अपने नए राजनैतिक महत्व के अनुरूप ही अपनी राजधानी के राजप्रासादों को बनाने के लिए प्रयत्नशील हुए। आम्बेर के राजमहलों के निर्माण का कार्य मानसिंह के समय में बहुत-कुछ पूरा हो गया था। इस काल में बने हुए राजस्थान के इन राजमहलों तथा गढ़ों में प्राचीन हिन्दू स्थापत्य कला पर नवीन मुग़ल स्थापत्य शैली का बढ़ता हुआ प्रभाव सुस्पष्ट है। तत्कालीन राजस्थानी चित्रकला में भी अनेकानेक विभिन्न चित्र-शैलियों तथा परस्पर विरोधी भावनाओं का एक अनोखा सम्मिश्रण देख पड़ता है। अनेकानेक स्थानीय विशेषताओं के होते हुए भी आम्बेर की नई सम्मिश्रित कछवाहा चित्र-शैली में अकबर-कालीन प्रारम्भिक मुग़ल चित्र-शैली के साथ विशेष साम्य पाया जाता है। जोधपुर और बीकानेर की शैलियों में तब भी प्राचीन हिन्दू परम्परा का प्राधान्य था, परन्तु वह भी अधिक दिन स्थायी नहीं रह सका। भागवत् पुराण, कविवर केशवदास की 'रसिकप्रिया'

तथा राग-मालाओं को लेकर राजस्थान में बनाए गए इस काल के चित्रों में कल्पना, भावना तथा गतिशीलता का यथेष्ट बाहुल्य होते हुए भी उनके चित्रण में आवश्यक सावधानी तथा निपुणता नहीं पाई जाती हैं। पुनः उनके विभिन्न भागों में अत्यावश्यक सामंजस्य का अभाव भी कई एक चित्रों में बहुत खटकता है। मुग़ल चित्र-शैली के बढ़ते हुए प्रभाव के साथ ही इस राजपूत-शैली का भी विकास हुआ और तब ही ये त्रुटियाँ क्रमशः दूर हो सकीं।

४. शान्ति-समृद्धि काल (१६१५–१६५२ ई०)

मेवाड़ के साथ संधि होने के बाद राजस्थान में मुग़ल साम्राज्य के प्रति विरोध का अन्त हो गया और प्रान्त में सर्वत्र शान्ति छा गई। विभिन्न राज्यों में यदा-कदा उठ खड़े होने वाले छोटे-मोटे पारस्परिक झगड़े या आन्तरिक विद्रोह ही कभी कभी वहाँ की शान्ति को भंग करते थे, किन्तु उनका प्रान्त में विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। इस शान्ति-काल के प्रारम्भ में ही एक ऐसा उपद्रव अजमेर में हुआ था, और शाही पड़ाव के तब वहाँ होने से भी वह नहीं रुका। अपने भतीजे की हत्या का बदला लेने के लिए मारवाड़ के राजा सूरसिंह ने जब अपने सुयोग्य कर्मठ मन्त्री भाटी गोविन्ददास को मृत्यु-दण्ड नहीं दिया तब सूरसिंह का दूसरा भाई किशनसिंह जो जहाँगीर का विशेष कृपा-पात्र था और उसीके फलस्वरूप जिसने किशनगढ़ के एक नए राठौड़ राज्य की स्थापना की थी, बदला लेने के लिए व्याकुल हो उठा। मई २५-२६, १६१५ ई० की रात को अजमेर में सूरसिंह के पड़ाव पर अचानक आक्रमण कर किशनसिंह ने भाटी गोविन्ददास को मरवा डाला, किन्तु सूरसिंह के सैनिकों के घेर लेने पर किशनसिंह तथा

उसका भतीजा करण अपने अन्य कई सैनिकों के साथ वहीं लड़ते हुए मारे गये। तब जहाँगीर ने किशनगढ़ का राज्य किशनसिंह के ज्येष्ठ पुत्र सहसमल को दे दिया ।

मेवाड़-विजय के बाद भी जहाँगीर कोई डेढ़ वर्ष तक अजमेर में ठहरा रहा । मुग़ल साम्राज्य के साथ व्यापारिक संधि करने के लिए अंग्रेजों के बादशाह प्रथम जेम्स का राजदूत बन कर सर टामस रो इसी अरसे में अजमेर पहुँचा और जनवरी १०, १६१६ ई० को वहाँ जहाँगीर के दरबार में वह प्रथम बार उपस्थित हुआ था। राजस्थान प्रान्त की राजधानी बनाए जाने के बाद अजमेर नगर का राजनैतिक महत्व भी बहुत बढ़ गया था । आगरा-दिल्ली के साथ ही पंजाब और इलाहाबाद के उपजाऊ प्रदेशों को भारत के पश्चिमी समुद्री तट पर स्थित विदेशी व्यापारिक केन्द्रों से सम्बद्ध करने वाला प्रधान व्यापार-मार्ग अजमेर होकर गुज़रता था, जिससे उस नगर के आर्थिक महत्व को समझ कर अंग्रेज व्यापारियों ने वहाँ भी अपनी एक कोठी बनाई । अनेकानेक नए भवनों और उद्यानों का निर्माण कर अकबर तथा जहाँगीर ने उस नगरी की सुन्दरता को बढ़ाया । कोई तीन वर्ष तक वहाँ रहने के बाद नवम्बर, १६१६ ई० में जहाँगीर अजमेर से मालवा की ओर चल पड़ा ।

उधर सिरोही राज्य में शान्ति बनाए रखना सदैव एक समस्या ही रही थी। सन् १६१० ई० में राव सुरताण की मृत्यु के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र राजसिंह वहाँ का शासक बना, तब उसके निर्बल शासन के फलस्वरूप अनेकों पारस्परिक झगड़े उठ खड़े हुए और वे निरन्तर बढ़ते ही गए। राव सुरताण का चचेरा भाई प्रथीराज सूजावत भी अपने भतीजे राजसिंह का विरोधी हो गया और अन्त में सन् १६१८ ई० के लगभग उसने राजसिंह को मरवा डाला ।

मेवाड़ और ईडर के शासकों की सहायता प्राप्त कर राजसिंह के पक्ष वालों ने उसके बालक पुत्र पृथ्वीराज को सिरोही की गद्दी पर बैठाया, विद्रोही प्रथीराज को सिरोही राज्य से निकाल कर बाहर किया तथा बालक राव की अवस्यकता में वे राज्य के शासन-प्रबन्ध को किसी न किसी तरह चलाते ही गए।

जालोर राज्य के शासक ग़ज़नी ख़ाँ बिहारी के उत्तराधिकारी पहाड़ ख़ाँ ने अपनी सुयोग्य माता को मरवा डाला था। जहाँगीर ने इस अपराध के लिए पहाड़ ख़ाँ को फरवरी, १६१७ ई० में मृत्यु-दण्ड दिया, तथा जालोर का परगना मारवाड़ राज्य के उत्तराधिकारी कुँअर गजसिंह को दे दिया गया। सेना भेज कर गजसिंह ने अगस्त ३०, १६१७ ई० को जालोर जीत लिया। कुछ समय बाद पहाड़ ख़ाँ के भाई-बेटों तथा अन्य पठान साथी-सम्बन्धियों को जब भीनमाल से भी निकाल बाहर किया गया, तब वे राजस्थान छोड़ कर गुजरात जा पहुँचे जहाँ उन्होंने पालनपुर राज्य की स्थापना की।

राजस्थान में अब युग पलट रहा था, और पिछले काल के सारे महत्वपूर्ण राजस्थानी शासक एक एक कर इस लोक से बिदा लेने लगे। सूरसिंह की मृत्यु होने पर (सितम्बर ७, १६१९ ई०) उसका ज्येष्ठ पुत्र गजसिंह, जो अपने पिता के जीवन-काल में ही शाही मनसबदार बन गया था, मारवाड़ का शासक बना। राणा अमर का देहान्त हो जाने पर (जनवरी २६, १६२० ई०) जहाँगीर का सुपरिचित कुँअर कर्ण मेवाड़ की गद्दी पर बैठा। अत्यधिक मदिरा-पान के कारण नवम्बर, १६२१ ई० में आम्बेर के शासक राजा भावसिंह की भी जीवन-लीला समाप्त हो गई। वह स्वयं निस्सन्तान था एवं उसका भतीजा महासिंह भी मई, १६१७ ई० में मर चुका था। अतएव जहाँगीर ने महासिंह के पुत्र जयसिंह को, जो महासिंह

की मृत्यु के बाद से ही शाही मनसबदार बन गया था, अब आम्बेर का शासक बनाया तथा उसका मनसब बढ़ा कर दो हज़ारी का कर दिया। जयसिंह के आम्बेर की राजगद्दी पर बैठते ही उस कछवाहा राजघराने के इतिहास में एक अतीव महत्वपूर्ण गौरवशाली अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

गजसिंह और जयसिंह मुग़ल सेना के उच्चाधिकारी बन कर शाही सेवा में लग गए, तथा राणा कर्ण मेवाड़ राज्य के शासन को सुसंगठित करने लगा। युगों तक चलने वाले स्वातन्त्र्य-युद्ध के समय उस राज्य का अत्यधिक भाग मुग़लों के अधिकार में था। अब उस सारे प्रदेश पर पुनः मेवाड़ राज्य का अधिकार हो गया था, एवं वहाँ की शासन-व्यवस्था में अनेकानेक सुधार अत्यावश्यक हो गए थे। इन सुधारों तथा शान्ति-स्थापना के फलस्वरूप मेवाड़ में व्यापार और कृषि की बहुत उन्नति होने लगी।

सन् १६१९ ई० के बाद जहाँगीर का स्वास्थ्य निरन्तर गिरता ही गया। शासन-कार्य में भाग लेना उसके लिए असंभव-सा होगया। उसकी प्रियतमा साम्राज्ञी नूरजहाँ पहिले भी शासन में बहुत-कुछ हस्ताक्षेप करती थी; अब तो सारा शासन-कार्य ही उसके हाथ में चला गया। साम्राज्य के उत्तराधिकार का प्रश्न भी अधिकाधिक उलझता जा रहा था। मेवाड़ और दक्षिण की विजयों तथा अक्तूबर, १६१७ ई० में शाहजहाँ की उपाधि पाने के बाद शाहज़ादे ख़ुर्रम को अपने भावी मुग़ल सम्राट् होने की पूरी-पूरी आशा हो गई थी। जनवरी, १६२२ ई० में खुसरो की हत्या के बाद तो कोई आशंका भी नहीं रह गई थी। किन्तु शाहजहाँ और नूरजहाँ में उत्कट वैमनस्य चल रहा था। अतएव नूरजहाँ के हाथों अपने भविष्य के बिगड़ने की आशंका से शाहजहाँ बहुत ही व्याकुल हो उठा, और अपने पिता के साथ किसी भी प्रकार

के समझौते की आशा नहीं रह जाने पर दिसम्बर, १६२२ ई० में उसने मालवा में विद्रोह का झण्डा खड़ा किया तथा वह ससैन्य आगरा की ओर बढ़ा।

शाहजहाँ के विद्रोह को दबाने के लिए जहाँगीर भी पंजाब से ससैन्य आगरा की ओर चल पड़ा, और मार्च १९, १६२३ ई० को बिलोचपुरा के युद्ध में शाही सेना ने शाहजहाँ को पराजित किया। शाहजहाँ वापस लौट पड़ा और राह में आम्बेर को लूटता हुआ वह माण्डू पहुँचा। उसके पीछे-पीछे जहाँगीर भी ससैन्य राजस्थान की ओर बढ़ा और मई ९, १६२६ ई० को उसने अजमेर में पड़ाव किया। इस विद्रोह में राजस्थान के किसी भी शासक ने शाहजहाँ का साथ नहीं दिया, तथा जहाँगीर का आदेश पाकर सब ही प्रमुख नरेश उसकी सेवा में उपस्थित हो गए। मेवाड़ के राणा कर्ण का छोटा भाई राजा भीम इस विद्रोह के प्रारम्भ से ही शाहजहाँ के साथ था, तथापि जहाँगीर के अजमेर पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद अपने कुँअर जगतसिंह को वहाँ शाही दरबार में भेज कर राणा कर्ण ने भी जहाँगीर के प्रति अपनी राजभक्ति का सुस्पष्ट प्रमाण दिया‡।

---

‡ आम्बेर से माण्डू जाते समय राह में उदयपुर जाकर राणा कर्ण से शाहजहाँ के भेंट करने एवं विदा होते समय राणा से भाईचारे में पगड़ी बदलने की जिस घटना का उल्लेख ओझा ने (उदय०, २, पृ० ५१४–५) एवं वीरविनोद में (२, पृ० २७०–३, २८९) किया है, समकालीन ऐतिहासिक आधार-ग्रंथ उसके बारे में पूर्णतया मूक हैं। जन-श्रुति के अनुसार यदि अपने विद्रोह-काल में कभी शाहजहाँ उदयपुर गया होगा तो वह केवल इसी समय (अप्रेल-मई, १६२३ ई०) हो सकता है, तथा तब भी वह वहाँ इने-गिने दिन ही ठहर सका होगा। यह स्पष्ट है कि इस यात्रा का कोई भी राजनैतिक परिणाम नहीं हुआ।

शाहजहाँ का पीछा करने को शाहज़ादे परवेज़ और महाबत ख़ाँ के सेनापतित्व में शाही सेना मई ५ को ही अजमेर के पास से चल पड़ी थी, और जुलाई माह प्रारम्भ होते-होते मालवा में जा पहुँची। जहाँगीर स्वयं अजमेर में ही ठहरा रहा, और ताप्ती पार मुग़ल साम्राज्य की दक्षिणी सीमा से बाहर माहूर किले में अपना माल-असबाब रख शाहजहाँ के स्वयं गोलकुण्डा राज्य की ओर जाने की सूचना पाने के बाद ही जहाँगीर नवम्बर १४, १६२३ ई० को अजमेर से कश्मीर के लिये रवाना हुआ।

उधर गोलकुण्डा से चढ़ाई कर शाहजहाँ ने उड़ीसा, बंगाल एवं बिहार पर आधिपत्य कर लिया, परन्तु जुलाई, १६२४ ई० में भूँसी के युद्ध में पराजित होते ही इसका भी अंत हो गया और शाहजहाँ को विवश होकर उड़ीसा, तेलिंगाना और गोलकुण्डा की राह वापस दक्षिण लौटना पड़ा। वहाँ बुरहानपुर किले को जीतने के उसके सारे प्रयत्न बूँदी के राव रतन हाड़ा सरबुलन्द राय की वीरता एवं दृढ़ता के कारण विफल हुए, और शाहज़ादे परवेज़ एवं महाबत ख़ाँ के उधर ससैन्य आने की सूचना मिलने पर शाहजहाँ बालाघाट की ओर चला गया। निरन्तर विफलता का सामना करते-करते निराश होकर सन् १६२५ ई० के अंतिम दिनों में शाहजहाँ ने क्षमा-याचना कर समझौते के लिए प्रार्थना की, तथा कुछ माह बाद तत्सम्बन्धी जहाँगीर के आदेश जान कर उनका अक्षरश: पालन किया। परन्तु वह स्वयं दक्षिण में नासिक के पास ही ठहरा रहा।

महाबत ख़ाँ की इन लगातार सफलताओं ने नूरजहाँ को महाबत ख़ाँ के प्रति सशंक बना दिया और अब नूरजहाँ तथा महाबत ख़ाँ में कशमकश प्रारम्भ हुई। पहिले तो महाबत ख़ाँ को पूर्ण सफलता

मिली और मार्च, १६२६ ई० में जहाँगीर को उसने अपने हाथ की कठ-पुतली बना लिया। सुदूर नासिक के पास इस घटना की सूचना मिलते ही एक हज़ार सवारों को लेकर शाहजहाँ अपने पिता की सहायतार्थ जून ७, १६२६ ई० को तत्परतापूर्वक वहाँ से चल पड़ा। राजा भीम के पुत्र किशन सीसोदिया के राह में ही मर जाने से अजमेर पहुँचते-पहुँचते उसके सवारों की संख्या घट कर आधी ही रह गई थी। अतएव सीधा पंजाब न जाकर अपने बचे-खुचे सवारों को लेकर वह अजमेर से नागोर गया तथा जोधपुर एवं जैसलमेर राज्यों में होता हुआ अक्तूबर, १६२६ ई० के प्रारम्भ में वह थत्ता पहुँचा।

परन्तु शाही दरबार में महाबत ख़ाँ का पूर्णधिपत्य स्थायी नहीं हो सका और सितम्बर माह में वहाँ पुनः नूरजहाँ का प्रभुत्व हो गया; तब महाबत ख़ाँ पंजाब छोड़ कर राजस्थान की ओर चल दिया। उधर थत्ता के आस-पास एकाध माह ठहरने के बाद शाहजहाँ भी गुजरात की राह वापस दक्षिण को लौट गया, और दिसम्बर, १६२६ ई० का अन्त होते-होते वह नासिक होता हुआ जुन्नर पहुँचा। महाबत ख़ाँ ने भी कुछ समय शान्तिपूर्वक जालोर में बिताया और इसी बीच शाहजहाँ के साथ समझौता कर फरवरी, १६२७ ई० में वह भी उसके साथ जुन्नर जा मिला।

शाहजहाँ को अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं करना पड़ी। कश्मीर से लाहौर को लौटते समय राह में ही अक्तूबर २९, १६२७ ई० को जहाँगीर की मृत्यु हो गई, जिसकी सूचना शाहजहाँ को बीस दिन बाद जुन्नर में मिली। परवेज़ पहले ही मर चुका था। पुनः नूरजहाँ का भाई और शाहजहाँ का श्वसुर आसफ़ ख़ाँ, जो इस समय मुग़ल साम्राज्य का प्रमुख प्रबन्धकर्ता था, शाहजहाँ के पक्ष में था।

अपने मुग़ल सम्राट् बनने में शाहजहाँ को कोई भी बाधा नहीं देख पड़ी। अतएव महाबत ख़ाँ को साथ लेकर शाहजहाँ नवम्बर २२, १६२७ ई० को जुन्नर से चल पड़ा और गुजरात की राह वह आगरा की ओर बढ़ा। अहमदाबाद से ईडर होता हुआ जनवरी १, १६२८ ई० को वह मेवाड़ में गोगुन्दा पहुँचा। अब तक शाहजहाँ ने स्वयं को मुग़ल सम्राट् घोषित नहीं किया था, एवं राणा कर्ण स्वयं वहाँ जाकर शाहजहाँ से मिला तथा अपनी पुरानी मैत्री को सुदृढ़ किया। गोगुन्दा से शाहजहाँ माण्डल गया और जनवरी १४, १५२८ ई० को अजमेर पहुँचा, जहाँ उसने महाबत ख़ाँ को अजमेर प्रान्त का सूबेदार बनाया। दस दिन बाद शाहजहाँ आगरा पहुँचा। आसफ़ ख़ाँ ने जनवरी १९, १६२८ ई० को ही लाहौर में शाहजहाँ को मुग़ल सम्राट् घोषित कर दिया था। शुभ मुहूर्त देख कर फरवरी ४ के दिन शाहजहाँ आगरा में सिंहासनारूढ़ हुआ।

शाहजहाँ के विद्रोह-काल में यदा-कदा शाही सेनाएँ राजस्थान में होकर गुज़रती रहीं। शाहजहाँ स्वयं भी दो बार राजस्थान में होकर निकला था। परन्तु इन सब का राजस्थान की राजनैतिक तथा आन्तरिक शान्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। राणा कर्ण के छोटे भाई भीम के अतिरिक्त किसी भी राजस्थानी नरेश ने इस विद्रोह में शाहजहाँ का साथ नहीं दिया था। मारवाड़ का राजा गजसिंह, आम्बेर का जयसिंह, बूंदी का राव रतन हाड़ा सरबुलन्द राय और संभवतः बीकानेर का राजा सूरसिंह भी जहाँगीर के आदेशानुसार शाहजहाँ के विरुद्ध लड़े थे। परन्तु जहाँगीर की मृत्यु के बाद जब दक्षिण का सूबेदार ख़ाँजहाँ लोदी शाहजहाँ का साथ देने को तैयार नहीं हुआ तब ये सारे राजस्थानी नरेश ख़ाँजहाँ को छोड़ कर राजस्थान को लौट आए। आगरा जाते हुए राह में ही राजा जय-

सिंह शाहजहाँ की सेवा में जा पहुँचा था। उसके आगरा पहुँचने के बाद अन्य राजस्थानी नरेश भी शाही दरबार में उपस्थित हो गये। कुछ हिचकिचाहट के बाद गजसिंह भी फरवरी १३, १६२८ ई० को शाही दरबार में पहुँचा। सिंहासनारूढ़ होने के सुअवसर पर जयसिंह तथा सूरसिंह के मनसबों में वृद्धि की गई। गजसिंह एवं रतन हाड़ा, दोनों का ही पंच-हज़ारी मनसब पहिले के समान रहने दिया गया। विद्रोह-काल में अपने प्रति उनके विरोध को पूर्णतया भुला कर शाहजहाँ ने इन सभी राजस्थानी नरेशों को अपना प्रबल समर्थक बना लिया और अब वे सब अपनी परम्परागत राज्यनिष्ठा तथा स्वामिभक्ति के साथ शाहजहाँ की आज्ञाओं का पालन करने के लिए प्रवृत्त हुए। शाहजहाँ के शासन-काल में दक्षिणी भारत के अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा राज्यों के विरुद्ध ही नहीं सुदूर मध्य एशिया में बलख़ तथा बदख़्शाँ पर चढ़ाई करने तथा कन्दहार के किले का तीन-तीन बार घेरा डालने में भी राजस्थान के इन्हीं राजपूत नरेशों, उनके भाई-बेटों और सगे-संबन्धियों ने प्रमुख रूपेण महत्वपूर्ण भाग लिया।

गोगुन्दा में शाहजहाँ से भेंट कर उदयपुर लौटने पर राणा कर्ण बीमार पड़ गया तथा मार्च, १६२८ ई० में उसका शरीरान्त हो गया। तब उसका ज्येष्ठ कुँअर जगतसिंह मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठा। सन् १६१५ ई० में मेवाड़ के कुँअर कर्ण के नाम शाही मनसब के फ़रमान के जारी होने के समय से ही डूंगरपुर, बाँसवाड़ा तथा देवलिया राज्यों के शासक मेवाड़ की आधीनता में किये जाने से असन्तुष्ट थे, एवं मुग़ल सम्राट् के साथ अपने राज्यों का सीधा संबन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। अवसर पाकर शाहजहाँ के राज्यारोहण के समय डूंगरपुर के रावल पूंजा तथा बाँसवाड़े के रावल समरसी ने शाही मनसब प्राप्त कर ही लिया। देवलिया के रावत

जसवन्तसिंह ने शाही मनसब तो प्राप्त नहीं किया, किन्तु अजमेर के सूबेदार महाबत ख़ाँ तथा शाहजहाँ के विश्वस्त अधिकारी जाँनिसार ख़ाँ के साथ मिल कर वह राणा जगतसिंह के विरुद्ध आयोजन करने लगा। राणा जगतसिंह ने क्रुद्ध होकर रावत जसवन्तसिंह को उदयपुर बुलवाया तथा सन् १६२९ ई० के लगभग धोखा देकर उसे वहीं मरवा डाला। तब जसवन्तसिंह का पुत्र हरीसिंह देवलिया की गद्दी पर बैठा तथा तदनन्तर शाही दरबार में पहुँच कर अपने राज्य को मेवाड़ की आधीनता से निकलवा लिया। डूंगरपुर और बाँसवाड़ा राज्यों को अधीन करने के लिए भी जगतसिंह ने वहाँ सेना भेजी। रावल समरसी ने तो मेवाड़ की आधीनता स्वीकार कर ली, परन्तु डूंगरपुर के विरुद्ध भेजी गई सेना डूंगरपुर नगर को लूटने तथा वहाँ के राजमहलों को नष्ट-भ्रष्ट करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर सकी। पूंजा अब शाही दरबार में जा पहुँचा, तथा विद्रोही ख़ाँजहाँ लोदी को दबाने तथा अहमदनगर राज्य को पूर्णतया जीतने के लिए जब दिसम्बर, १६२९ ई० में शाहजहाँ ससैन्य दक्षिण गया तब पूंजा भी उस शाही सेना के साथ था और कोई दो वर्ष से भी अधिक समय तक वहाँ निरन्तर शाही सेना में सेवा करता रहा। पूंजा की इन सेवाओं से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने उसका मनसब भी बढ़ा दिया। इसी प्रकार सिरोही राज्य को भी अपने आधीन करने के राणा जगतसिंह के प्रयत्न विफल हुए। उसकी इन कार्यवाहियों के कारण शाहजहाँ जगतसिंह से बहुत ही अप्रसन्न हो गया था, अतएव सन् १६३३ ई० के प्रारम्भ में शाही सेवा के लिए मेवाड़ की सेना दक्षिण भेज कर जगतसिंह ने प्रारम्भिक समझौते की शर्तों को पूरा किया। पुनः दिसम्बर, १६३३ ई० में कई बहुमूल्य भेंटें लेकर जगतसिंह ने कल्याण झाला को शाहजहाँ के पास

भेजा, और उसी के साथ भेजे गए प्रार्थनापत्र में अपना कथन लिख कर उसने शाहजहाँ को संतुष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया, जिससे शाहजहाँ ने इस बार जगतसिंह के विरुद्ध कोई कार्यवाही न की।

शाहजहाँ दक्षिण में ही था, तब वहाँ बालाघाट में नवम्बर २२, १६३१ ई० को बूंदी के वीर शासक राव रतन हाडा की मृत्यु हो गई। वह जहाँगीर का एक विश्वस्त सेनानायक था। बूंदी की राजगद्दी पर बैठने के कुछ ही माह बाद जहाँगीर ने उसे 'सरबुलन्द राय' की पदवी दी थी, जिस नाम से ही उसके समकालीन फारसी इतिहास-ग्रन्थों में उसका प्रायः उल्लेख किया गया है। उसका मनसब बढ़ते-बढ़ते पाँच हज़ारी ज़ात—पाँच हज़ार सवार का हो गया था। बुरहानपुर के किले पर विद्रोही शाहजहाँ तथा अहमदनगर राज्य के सेनापतियों का अधिकार न होने देने के पुरस्कार-स्वरूप जहाँगीर ने उसे 'राव राजा' का नया खिताब दिया था जो उस घराने में आज तक चला आया है। राव रतन का ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ अपने पिता के जीवन-काल में ही मर चुका था, एवं अब गोपीनाथ का बड़ा लड़का शत्रुशाल बूंदी का शासक बना, और प्रारम्भ में ही उसे तीन हज़ारी ज़ात—दो हज़ार सवार का मनसब मिला।

शाहजहाँ राव रतन के दूसरे पुत्र माधोसिंह हाड़ा से भी बहुत प्रसन्न था। विद्रोही ख़ाँजहाँ लोदी को घातक बरछा मार कर उसने शाहजहाँ की विशेष सेवा की थी और उसी के पुरस्कार-स्वरूप मार्च, १६३१ ई० में उसका मनसब बढ़ा कर दो हज़ारी ज़ात—एक हज़ार सवार का कर दिया गया था। अब राव रतन हाड़ा के मरने पर शाहजहाँ ने माधोसिंह को भी विशेष रूपेण पुरस्कृत करने का निश्चय किया। दिसम्बर १, १६३१ ई० को उसने कोटा

और पलायथा के परगने वंशपरम्परागत जागीर के रूप में माधोसिंह को दिये एवं उसके मनसब में पाँच सदी ज़ात–पांच सौ सवारों की वृद्धि की । इस प्रकार राजस्थान में कोटा के नए स्वतन्त्र हाड़ा राज्य की स्थापना हुई । माधोसिंह हाड़ा जीवन भर तत्परता के साथ साम्राज्य की सेवा करता रहा और मार्च, १६४८ ई० में जब उसकी मृत्यु हुई तब उसका मनसब तीन हज़ारी ज़ात–तीन हज़ार सवार का हो गया था । शाही सेवा से यदा-कदा अवकाश मिल जाने पर माधोसिंह ने अपने नए राज्य की शासन-व्यवस्था को संगठित करने का भी प्रयत्न किया था ।

शाहजहाँ के विद्रोह-काल में असीरगढ़ के किलेदार गोपालदास गौड़ ने उसका साथ दिया था, एवं थत्ता के किले का घेरा लगाते हुए अक्तूबर ,१६२६ ई० में अपने बड़े लड़के बलराम के साथ वह खेत रहा था, अतएव राज्यारूढ़ होते ही शाहजहाँ ने गोपालदास के दूसरे लड़के विट्ठलदास गौड़ को तीन हज़ारी मनसब तथा राजा का खिताब देकर पुरस्कृत किया । मनसब की जागीर के रूप में उसे राजस्थान में सरवाड़, मालपुरा, सारसोप आदि परगने दिये गये । अप्रेल, १६३१ ई० में उसे रणथम्भोर की किलेदारी मिली, जो उसकी मृत्यु के बाद उसीके उत्तराधिकारी राजा अनिरुद्ध गौड़ को ही दी गई । अप्रेल, १६३३ ई० में विट्ठलदास अजमेर का फ़ौजदार नियुक्त हुआ, और दो वर्ष बाद कुछ समय के लिए अजमेर की सूबेदारी भी उसे मिल गई । यों शाहजहाँ के राज्यारूढ़ होने के बाद कोई दस वर्ष तक राजस्थान में गौड़ों का विशेष महत्व रहा था, जो फरवरी, १६३७ ई० में विट्ठलदास को धंधेरा परगना वतन के रूप में वंशपरम्परागत मिलने के बाद ही कहीं कम हुआ ।

उधर मारवाड़ के राजा गजसिंह का ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह

अपने पिता के जीवन-काल में ढाई हज़ारी ज़ात–डेढ़ हज़ार सवार का मनसब प्राप्त करके भी अपने पिता का उत्तराधिकारी बन मारवाड़ की राजगद्दी पर नहीं बैठ सका। गजसिंह की इच्छा को पूरी करने के लिए मई, १६३८ ई० में उसकी मृत्यु के बाद शाहजहाँ ने उसके दूसरे लड़के जसवन्तसिंह को मारवाड़ का शासक नियुक्त किया। राव अमर को नागोर का परगना जागीर में लेकर ही संतोष कर लेना पड़ा। उसका मनसब बढ़ते-बढ़ते चार हज़ारी ज़ात–तीन हज़ार सवार का हो गया था। परन्तु आपसी मनमुटाव के कारण जुलाई २५, १६४४ ई० को शाहजहाँ की उपस्थिति में ही मीर बख़्शी सलाबत ख़ाँ को मारने पर वहाँ उपस्थित अन्य मनसबदारों ने उसे वहीं तत्काल मार डाला। राव अमर की इस उद्धतता की उपेक्षा कर शाहजहाँ ने उसके पुत्र रायसिंह को नागोर का शासक बनाया। जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद इसी रायसिंह के उत्तराधिकारी राव इन्द्रसिंह को मारवाड़ का कठ-पुतली राजा बना कर वहाँ अपना पूर्णाधिपत्य बनाए रखने का औरंगज़ेब ने विफल प्रयत्न किया था।

पुनः गजसिंह की मृत्यु होने पर पूरे चार वर्ष तक खालसा रहने के बाद जालोर का परगना अगस्त ३१, १६४२ ई० के दिन गजसिंह के चचेरे भाई महेशदास को शाहजहाँ ने वतन के रूप में दे दिया, जिससे राजस्थान में जालोर के एक और नए राठौड़ राज्य की स्थापना हुई। मार्च, १६४७ ई० में महेशदास की मृत्यु हो जाने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र राव रतन जालोर का शासक बना। परन्तु कोई नौ वर्ष तक जालोर पर शासन करने के बाद आर्थिक कठिनाइयों के कारण राव रतन के विशेष प्रार्थना करने पर अप्रेल, १६५६ ई० में जालोर के बदले उसे मालवा में रतलाम परगना वतन के रूप में मिला। तब जालोर परगना मारवाड़ के जसवन्त-

सिंह को दिया गया और कोई चौदह वर्ष के अस्तित्व के बाद जालोर के इस स्वाधीन राज्य का अन्त हो गया।

शाहजहाँ के राज्यारूढ़ होने के समय से ही आम्बेर का कछवाहा शासक राजा जयसिंह बड़ी तत्परतापूर्वक मुग़ल साम्राज्य की सेवा कर रहा था। सुदूर दक्षिण में विद्रोही ख़ाँजहाँ लोदी एवं अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के स्वाधीन राज्यों पर निरन्तर होने वाली सारी चढ़ाइयों में वह सम्मिलित हुआ तथा उनमें उसने महत्वपूर्ण भाग लिया था। उसकी वीरता तथा अडिग धैर्य का शाहजहाँ को अनेकों बार परिचय मिलता रहा था। मार्च, १६३७ ई० में उसका मनसब बढ़ा कर पांच हज़ारी ज़ात–चार हज़ार सवार का कर दिया गया था, तथा राजस्थान में रणथम्भोर सरकार के अन्तर्गत खालसा का चाटसू परगना उसे ज़ागीर में मिला। दो वर्ष बाद उसे "मिर्ज़ा राजा" का खिताब मिला, तथा सन् १६४१ ई० में उसके मनसब में एक हज़ार सवार बढ़ा दिये गये। बल्ख़ और बदख़्शाँ के युद्धों में तथा कंदहार के तीनों घेरों के अवसर पर भी मिर्ज़ा राजा जयसिंह ने अनेकों बार उल्लेखनीय सेवाएँ कीं, जिसके पुरस्कार-रूपेण मेवात में कामा, आदि परगने उसके दूसरे पुत्र कीरतसिंह को वतन के रूप में दिये गए तथा जयसिंह के मनसब में भी अधिक सवार दो-अस्पा कर दिये गए। परन्तु शाहज़ादा दारा मिर्ज़ा राजा से अप्रसन्न था जिसके फलस्वरूप शाहजहाँ के शासन-काल में उसकी सेवाओं का उसे उचित पुरस्कार नहीं मिल सका।

इसके विपरीत मारवाड़ की राजगद्दी पर बैठने के समय से ही शाहजहाँ ने जसवन्तसिंह के प्रति विशेष कृपा दिखाई। उस समय जसवन्तसिंह की वय पूरे बारह वर्ष की भी नहीं थी, जिससे शाहजहाँ ने पहिले राजसिंह कूँपावत तथा उसकी मृत्यु के बाद महेशदास

चाँपावत को विशेष रूपेण उसका प्रधान मन्त्री नियुक्त करने की आवश्यक्ता समझी थी, तथापि प्रारम्भ में ही उसे चार हज़ारी ज़ात–चार हज़ार सवार का मनसब दिया गया, जो बढ़ते-बढ़ते जनवरी, १६५४ ई० में छः हज़ारी ज़ात–छः हज़ार सवार का हो गया, तथा तब ही उसे 'महाराजा' की उपाधि भी दी गई। कोई विशेष उल्लेखनीय सेवाएँ न करने पर भी जसवन्तसिंह के प्रति इस विशेष कृपा के कारण ही जयसिंह और उसमें जो प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हुई उसने शीघ्र ही कछवाहा-राठौड़ प्रतिस्पर्द्धा का स्वरूप ले लिया; आगे चल कर वह कई बार राजस्थान के लिए विशेष रूप से घातक प्रमाणित हुई।

राणा जगतसिंह का शाहजहाँ के साथ प्रारम्भ से ही मनमुटाव हो गया था, जिससे अंत तक वह हृदय से शाहजहाँ का विरोधी रहा। परन्तु अपनी सैनिक असमर्थता के कारण प्रकट रूप से विरोध के अवसर टालने के लिए वह प्रयत्नशील रहता था। यदा-कदा वह शाहजहाँ की सेवा में बहुमूल्य भेंट भेजता था। बल्ख़ और बदख़्शाँ के युद्धों में प्राप्त मुग़ल सफलताओं के लिए जगतसिंह की ओर से शाहजहाँ को बधाई देने के लिए मार्च, १६४८ ई० में उसका कुँअर राजसिंह शाही दरबार में आगरा भी पहुँचा था। परन्तु सन् १६४९ ई० के बाद जब शाहजहाँ कंदहार के मामले में बहुत उलझ गया, तब उपयुक्त अवसर पाकर जगतसिंह ने सन् १६१५ ई० के समझौते की उपेक्षा की, और चित्तोड़ के किले की दीवारें तथा दरवाज़े बनवाने लगा। कन्दहार के घेरों से अवकाश पाने से पहिले ही अप्रेल १०, १६५२ ई० को राणा जगतसिंह का देहान्त हो गया और उसके साथ ही राजस्थान के इतिहास का यह शान्ति-समृद्धि काल भी समाप्त हो गया। अब जगतसिंह का ज्येष्ठ पुत्र राजसिंह मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठा, और उसने मुग़ल साम्राज्य के प्रति मेवाड़ की नीति को इस तरह

१४

बदल दिया जिससे राजस्थान में मुग़ल आधिपत्य के प्रति विरोध का पुनः प्रारम्भ हो गया।

यद्यपि इस काल का राजस्थान का इतिहास महत्वपूर्ण राजनैतिक घटनाओं से विहीन ही है, राजनैतिक, आर्थिक, एवं सांस्कृतिक दृष्टि से यह काल किसी भी प्रकार महत्वहीन नहीं कहा जा सकता है। मेवाड़ के विरोध का अन्त होने के बाद कुछ युगों के लिए तो राजस्थानी शासकों का सारा दृष्टि-कोण ही बदल गया था। मुग़ल साम्राज्य के प्रति उनके हृदय में कोई सुप्त विरोधी भावना भी रह नहीं गई थी। मुग़ल सम्राटों के कृपापात्र बन कर उनसे बड़े-बड़े मनसब तथा आदर-सम्मान प्राप्त करने के लिए उनमें होड़-सी लग गई थी। पुनः उनकी राजभक्ति अब व्यक्तिगत न रह कर प्रधानतया साम्राज्य तथा सिंहासन पर ही केन्द्रित हो गई थी। उधर राजस्थान पर अपनी सर्वोपरि सत्ता के स्थायी रूपेण स्थापित हो जाने के बाद मुग़ल सम्राट् राजस्थान में अनेकानेक नए छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना करने लगे तथा बड़े राज्यों के आधीन छोटे राज्यों को उनकी आधीनता से निकाल कर उनका मुग़ल साम्राज्य के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की नीति भी उन्होंने अपनाई। किशनगढ़, कोटा, नागोर आदि नए राज्यों की स्थापना का पहिले ही उल्लेख किया जा चुका है। इसी प्रकार राजा भीम सीसोदिया की स्वामिभक्ति पूर्ण सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप शाहजहाँ ने उसके पुत्र रायसिंह को टोंक तथा टोड़े का एक स्वतन्त्र राज्य दिया था, जो रायसिंह की मृत्यु के बाद स्थायी नहीं बन सका। इसके विपरीत राणा अमर के दूसरे पौत्र, सुजानसिंह सीसोदिया को जब शाहजहाँ ने फूलिया परगना दिया, तब उसने शाहपुरा नगर के साथ ही स्थायी रूपेण शाहपुरा राज्य की स्थापना की। मुग़ल

सम्राटों की इसी नीति के फलस्वरूप जहाँ मुग़ल साम्राज्य की नींव राजस्थान में अधिकाधिक सुदृढ़ हो गई, वहाँ राजस्थान में पारस्परिक विरोध एवं फूट के कई एक नए कारण भी उत्पन्न हो गए। अपने दोनों पड़ोसी राठौड़ राज्यों के लिए नागोर का राज्य निरन्तर शूलवत बना रहा। कोटा-बूंदी की आपसी प्रतिस्पर्द्धा ने आगे चल कर भयंकर स्वरूप ग्रहण किया। अपने चारों पड़ोसी गुहिल-सीसोदिया राज्यों पर पुनः अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए प्रयत्न करना और उसी में अपनी सारी शक्ति लगा देना ही अगले कई एक युगों में मेवाड़ राज्य का एकमात्र लक्ष्य रह गया।

आर्थिक दृष्टि से भी यह काल बहुत ही महत्वपूर्ण है। राजस्थान में एक बार शान्ति स्थापित हो जाने पर वह प्रान्त दिनोंदिन समृद्ध होने लगा और वहाँ की आमदनी भी बड़ी ही तेज़ी से बढ़ने लगी। शाहजहाँ के राज्यारूढ़ होने के समय वह आईन-इ-अकबरी में दी हुई आमदनी की ड्योढ़ी हो चुकी थी। अगले बीस वर्षों में वह दुगनी से भी अधिक हो गई। सन् १६४७ ई० में राजस्थान में पड़ने वाले भयंकर दुष्काल का भी वहाँ कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। सांभर झील से नमक बनाने का धंधा अधिकाधिक उन्नति करता जा रहा था और यहाँ ही के बने हुए नमक का आगरा, अवध और इलाहबाद के सूबों में उपयोग किया जाता था। सांभर में बने हुए इस नमक पर लगाए गए कर से मुग़ल साम्राज्य को प्रति वर्ष कई लाख रुपयों की आमदनी हो जाती थी। परन्तु सन् १६२५ ई० के लगभग भारत में एकाएक ताँबे का मूल्य बढ़ जाने से विदेशी ताँबा भारत में आने लगा, जिसके साथ व्यापारिक प्रतियोगिता करना असंभव होने के कारण राजस्थानी ताँबे की

खदानों से ताँबा निकालने का उद्योग एकबारगी ही बंद हो गया।

साहित्यिक क्षेत्र में जहाँ एक ओर सुन्दरदास नें संत-कवि-परम्परा को अधिकाधिक सुदृढ़ तथा सम्पन्न बनाया, वहाँ 'बिहारी-सतसई' की रचना कर महाकवि बिहारी ने हिन्दी साहित्य को एक अपूर्व रत्न प्रदान किया। संत सुन्दरदास दादूदयाल का शिष्य था। शास्त्रज्ञ पंडित होते हुए भी इस संत-साधक कवि ने भावनापूर्ण सत्साहित्य की सृष्टि की। हिन्दी साहित्य के निर्गुणोपासक संत कवियों में सुंदर-दास का विशेष स्थान है। साहित्यिक दृष्टि से भी उसकी रचना का महत्व किसी प्रकार कम नहीं माना जा सकता। आंबेर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह के दरबार में रह कर महाकवि बिहारी ने अपनी अनुपम सतसई की रचना की थी तथा उसके लिए बिहारी को तब समुचित आदर और पुरस्कार भी मिला था। संस्कृत काव्य-धारा भी राजस्थान में यदा-कदा बहती रहती थी, और राणा जगत-सिंह के संरक्षण में रह कर कवि विश्वनाथ ने 'जगत्-प्रकाश' नामक काव्य की रचना की थी।

मुग़ल साम्राज्य के साथ संधि हो जाने के बाद ही उदयपुर नगर को पूरी तरह बसाने तथा उसे सुसज्जित करने का मेवाड़ के शासकों को अवसर मिला। राणा कर्ण ने उदयपुर के कई एक प्रधान राजमहल बनवाए और उदयपुर नगर के परकोटे का काम भी उसने प्रारंम्भ किया, जिसे उसके उत्तराधिकारी जगतसिंह ने पूरा किया। जगमन्दिर के कई महल भी जगतसिंह ने बनवाए थे। इस काल में बने हुए उदयपुर के इन राजमहलों की स्थापत्य कला में मुग़ल शैली का अत्यधिक प्रभाव स्पष्टतया देख पड़ता है। पुनः यद्यपि जगन्नाथराय के मंदिर की प्रतिष्ठा का कार्य उसकी मृत्यु के कुछ ही माह बाद हो सका, उसका निर्माण-कार्य भी जगतसिंह

के शासन-काल में ही हुआ था। डूंगरपुर राज्य में भी पूंजा ने गोवर्धननाथ के विशाल मंदिर का निर्माण कर सदियों पुरानी देव सोमनाथ के भव्य मंदिर की स्थापत्य-परम्परा को पुनर्जीवित किया। आम्बेर, जोधपुर तथा बीकानेर के राजमहलों में भी वहाँ के शासकों ने कई एक नए प्रासादों का निर्माण कर राजस्थान की स्थापत्य कला में सम्मिश्रित राजपूत-मुग़ल शैली के विकास में पूर्ण सहयोग दिया।

राजस्थानी चित्र-शैलियों के विकास के इतिहास में यह शान्ति-समृद्धि काल बहुत ही महत्वपूर्ण है। उनके क्रमिक विकास तथा पारस्परिक आदान-प्रदान की दृष्टि से इस काल में कई एक परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूपेण देख पड़ती हैं। एक ओर मुग़ल शैली का प्रभाव राजस्थान में निरन्तर बढ़ रहा था। गजसिंह के समय से ही जोधपुर में मुग़ल शैली में सिद्ध-हस्त चित्रकारों का प्राधान्य हो गया था, जिससे स्थानीय विशेषताओं को लेकर चित्रण करने वाले कलाकारों के लिए वहाँ कोई प्रोत्साहन नहीं रह गया था। परन्तु आम्बेर, आदि कला-केन्द्रों में राजपूत-मुग़ल शैलियों की जिस सम्मिश्रित कला का विकास हो रहा था, उसमें प्रारम्भिक मुग़ल शैली की कई महत्वपूर्ण विशेषताओं की पूर्ण उपेक्षा ही की गई थी। पुनः इस सम्मिश्रित शैली तथा राजस्थान की चित्र-कला का भी उत्तर मुग़ल कालीन मुग़ल चित्र-शैली पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा, जिससे कुछ विषयों को लेकर इस काल में बने हुए इन दोनों विभिन्न शैली के चित्रों में अत्यधिक साम्य पाया जाता है। मुग़ल दरबार के निरन्तर सहवास के फलस्वरूप राजस्थान के राजाओं, उनके सामन्तों तथा उच्च पदाधिकारियों की वेश-भूषा में होने वाले परिवर्तनों, मुग़ल स्थापत्य कला की नई शैली, तथा चित्रों के

संघटन की कल्पना, आदि पर पड़ने वाले नए प्रभावों का प्रतिबिम्ब समकालीन राजस्थानी शैली के चित्रों में भी देख पड़ने लगा। तथापि इस काल के चित्रों में पहिले की सी ही सादगी बनी रही। नारियों की वेश-भूषा में तब भी परिवर्तन नहीं हुआ था। पुनः राजस्थान के चित्रकार अनुदर्शन के लिए अब भी छाया-दर्शक रंगों का प्रयोग नहीं करते थे। इन चित्रों में अंकित रेखाओं में पिछले काल की-सी चंचलतापूर्ण गतिशीलता नहीं पाई जाती है, प्रत्युत उनमें देख पड़ता है उसका प्रौढ़, गांभीर्यपूर्ण, मर्यादा-प्रधान स्वरूप। बढ़ती हुई समृद्धि के साथ ऐश्वर्य की झलक एवं कर्मठ व्यक्तियों की भावुकता-मिश्रित दृढ़ता भी इस काल के चित्रों में स्पष्टतया दिखाई पड़ती है। पुनः अब 'बिहारी-सतसई' के दोहों को चित्रित करते समय उस युग की श्रृंगारपूर्ण विलासिता के दृश्यों को अंकित करने का चित्रकारों को अभूतपूर्व अवसर प्राप्त हुआ था। परन्तु उस काल का दैनिक जीवन राजदरबार के शिष्टाचार, नैतिक संयम के ऊपरी दिखावे तथा व्यावहारिक मर्यादा के बाह्य आवरण के भार से इतना दब गया था कि उसमें उन्मुक्त लास्य-लीला का प्रस्फुटन असंभव-सा हो गया। इस बंधनपूर्ण बोझिल वातावरण का आभास तत्कालीन चित्रों में भी आए बिना नहीं रहा, जिससे उनमें अत्यावश्यक सजीवता नहीं आ सकी।

५. राजस्थान में विरोध का प्रारंभ (१६५२–१६७८ ई०)

मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठने के बाद प्रारम्भ में तो राणा राजसिंह ने ऊपरी तौर से मुग़ल साम्राज्य के साथ पहिले की-सी ही मैत्री बनाए रखी; और मार्च, १६५३ ई० में कल्याण झाला के साथ

शाहजहाँ की सेवा में बहुमूल्य भेंटें, आदि भेज कर अपने राज्यारूढ़ होने की सूचना उसने मुग़ल सम्राट् को दी, जिस पर शाहजहाँ ने भी पूर्ववत् राजसिंह को पाँच हज़ारी मनसब दिया तथा ख़िलअत, आदि भेजे। पुनः प्रारम्भिक समझौते के अनुसार शाही आज्ञा का पालन कर राजसिंह ने भी भूपत सीसोदिया के नेतृत्व में मेवाड़ की थोड़ी बहुत सेना को, कुछ देरी से ही क्यों न हो, कन्दहार के तीसरे घेरे में भाग लेने के लिए अवश्य भेजा था। परन्तु हृदय से राजसिंह मुग़ल साम्राज्य का विरोधी था, एवं कन्दहार के तीसरे घेरे की उलझन से लाभ उठा कर वह भी चित्तोड़ के किले की मरम्मत के काम को चलाता ही गया।

अतएव कन्दहार के घेरे की समाप्ति के बाद जब शाहजहाँ दिल्ली लौट आया तथा जब मई-जून १६५४ ई० में शाही गुर्ज़बरदार अब्दुल बेग ने भी चित्तोड़ की मरम्मत के समाचार को सही बताया, तब चित्तोड़ पर चढ़ाई करने के लिए शाहजहाँ ने वज़ीर सादुल्ला ख़ाँ को सितम्बर, १६५४ ई० में ससैन्य रवाना किया और उसी माह के समाप्त होते-होते वह स्वयं भी दारा शिकोह के साथ आम्बेर होता हुआ अजमेर के लिए चल पड़ा। शाही सेना का सामना करने के लिए अत्युत्सुक होते हुए भी इस बार तो राजसिंह को शान्तिपूर्वक समझौता कर लेने का ही निश्चय करना पड़ा। खलीलपुर के पड़ाव पर उसके दूत दारा की सेवा में उपस्थित हुए और दारा के द्वारा ही राजसिंह ने शाहजहाँ से क्षमा-प्रार्थना की। मेवाड़ के युवराज को शाही दरबार में भेजने तथा प्रारम्भिक समझौते की सारी शर्तों का पूर्णतया पालन किये जाने पर विशेष आग्रह करते हुए, सारे मामले को शान्तिपूर्वक सुलझाने के लिए दारा का विश्वस्त कर्मचारी चन्द्रभान ब्राह्मण उदयपुर भेजा गया।

अक्तूबर २७, १६५४ ई० को शाहजहाँ अजमेर पहुँचा। सादुल्ला ख़ाँ ने चित्तोड़ के किले को खाली पाकर पूरे पन्द्रह दिन तक वहाँ के परकोटों, दरवाजों, बुर्जों आदि की तोड़-फोड़ की। अब चन्द्रभान द्वारा निर्दिष्ट बातों को स्वीकार करने के अतिरिक्त राजसिंह के लिए दूसरा कोई चारा नहीं रह गया था। पुर, माण्डल, बदनोर, आदि मेवाड़ राज्य के अनेकों परगने ज़ब्त कर लिए गए। इस चढ़ाई का प्रधान उद्देश्य पूरा हो गया था, अतएव नवम्बर १४, १६५४ ई० को शाहजहाँ आगरा के लिए लौट पड़ा और सादुल्ला ख़ाँ को भी चित्तौड़ से वापस बुलवा लिया। लौटते समय मालपुरा के पड़ाव पर राजसिंह का ज्येष्ठ पुत्र शाही दरबार में उपस्थित हुआ तथा एक सप्ताह के लगभग वहाँ ठहरने के बाद उसे वापस उदयपुर लौट जाने की आज्ञा दे दी गई। दारा के बीच-बचाव करने से इस बार मेवाड़ पर आई हुई आपत्ति किसी प्रकार टल गई, किन्तु अपने परगने ज़ब्त होने के कारण राजसिंह शाहजहाँ और दारा का कट्टर विरोधी हो गया।

शाही सेना के लौट जाने पर मेवाड़ में पुनः शान्ति छा गई और अगले ढाई वर्ष तक राजस्थान में सर्वत्र शान्ति बनी रही। परन्तु सितम्बर, १६५७ ई० के बाद उत्तरी भारत में सर्वत्र अशान्ति के बादल उमड़ने लगे। इन पिछले कुछ वर्षों से दारा के प्रति शाहजहाँ का विशेष प्रेम तथा पक्षपात अधिकाधिक स्पष्टरूपेण प्रगट होता जा रहा था। अतएव दिल्ली में शाहजहाँ के बीमार पड़ने पर जब उसकी मृत्यु का झूठा समाचार सर्वत्र फैलने लगा, तब सुदूरस्थ प्रान्तों में शाहजहाँ के छोटे लड़कों ने उस पर विश्वास कर लिया; तथा मुग़ल सम्राट् बनने के लिए लालायित होकर प्रत्येक शाहज़ादा युद्ध-क्षेत्र में अपनी भाग्य-परीक्षा करने के लिए अत्यावश्यक तैयारी

करने लगा। उधर उसकी बीमारी घट जाने पर जल-वायु के परिवर्तन के लिए शाहजहाँ आगरा गया तथा तब शाही दरबार से अनेकानेक आदेश इन शाहज़ादों के पास भेजे गए, परन्तु इन शाहज़ादों ने उनकी पूर्ण उपेक्षा ही की। बंगाल के सूबेदार शाहज़ादा शुजा एवं गुजरात के सूबेदार शाहज़ादा मुराद ने स्वयं को मुग़ल सम्राट् घोषित किया। दक्षिण के सूबेदार शाहज़ादे औरङ्गज़ेब ने यद्यपि खुले तौर से विद्रोह नहीं किया था, परन्तु दारा के साथ उसकी कट्टर शत्रुता की बात सर्वत्र सुज्ञात थी, एवं उसका भी विरोधी होना अवश्यम्भावी था।

मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ तथा उसके मनोनीत उत्तराधिकारी शाहज़ादे दारा शिकोह के लिए कठिन समय उपस्थित हुआ। बीकानेर के राव कर्ण के अतिरिक्त राजस्थान के प्रायः सब ही नरेश एवं सारे प्रमुख राजपूत सेनानायक तब आगरा में उपस्थित थे। बीजापुर पर की गई मुग़ल चढ़ाई में भाग लेने के लिए सन् १६५७ ई० के प्रारम्भ में दक्षिण भेजे गए बूंदी का राव शत्रुसाल, आदि सेनानायक भी शाहजहाँ का आदेश पाकर औरङ्गज़ेब की आज्ञा लिये बिना ही दिसम्बर, १६५७ ई० तक वापस शाही दरबार में ससैन्य लौट आए थे। इस संकटापूर्ण परिस्थिति में इन राजस्थानी नरेशों एवं राजपूत सेनानायकों ने मुग़ल सम्राट् शाहजहाँ की आज्ञा का पालन कर शाहज़ादे दारा शिकोह का ही साथ दिया। पूर्व में बंगाल से बढ़ते हुए शुजा का सामना करने के लिए आम्बेर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह को छः हज़ारी ज़ात का मनसब देकर शाहज़ादा दारा के ज्येष्ठ पुत्र सुलेमान शिकोह के साथ ससैन्य बनारस की ओर भेजा गया, तथा बहादुरपुर के युद्ध में शुजा को पराजित करने पर जयसिंह का मनसब बढ़ा कर सात हज़ारी ज़ात—छः हज़ार

सवार का कर दिया गया (मार्च, १६५८ ई०) । उधर दक्षिण से बढ़ते हुए शाहज़ादे औरङ्गज़ेब का सामना करने के लिए जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह को मालवा का सूबेदार बना कर एक बड़ी राजपूत सेना के साथ उज्जैन की ओर भेजा गया । प्रारम्भ में कुछ समय तक बीकानेर का राव कर्ण औरङ्गज़ेब के साथ रहा, परन्तु बाद में उसने इस गृह-युद्ध में भाग न लेने का निश्चय किया, और यद्यपि उसका दूसरा पुत्र केसरीसिंह औरङ्गज़ेब की ही सेवा में बना रहा, वह स्वयं औरङ्गज़ेब की आज्ञा लिये बिना ही वापस बीकानेर को लौट गया ।

उज्जैन से कोई १४ मील दक्षिण-पश्चिम में धरमत के युद्ध-क्षेत्र में औरङ्गज़ेब तथा मुराद की सम्मिलित सेना ने जसवन्तसिंह की राजपूत सेना को पूर्णतया पराजित किया । कोटा का राव मुकुन्द हाड़ा और उसके तीन भाई, शाहपुरा का सुजानसिंह सीसोदिया, गौड़ अर्जुन, झाला दयालदास, आदि वीर प्रारम्भिक आक्रमण में ही काम आगए थे । जसवन्तसिंह स्वयं भी वीरतापूर्वक लड़ता हुआ घायल हुआ था । युद्ध में पराजय जब निश्चित हो गई, तब उसके सहकारी राठौड़ वीर सेनानायकों ने युद्ध-क्षेत्र छोड़ने के लिए उसे बाध्य किया, जिससे विवश होकर उसे जोधपुर को वापस लौटना पड़ा । जसवन्तसिंह के चले जाने के बाद बाकी बची शाही राजपूत सेना का नेतृत्व रतलाम के राव रतन राठौड़ ने किया और कुछ समय बाद वीरतापूर्वक लड़ता हुआ वह वहीं खेत रहा ।*

---

*युद्ध में जसवंतसिंह का घायल होना धरमत के युद्ध के कुछ ही समय बाद राणा राजसिंह के नाम लिखे हुए औरंगज़ेब के निशान से भी पूर्णतया प्रमाणित है । वीर०, २, पृ० ४२३-४ ।

इस संकटापूर्ण अवसर पर राजस्थान में केवल मेवाड़ के राणा राजसिंह ने शाहजहाँ का विरोध किया। तीन वर्ष पूर्व मेवाड़ राज्य के परगने जब्त किये जाने के कारण राजसिंह तब से ही शाहजहाँ और दारा शिकोह के प्रति वैमनस्य रखता था, जिससे लाभ उठा कर औरङ्गज़ेब ने राजसिंह को अपने पक्ष में कर लिया। शाहजहाँ की बीमारी एवं मृत्यु की गप्पों के फलस्वरूप उत्तरी भारत के साथ ही राजस्थान में भी सर्वत्र फैलने वाली घबराहट, अशान्ति एवं अनिश्चितता से लाभ उठाने के हेतु राजसिंह अक्तूबर, १६५७ ई० से ही सेना एकत्रित करने लगा था। उसका पक्ष लेने के पुरस्कार-स्वरूप बदनौर और माण्डलगढ़ के परगने राजसिंह को वापस देने का वचन औरङ्गज़ेब ने फरवरी २६, १६५८ ई० के लगभग ही दे दिया था। अतएव धरमत के युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद जब उन परगनों पर अधिकार कर लेने के लिए औरङ्गज़ेब ने राजसिंह को आज्ञा दे दी, तब मई, १६५८ ई० के प्रारम्भ में वह ससैन्य चित्तोड़ पहुँचा और वहाँ से आगे बढ़ कर उसने उन दोनों परगनों पर अधिकार किया, तथा अन्य पड़ौसी शाही परगनों और अपने विरोधी शाही

धरमत युद्ध की घटनाओं का समकालीन विवरण कुंभकर्ण कृत 'रतन रासो' (अप्रकाशित) तथा खड़िया जगा कृत 'वचानिका राठौड़ रतनसींघ री महेसदासौत री' (बिब० इण्डिका) नामक दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक काव्य-ग्रंथों में भी मिलता है, जिसकी ओर अब तक इतिहास-कारों ने कोई ध्यान नहीं दिया था। सर यदुनाथ सरकार लिखित इस युद्ध के वर्णन (औरंग०,१-२, पृ० ३४८-३६७) में इन दोनों ग्रंथों से प्राप्त विवरणों के आधार पर यत्र-तत्र परिवर्तन करना अत्यावश्यक हो गये हैं। तत्सम्बन्धी विशेष विवेचन के लिए मेरे ग्रंथ 'रतलाम का प्रथम राज्य' में परिशिष्ट ३ देखो।

मनबसदार राजपूत नरेशों के राज्यों में भी बहुत लूट-मार की।

आगरा से कुछ ही मील पूर्व में सामूगढ़ के युद्ध-क्षेत्र में दारा ने आगरा की ओर बढ़ती हुई औरङ्गज़ेब और मुराद की विजयी सेना का सामना किया। मई २९, १६५८ ई० के दिन वहाँ होने वाले निर्णायक युद्ध में दारा की पूर्ण पराजय हुई। दारा की ओर से वीरतापूर्वक लड़ते हुए बूंदी का राव राजा शत्रुशाल, किशनगढ़ का राजा रूपसिंह, आदि कई राजस्थानी वीर खेत रहे। युद्ध-क्षेत्र से भाग कर दारा दिल्ली होता हुआ लाहौर की ओर गया। औरङ्गज़ेब और मुराद आगरा पहुँचे, तथा जून ८, १६५८ ई० को आगरे के किले पर भी औरङ्गज़ेब का अधिकार हो गया। शाहजहाँ पदच्युत कैदी की तरह आगरा के किले में ही रखा गया। दारा का पीछा करने के लिए औरङ्गज़ेब ससैन्य दिल्ली की ओर बढ़ा। उसकी विजयों के लिए राणा राजसिंह की ओर से औरङ्गज़ेब को बधाई देने के लिए मेवाड़ का युवराज सुलतानसिंह अपने काका अरिसिंह को साथ लेकर सलीमपुर के पड़ाव पर जून २१ को औरङ्गज़ेब की सेवा में उपस्थित हुआ। पाँच-छः दिन बाद ही औरङ्गज़ेब ने सुलतानसिंह को बिदा कर दिया, परन्तु अरिसिंह तब भी डेढ़ माह तक औरङ्गज़ेब के साथ बना रहा।

दिल्ली की ओर जाते हुए राह में मथुरा के पड़ाव पर जून २५ की रात को औरङ्गज़ेब ने छल द्वारा मुराद को कैद कर अपनी राह के इस कंटक को दूर कर दिया। यों तो जून १०, १६५८ ई० को आगरा के दरबार के दिन से ही औरङ्गज़ेब ने साम्राज्य का शासन प्रबन्ध एवं राज्य-कार्य अपने ही हाथों में ले लिया था, परन्तु अब उसके सिंहासनारूढ़ होने में कोई भी बाधा नहीं रह गई थी। अतएव दिल्ली पहुँच कर जुलाई २१, १६५८ ई० के दिन शुभ

मुहूर्त पर औरङ्गज़ेब वहाँ के शालिमार बाग में सिंहासनारूढ़ हुआ तथा आलमगीर नाम से उसने स्वयं को मुग़ल सम्राट् घोषित किया।

आगरा को ससैन्य लौटते हुए आम्बेर के मिर्ज़ा राजा जयसिंह को कोड़ा में सामूगढ़ के युद्ध में दारा की पूर्ण पराजय का समाचार मिला। निकट भविष्य में ही औरङ्गज़ेब के मुग़ल सम्राट् बनने की सुस्पष्ट संभावना को पूर्णतया समझ कर जयसिंह ने सुलेमान शिकोह का साथ छोड़ दिया। अपने अन्य साथी सेनानायकों को भी समझा-बुझा तथा फुसला कर उन्हें अपने साथ ले वह आगरा की ओर चल पड़ा, और जून २५, १६५८ ई० को मथुरा के पड़ाव पर औरङ्गज़ेब की सेवा में उपस्थित हो कर जयसिंह ने उसकी आधीनता स्वीकार कर ली। अपनी इस दूरदर्शिता से जयसिंह ने औरङ्गज़ेब के हृदय में अपने प्रति अटूट विश्वास उत्पन्न कर लिया, जो उसकी मृत्यु पर्यन्त बहुत-कुछ बना रहा। इसी समय से शाही दरबार में जयसिंह का प्रभाव तथा महत्व बहुत बढ़ गये, और अब राजस्थानी नरेशों में उसे ही प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ।

विभिन्न युद्धों में उसका सामना करते हुए वीरगति पाने वाले राजपूत सैनानायकों के उत्तराधिकारियों के प्रति भी औरङ्गज़ेब ने सहिष्णुतापूर्ण नीति बरती। रतलाम के राव रतन राठौड़ के पुत्र रामसिंह को रतलाम परगना वतन के रूप में तथा समुचित मनसब देकर उसे शाही दरबार में बुलावा भेजने के लिए आवश्यक आदेश जून २७, १६५८ ई० को ही दिया जा चुका था। दिल्ली में राज्यारोहण के बाद किशनगढ़ के राजा रूपसिंह के पुत्र मानसिंह को भी मनसब मिला। इसी प्रकार बूंदी और कोटा के नए शासकों को भी उचित सम्मान देकर शाही दरबार में बुलवाया गया। धरमत के

युद्ध-क्षेत्र में औरङ्गज़ेब का सामना करने के कारण जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह को शाही दरबार में उपस्थित होने में अब भी हिचकिचाहट हो रही थी, परन्तु जयसिंह के बीच-बचाव करने पर सतलज के किनारे रूपार के पड़ाव पर अगस्त १४, १६५८ ई० को शाही दरबार में उपस्थित होकर जसवन्तसिंह ने भी औरङ्गज़ेब की आधीनता स्वीकार कर ली। युद्ध-काल में राणा राजसिंह की सेवाओं के पुरस्कार-स्वरूप अगस्त ७, १६५८ ई० को औरङ्गज़ेब ने उसका मनसब बढ़ा कर छः हज़ारी ज़ात—छः हज़ार सवार का कर दिया; बदनौर और माण्डलगढ़ के परगने, जिन पर वह पहिले ही अधिकार कर चुका था, राजसिंह को दे दिये गए; तथा डूंगरपुर, बाँसवाड़ा और देवलिया के राज्य, जो शाहजहाँ के शासन-काल में मेवाड़ की आधीनता से निकाल लिये गये थे, अब पुनः मेवाड़ के आधीन कर दिए गए। पंजाब और मुलतान की इस चढ़ाई से नवम्बर २० को वापस दिल्ली लौट आने तक बूंदी का भावसिंह हाड़ा तथा कोटा का जगतसिंह हाड़ा भी औरङ्गज़ेब के शाही दरबार में पहुँच गए थे। अतएव दिसम्बर, १६५८ ई० के प्रारम्भ में जब शुजा का सामना करने के लिए औरङ्गज़ेब ससैन्य कोड़ा की ओर बढ़ा तब जसवन्तसिंह, भावसिंह, जगतसिंह, आदि राजस्थानी शासक उसके साथ थे। मेवाड़ राज्य के सैनिक दल को लेकर राजसिंह का कुँअर सरदारसिंह भी शुजा के विरुद्ध इस चढ़ाई के समय औरङ्गज़ेब के साथ गया।

औरङ्गज़ेब के हाथों धरमत के युद्ध में उसकी पराजय की व्यथा बहुत समय तक जसवन्तसिंह के हृदय में बनी रही, एवं इस प्रारम्भिक वर्ष में जहाँ तक भी औरङ्गज़ेब के एकाधिपत्य को उलट सकने की कुछ भी आशा देख पड़ी, ऐसे प्रयत्नों में सहयोग देने को

जसवन्तसिंह पूर्णतया तत्पर रहा। अतएव खजवा के युद्ध-क्षेत्र में जनवरी ४, १६५९ ई० की रात में, जब अगले दिन युद्ध के लिए तत्पर दोनों विरोधी सेनाएँ आमने-सामने पड़ी थीं, शुजा के साथ किये गये गुप्त समझौते के अनुसार आधी रात के बाद जसवन्तसिंह ने औरङ्गज़ेब के शाहज़ादे मुहम्मद के पड़ाव पर अचानक आक्रमण किया और राह में पड़ने वाले माल-असबाब को लूटता वह अपने सैनिकों के साथ वापस जोधपुर की ओर चल पड़ा। अपने अपूर्व अडिग धैर्य से औरङ्गज़ेब ने बड़ी ही तत्परतापूर्वक सारी स्थिति को सम्हाल कर इस घटना के कुछ ही घण्टों बाद दूसरे दिन खजवा के युद्ध में शुजा को पूर्णतया पराजित किया।

खजवा के युद्ध-क्षेत्र से चल कर जसवन्तसिंह आगरे होता हुआ मारवाड़ पहुँचा तथा वहाँ औरङ्गज़ेब का सामना करने के लिए सेना एकत्रित करने लगा। उधर शुजा से निपटने के बाद जसवन्तसिंह के छलपूर्ण व्यवहार के लिए उसे समुचित दण्ड देने का निश्चय कर औरङ्गज़ेब ने जनवरी १७, १६५९ ई० के दिन जसवन्तसिंह के बड़े भाई राव अमर के पुत्र नागोर के शासक रायसिंह को चार हज़ारी ज़ात का मनसब और राजा का ख़िताब दे उसे जोधपुर का शासक नियुक्त किया, तथा मारवाड़ पर अधिकार करने में उसकी सहायतार्थ मुहम्मद ख़ाँ को भी एक बड़ी सेना देकर उसके साथ भेजा। मारवाड़ पर चढ़ाई के लिये आती हुई औरङ्गज़ेब की इस सेना के लालसोंट पहुँचने की सूचना पाने पर जसवन्तसिंह मण्डोर से ससैन्य सिवाणा की ओर चला गया। जसवन्तसिंह के सौभाग्य से पराजित शाहज़ादा दारा भी पुनः अपनी भाग्य-परीक्षा करने के लिए तब तक गुजरात में आ पहुँचा था। जनवरी ९, १६५९ ई० को अहमदाबाद पर अधिकार कर उसने वहाँ पुनः अपनी सेना

सुसंगठित की और फरवरी माह के प्रारम्भ में सिरोही होता हुआ वह अजमेर की ओर बढ़ने लगा। तब जसवन्तसिंह ने औरङ्गज़ेब के विरुद्ध दारा के साथ पुनः मेल करने के उद्देश्य से अपने एक विश्वस्त कर्मचारी को उसके पास भेजा, तथा दारा के अजमेर पहुँचते ही राठौड़ और अन्य राजपूत वीर सैनिकों के साथ ही उसके स्वयं भी ससैन्य दारा के पक्ष में आ मिलने का वादा कर दारा को शीघ्र ही अजमेर पहुँचने के लिए प्रोत्साहित किया।

राजस्थान पर दारा की इस चढ़ाई की सूचना मिलते ही कूट-नीतिज्ञ औरङ्गज़ेब ने तत्काल ही जसवन्तसिंह के प्रति अपनी विरोधी नीति पूर्णतया त्याग दी। इलाहाबाद की ओर से लौटता हुआ औरङ्गज़ेब सीधा अजमेर की ओर ससैन्य चल पड़ा। उसका विशेष आदेश पाकर मारवाड़ पर चढ़ाई करने वाली उसकी सेना अजमेर से कोई २६ मील उत्तर-पूर्व में बांदर-सीन्दरी नामक स्थान से आगे नहीं बढ़ी। पुनः उसने मिर्ज़ा राजा जयसिंह के द्वारा जसवन्तसिंह को एक मैत्रीपूर्ण पत्र लिखवा कर औरङ्गज़ेब का विरोध करने की निरर्थकता को सुस्पष्ट करते हुए दारा का साथ छोड़ देने पर औरङ्गज़ेब से उसके सारे पिछले अपराध क्षमा करवा देने का जयसिंह ने पक्का वादा किया, तथा साथ ही पहिले वाला मनसब और ख़िताब पुनः दिलवाने और साम्राज्य में एक महत्वपूर्ण उच्च पद पर उसे नियुक्त करवाने का भी प्रलोभन जसवन्तसिंह को दिया। औरङ्गज़ेब की युद्ध-कुशलता से वह पूर्णतया परिचित था, एवं औरङ्गज़ेब के साथ पुनः समझौता करने के यों घर बैठे आए हुए इस अवसर को न छोड़ना ही जसवन्तसिंह को हितकर प्रतीत हुआ। इसलिये जयसिंह के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर दारा का साथ न देने की नीति ही जसवन्तसिंह ने अब अपनाई, और दारा

शिकोह के मेड़ता होते हुए अजमेर पहुँच जाने तथा उसके निरन्तर आग्रह करते रहने पर भी जसवन्तसिंह बिलाड़ा में ही ठहरा रहा।

मार्च, १६५९ ई० के प्रारम्भ में दारा ससैन्य अजमेर पहुँचा। अपनी सहायतार्थ सेना भेजने के लिए उसने राणा राजसिंह को भी लिखा था, परन्तु उसकी आशा के विपरीत अजमेर पहुँचने पर भी कोई राजपूत सेनानायक उसके साथ सम्मिलित नहीं हुए। अनेकानेक वादे करने के बाद भी ठीक समय पर जसवन्तसिंह ने जब उसका साथ नहीं दिया, तब अजमेर से कोई चार मील दक्षिण में दोराई की घाटी में अपने साथ की सेना की ही व्यूह-रचना कर दारा औरङ्गज़ेब का सामना करने को तत्पर हुआ। औरङ्गज़ेब भी मार्च ११, १६५९ ई० को दारा की सेना के सामने आ डटा और दूसरे दिन दोराई का युद्ध प्रारम्भ हुआ। दो दिन तक दृढ़ता के साथ औरङ्गज़ेब का सामना करने के बाद औरङ्गज़ेब के सेनानायक शैख़ मीर और दिलेर ख़ाँ के प्रबल आक्रमणों के फलस्वरूप तीसरे दिन शाम पड़ते-पड़ते दारा को युद्ध-क्षेत्र से भागना पड़ा। दोराई के युद्ध से पहिले ही अजमेर के पास एकत्रित हुए राजपूतों के दलों ने उस रात तथा दूसरे दिन भर भागते हुए दारा का बहुत-कुछ माल-असबाब तथा उसे ढोने वाले सारे पशुओं को लूटा। अजमेर से भाग कर दारा मेड़ता और पीपाड़ होता हुआ गुजरात की ओर लौटा।

औरङ्गज़ेब की पूर्ण विजय हुई थी। दारा का पीछा करने के लिए मिर्ज़ा राजा जयसिंह और बहादुर ख़ाँ को ससैन्य भेजा गया। दारा के भागने के दूसरे दिन (मार्च १५, १६५९ ई०) ही प्रतिज्ञा के अनुसार जसवन्तसिंह को पुरस्कार मिल गया। उसके सारे अपराध क्षमा कर जोधपुर का राज्य तथा पहिले के समान सात हज़ारी मनसब उसे पुनः दे दिया गया; साथ ही उसे गुजरात

का सूबेदार भी नियुक्त किया और दारा को गुजरात से निकाल बाहर करने के लिए तत्काल ही वहाँ जाने का उसे आदेश मिला। इस बार जसवन्तसिंह भी बड़ी तत्परता के साथ भीनमाल पहुँचा और वहाँ से गुजरात की ओर चल पड़ा। कोई आठ माह बाद महाराजा का ख़िताब भी जसवन्तसिंह को वापस मिल गया। यों बड़े ही कठिन समय में उपयुक्त अवसर पर जसवन्तसिंह के साथ मेल कर औरङ्गज़ेब ने अपनी सफलता को पूर्णतया सुनिश्चित बना लिया। इसके बाद यद्यपि जीवन भर जसवन्तसिंह ने बड़ी ही तत्परता के साथ निरन्तर स्वामिभक्तिपूर्वक औरङ्गज़ेब की सेवा की, किन्तु औरङ्गज़ेब उससे सदैव सशंक ही बना रहा; और अपने शासन-काल के प्रारम्भिक वर्ष के उन विरोधों का बदला उसकी मृत्यु के बाद ही उसके शिशु उत्तराधिकारी से औरङ्गज़ेब ने लिया।

औरङ्गज़ेब अजमेर में अधिक दिन नहीं ठहरा; मार्च १८, १६५९ ई० को वह वापस दिल्ली को लौट गया, जहाँ जून ५, १६५९ ई० के दिन बहुत ही भव्य रूप में पूरी तड़क-भड़क के साथ दूसरी बार औरङ्गज़ेब का विधिवत् राज्यारोहण हुआ। राज्याधिकार के लिए होने वाले इन गृह-युद्धों के फलस्वरूप जो अनिश्चितता, अशान्ति एवं अराजकता राजस्थान में छाई हुई थी, दोराई के युद्ध के बाद उनका अन्त हो गया और राजस्थान में पुनः शान्ति छा गई।

किन्तु दक्षिणी राजस्थान में कुछ अशान्ति तब भी बनी ही रही। अगस्त ७, १६५८ ई० के शाही फ़रमान द्वारा औरङ्गज़ेब ने डूंगरपुर, बाँसवाड़ा एवं देवलिया के राज्यों को पुनः मेवाड़ के आधीन कर दिया था, किन्तु उस आदेश को कार्यरूप में परिणत करना किसी भी प्रकार सरल नहीं था। बाँसवाड़ा को आधीन करने के लिए अप्रेल, १६५९ ई० में मेवाड़ के प्रधान मंत्री

फ़तेहचन्द को उस राज्य पर ससैन्य चढ़ाई करनी पड़ी। बाँसवाड़ा के रावल समरसी को दबाने के बाद फ़तेहचन्द ने देवलिया पर भी चढ़ाई की, तब वहाँ का रावत हरीसिंह देवलिया से भाग कर शाही दरबार में पहुँचा; परन्तु इस बार वहाँ उसकी कुछ भी सुनवाई न हुई, एवं जुलाई, १६५९ ई० में राणा राजसिंह के बसाड़ की ओर दौरा करने पर हरीसिंह ने उसकी सेवा में उपस्थित होकर तब तो मेवाड़ की आधीनता स्वीकार कर ली। दूसरे दो राज्यों के स्वाधीन रहने के इन विफल प्रयत्नों को देख कर डूंगरपुर के रावल गिरधर ने विरोध न करने का ही निश्चय किया, जिससे तब कुछ समय के लिए तो इन तीनों ही राज्यों पर मेवाड़ का आधिपत्य हो गया।

औरङ्गज़ेब के दूसरे राज्यारोहण के समय तक बीकानेर के राव कर्ण के अतिरिक्त राजस्थान के सब ही छोटे बड़े शासकों ने औरङ्गज़ेब की आधीनता स्वीकार कर ली थी। सन् १६५७ ई० के अन्तिम महीनों में औरङ्गज़ेब की आज्ञा लिये बिना ही दक्षिण से चल कर कर्ण बीकानेर जा पहुँचा था, तथा औरङ्गज़ेब की इन सब विजयों के बाद भी न तो वह स्वयं शाही दरबार में आया और न अन्य किसी के द्वारा ही उसने आधीनता स्वीकार की थी। राज्यारोहण के बाद शाही दरबार में आमंत्रित किये जाने पर भी वह निरन्तर टालमटोल ही करता रहा। अतएव राव कर्ण को दण्ड देने के लिए अगस्त, १६६० ई० में औरङ्गज़ेब ने अमीर ख़ाँ को एक बड़ी सेना के साथ बीकानेर पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। अब विरोध करना हानिकारक जान उसने शाही आधीनता स्वीकार कर ली और अमीर ख़ाँ के साथ नवम्बर २७, १६६० ई० को शाही दरबार में पहुँच कर क्षमा-प्रार्थना की। जनवरी ३०, १६६१ ई०

के दिन उसे तीन हज़ारी ज़ात—दो हज़ार सवारों का मनसब देकर शाही सेना के साथ सेवा करने के लिए दक्षिण भेज दिया गया।

औरङ्गज़ेब के साथ राणा राजसिंह का वह प्रारम्भिक मेल बहुत दिनों तक स्थायी नहीं रह सका। किशनगढ़ के राजा मानसिंह की बहिन चारुमति के साथ राणा राजसिंह के विवाह कर लेने पर सन् १६६० ई० के पिछले महीनों में औरङ्गज़ेब मन ही मन राजसिंह से बहुत ही रुष्ट हो गया, और कुछ ही माह बाद ग़यासपुर और बसाड़ के परगने उदयपुर से अलग कर देवलिया के रावत हरिसिंह को पुनः वहाँ का स्वाधीन शासक बना दिया। राजसिंह ने उदयकर्ण चौहान के साथ प्रार्थनापत्र भेज कर देवलिया के राज्य को पुनः उसके आधीन किये जाने के लिये आग्रह किया, परन्तु औरङ्गज़ेब ने उस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। इस प्रकार औरङ्गज़ेब और राजसिंह में विरोध प्रारम्भ हुआ जो दिनों-दिन अधिकाधिक बढ़ता ही गया।

जनवरी, १६६१ ई० में शाही सेना के साथ दक्षिण में नियुक्त किये जाने के बाद तब कोई छः वर्ष तक बीकानेर का राव कर्ण निरन्तर वहाँ ही बना रहा। दिसम्बर, १६६६ ई० में जब चांदा और देवगढ़ के विद्रोही राजाओं पर चढ़ाई करने के लिए दिलेर ख़ाँ को वहाँ भेजा गया, तब उसकी सहायतार्थ उसके साथससैन्य जाने के लिए बीकानेर के राव कर्ण को भी आदेश दिया गया था, किन्तु निजी आर्थिक कठिनाइयों के कारण राव कर्ण तत्काल ही शाही आज्ञा का पालन नहीं कर सका। अप्रेल, १६६७ ई० के अन्त में जब दिलेर ख़ाँ देवगढ़ की ओर बढ़ रहा था, तब कहीं राव कर्ण उसके साथ सम्मिलित हुआ। परन्तु अब दिलेर ख़ाँ के साथ राव कर्ण की खटपट होने लगी। राव कर्ण दिलेर ख़ाँ का आदेश मानता नहीं था, और

रात के समय राव कर्ण के सैनिक लूट-मार भी करते थे। अधिक कहने-सुनने पर राव कर्ण विद्रोह करने के लिए उतारू हो जाता था। राव कर्ण के इस प्रकार के व्यवहार की सूचना जब औरङ्गज़ेब को मिली तब वह राव कर्ण से बहुत ही क्रुद्ध हुआ। राव कर्ण का ज्येष्ठ पुत्र अनूपसिंह तब शाही दरबार में ही उपस्थित था। पिता-पुत्र में भी अनबन ही थी, एवं औरङ्गज़ेब की अप्रसन्नता से उसने भी पूरा लाभ उठाया। अगस्त २७, १६६७ ई० को औरङ्गज़ेब ने राव कर्ण को बीकानेर के शासक से पदच्युत कर उसके युवराज अनूपसिंह को बीकानेर का शासक नियुक्त कर उसे दो हज़ारी ज़ात–डेढ़ हज़ार सवार का मनसब तथा 'राव' की पदवी दे दी। औरङ्गज़ेब की आज्ञा-नुसार सैफ़ुल्ला ख़ाँ तथा राव कर्ण के अनौरस पुत्र वनमालीदास ने बीकानेर पहुँच कर सितम्बर २७, १६६७ ई० के दिन अनूपसिंह को बीकानेर की राजगद्दी पर बिठा दिया। इसके कुछ ही सप्ताह बाद सोनगरा लक्ष्मीदास तथा उसके साथियों ने वनमालीदास को मार डाला।

अपने पदच्युत किये जाने की सूचना मिलने पर पहिले तो राव कर्ण विद्रोह के लिए उतारू हुआ। बूंदी का राव राजा भावसिंह इस समय दिलेर ख़ाँ के साथ ही था, एवं उसके समझाने बुझाने पर कुछ ठण्डा हुआ तथा सितम्बर, १६६७ ई० के अन्तिम सप्ताह में औरङ्गज़ेब के आदेशानुसार दक्षिण के नए सूबेदार शाहज़ादे मुअज़्ज़म के पास वह औरङ्गाबाद चला गया। राव कर्ण को बहुत-कुछ मनसब एवं तदनुरूप जागीर भी दक्षिण में मिल गई थी, परन्तु समय समय पर शाहज़ादा मुअज़्ज़म से विशेष आर्थिक सहायता मिले बिना उसका काम चलता नहीं था। अपने जीवन के ये अन्तिम वर्ष किसी तरह बिताने के बाद जून २२, १६६९ ई० को दक्षिण में ही राव

कर्ण की मृत्यु हो गई ।*

---

*शाही दरबार के समकालीन अख़बारों तथा इन घटनाओं के कुछ ही युगों बाद लिखे गए भीमसेन कृत 'तारीख़-इ-दिलकश' में दिए गए प्रामाणिक समकालीन विवरणों के आधार पर ही उपर्युक्त वृत्तान्त लिखा गया है।

दयालदास कृत 'बीकानेर राज्य की ख्यात' एवं कुछ अन्य ख्यातों में दिए गए विवरणों के आधार पर ओझा ने राव कर्ण के प्रति औरंगज़ेब की इस अप्रसन्नता तथा उसके यों पदच्युत किये जाने का कारण 'जंगलधर पादशाह' के ख़िताब से सम्बद्ध कही जाने वाली घटना को बताया है (बीकानेर०, १, पृ० २४४-२४७) । परन्तु समकालीन अख़बारों में दिये गये उल्लेखों से ओझा के इस अनुमान का यत्किंचित् भी समर्थन नहीं होता है।

अब तक प्राप्त प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर सुनिश्चित घटनावली को सामने रख कर ख्यातों में दी हुई 'जंगलधर पादशाह' के ख़िताब से सम्बद्ध घटनाओं के विवरणों पर विचार करने के बाद उन्हें ऐतिहासिक सत्य के रूप में स्वीकार करना किसी भी प्रकार संभव नहीं। सन् १६६३ ई० में औरंगज़ेब लाहौर होता हुआ कश्मीर गया था। इस अवसर पर मिर्ज़ा राजा जयसिंह भी गुजरात के पास चिनाब नदी तक औरंगज़ेब के साथ गया, एवं औरंगज़ेब के कश्मीर से लौटने तक वहाँ ही ठहरा रहा। औरंगज़ेब के शासन-काल के प्रारम्भिक वर्षों में यही एकमात्र ऐसा अवसर देख पड़ता है जब ख्यातों में दी गई उपर्युक्त घटनाओं के किसी भी स्वरूप में हो सकने की कुछ भी संभावना का अनुमान लगाया जा सकता है। परन्तु तब तक औरंगज़ेब की हिन्दू-विरोधी नीति का खुले तौर से प्रारम्भ भी नहीं हो पाया था। इस यात्रा में जयसिंह के अतिरिक्त अन्य किसी राजस्थानी राजा के औरंगज़ेब के साथ होने का उल्लेख भी नहीं मिलता है। पुनः उस समय की गई कार्यवाही के लिए पूरे

दारा का पीछा करते हुए सिन्ध तक जाकर सितम्बर, १६५९ ई० में मिर्ज़ा राजा जयसिंह वापस दिल्ली को लौटा और उसके अगले पाँच वर्ष शाही दरबार में ही बीते। और तब सुदूर दक्षिण में जहाँ अन्य सारे मुग़ल तथा आदिल शाही सेनानायक विफल रहे थे, वहाँ जयसिंह को पूर्ण सफलता मिली। पुरन्दर की सन्धि कर जून, १६६५ ई० में उसने मरहठों के विद्रोही नेता शिवाजी को मुग़ल साम्राज्य की आधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया था, जिसके पुरस्कार-स्वरूप जयसिंह को मुग़ल साम्राज्य में प्राप्य सात हज़ारी ज़ात—सात हज़ार दो-अस्पा या से-अस्पा सवारों का सर्वोच्च मनसब प्राप्त हुआ। जयसिंह के जीवन का यही सबसे गौरवपूर्ण समय था। अगले वर्ष शाही दरबार में पहुँचने पर शिवाजी को वहाँ कैद कर लिया गया, परन्तु जब शिवाजी उस कैद से भी किसी तरह भाग निकला, तब औरङ्गज़ेब ने इसका सारा दोष जयसिंह के युवराज कुँअर रामसिंह पर लगा कर उसे दण्डित किया। पुनः सन् १६६५-६६ में बीजापुर राज्य पर की गई अपने जीवन की अन्तिम सैनिक चढ़ाई में जयसिंह को बिलकुल ही सफलता नहीं मिली, जिस कारण उससे

चार वर्ष बाद राव कर्ण को दण्ड दिया जाना सर्वथा अनहोनी बात जान पड़ती है।

उदयचन्द्र कृत 'पाण्डित्य-दर्पण' ग्रंथ के उल्लेख के आधार पर राव कर्ण की मृत्यु जून, १६७४ ई० में होना मान कर ही बड़ोदा म्यूज़ियम के क्यूरेटर डाक्टर हरमन गोएट्ज़ ने अपने एक लेख में सन् १६७३ ई० में महताब खां की अफ़गानिस्तान पर चढ़ाई के अवसर पर ही इस घटना का होना प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु डा० गोएट्ज़ का यह अनुमान केवल कल्पनापूर्ण एवं ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा निराधार प्रतीत होता है।

असन्तुष्ट होकर औरङ्गज़ेब ने मार्च, १६६७ ई० में जयसिंह को दक्षिण की सूबेदारी से हटा कर शाहज़ादा मुअज़्ज़म को उस पद पर नियुक्त किया। औरङ्गाबाद से चल कर भी जयसिंह उत्तरी भारत को नही लौट सका, तथा राह में ही अगस्त २८, १६६७ ई० के दिन बुरहानपुर में उसका देहान्त हो गया। बीजापुर की उस अन्तिम विफल चढ़ाई में उसने एक करोड़ से भी अधिक अपना निजी द्रव्य व्यय किया था, जिससे उसकी आर्थिक दशा भी बहुत बिगड़ गई। सर्वोच्च सम्मान प्राप्त होते हुए भी इन आर्थिक कठिनाइयों, सामरिक विफलता, निराशा तथा सार्वजनिक अपयश से क्षुब्ध जयसिंह के अन्तिम दिन दुःखपूर्ण ही रहे। जयसिंह की मृत्यु के साथ ही आम्बेर राजघराने का सारा महत्व घट गया और आगामी चालीस वर्षों तक भारतीय राजनीति में वह नगण्य ही रहा। जयसिंह के बाद उसका युवराज रामसिंह आम्बेर का शासक बना, और यद्यपि प्रारम्भ में ही उसका मनसब चार हज़ारी ज़ात–तीन हज़ार सवार का कर दिया गया तथा कोई बीस परगने उसे मिल गये थे, रामसिंह को जीवन भर कभी भी अपने पिता का चतुर्थांश महत्व भी प्राप्त नहीं हुआ। औरङ्गज़ेब ने उसे जीवन भर आसाम तथा अफ़गानिस्तान जैसे सुदूर प्रान्तों में ही रखा।

जयसिंह जैसे महत्वपूर्ण शक्तिशाली राजपूत शासक की मृत्यु से भी औरङ्गज़ेब ने पूर्ण लाभ उठाया। बाल्यकाल से ही औरङ्गज़ेब इस्लाम धर्म का कट्टर पक्षपाती था, और शाहजहाँ के शासन-काल में विभिन्न सूबों की सूबेदारी करते समय उसने अपनी असहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति का यदा-कदा परिचय भी दिया था। परन्तु सिंहासनारूढ़ होने के बाद प्रारम्भ में कई वर्षों तक वह खुले तौर से अपनी इस अनुदार नीति को कार्यरूप में परिणत नहीं कर सका।

व्यापार के लिए लाई गई वस्तुओं पर हिन्दू और मुसलमान व्यापारियों के लिए सन् १६६५ ई० में चुंगी की विभिन्न दरें नियुक्त कर औरङ्गज़ेब ने अपनी हिन्दू-विरोधी नीति का स्पष्ट रूपेण प्रारम्भ किया था। अब जयसिंह की मृत्यु के बाद उसकी इस नीति ने अधिक उग्र स्वरूप धारण किया। समूचे मुग़ल साम्राज्य के हिन्दू तीर्थों में समय-समय पर भरने वाले धार्मिक मेलों को पूर्णतया बन्द कर देने का सन् १६६८ ई० में आदेश दिया गया, तथा होली-दिवाली जैसे सार्वजनिक हिन्दू त्यौहारों को बाजारों में खुले तौर से न मनाने की भी रोक लगा दी गई। नए मन्दिर बनाने के लिए राज्यारोहण के कुछ समय बाद ही कड़ी मनाही की जा चुकी थी। अन्त में अप्रेल ९, १६६९ ई० की एक सर्व-व्यापी आज्ञा द्वारा "इस्लामेतर अन्य धर्मावलम्बियों के सारे मन्दिर, पूजा-घरों और पाठशालाओं को ध्वंस कर देने, तथा धर्म-ग्रन्थों के पठन-पाठन या पूजा-पाठ और धार्मिक कृत्यों के सार्वजनिक रूप से किये जाने को पूर्णतया दबा देने" का आदेश दिया गया, और इस हुक्म का कड़ाई के साथ पालन करने के लिए विभिन्न सूबेदारों को बारंबार चेतावनी दी जाने लगी। राजस्थान के विभिन्न राज्यों में स्थित मन्दिरों के ध्वंस के लिए आदेश देने का तब भी औरङ्गज़ेब को साहस नहीं हुआ, परन्तु अजमेर प्रान्त के जो भी परगने सीधे शाही शासन में थे, उनमें तो इन आज्ञाओं का पूर्ण पालन अवश्य करवाया गया। सरकार रणथम्भोर के अन्तर्गत मलारना नगर में स्थित मंदिर का ध्वंस करवाने के लिए मई, १६६९ ई० में एक गुर्जबरदार को विशेष रूपेण वहाँ भेजा गया था।

मन्दिरों के तोड़-फोड़ की इस आज्ञा की सूचना मिलते ही गोकला जाट के नेतृत्व में मथुरा जिले के हिन्दू विद्रोही हो गये, जिसके फलस्वरूप उस प्रदेश में इस आज्ञा का तत्काल ही पालन

नहीं किया जा सका। परन्तु औरङ्गज़ेब की उन आज्ञाओं की सूचना सर्वसाधारण को मिल चुकी थी, एवं ब्रज-प्रदेश के कुछ मन्दिरों के पुजारियों तथा उनके भक्तों ने उन विशाल भव्य सुन्दर मन्दिरों का मोह छोड़ दिया, और वहाँ की पूज्य मूर्तियों को विनाश से बचाने का वे आयोजन करने लगे। गोवर्धन पर्वत पर स्थित वल्लभ सम्प्रदाय वालों के गिरिराज के प्रमुख मन्दिर की श्रीनाथ जी की मूर्ति को लेकर वहाँ के गोसाईं सितम्बर ३०, १६६९ ई० को गोवर्धन से निकले। छिपते-छिपाते वे बूंदी, कोटा, पुष्कर, किशनगढ़ तथा जोधपुर भी गये, परन्तु औरङ्गज़ेब के भय से उस मूर्ति को अपने राज्य में रखना किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। अन्त में राणा राजसिंह ने श्रीनाथ जी की इस मूर्ति का मेवाड़ में सहर्ष स्वागत किया, और फरवरी १०, १६७२ ई० के दिन सीहाड़ गाँव में इस मूर्ति की स्थापना की गई, जो तब से ही नाथद्वारा कहलाने लगा। इसी प्रकार गोवर्धन वाले द्वारकाधीश की मूर्ति को भी मेवाड़ ले जाकर कांकड़ोली में उसकी प्रतिष्ठा की गई। वृन्दावन में आम्बेर के राजा मानसिंह द्वारा निर्मित गोविन्ददेव के मन्दिर की मूर्ति को आम्बेर ले गए। श्रीनाथ जी की मूर्ति को अपने राज्य में स्थापित कर राणा राजसिंह ने औरङ्गज़ेब के साथ निरन्तर बढ़ने वाले अपने मनमुटाव एवं विरोध के लिए एक और कारण प्रस्तुत कर दिया।

औरङ्गज़ेब के आदेश के फलस्वरूप बनारस में विश्वनाथ का सुप्रसिद्ध मन्दिर, मथुरा में वीरसिंह बुन्देला निर्मित केशवराय का गगनचुम्बी मन्दिर, अनेकों बार ध्वस्त होने पर भी पुनः निर्मित होने वाला सोमनाथ का पावन मन्दिर, आदि हिन्दुओं के सारे ही पूज्य पवित्र मन्दिर एक-एक कर ढहने लगे। सन् १६७१ ई० में

एक विशेष आज्ञा द्वारा खालसा इलाके के सारे उच्च पदस्थ हिन्दू कर्मचारियों को शाही सेवा से निकाल देने का आयोजन किया गया। हिन्दुओं को इस्लाम धर्म स्वीकार करने के लिए अनेकों प्रलोभन दिए जाने लगे।

उसकी इस हिन्दू-विरोधी अनुदार धार्मिक नीति के फलस्वरूप सर्वत्र असन्तोष फैलने लगा। मथुरा जिले के जाटों के विद्रोह को शान्त हुए दो वर्ष भी न बीते थे कि मेवात में सतनामियों का विद्रोह उठ खड़ा हुआ, जिसको दबाने में बड़ी कठिनाई हुई। उधर पंजाब में सिक्खों का दल बढ़ता जा रहा था और औरङ्गज़ेब की असहिष्णुतापूर्ण धार्मिक नीति का विरोध करने से वे हिचकते न थे। सुदूर महाराष्ट्र में मरहठों के विद्रोही नेता शिवाजी ने एक स्वतन्त्र हिन्दू राज्य की स्थापना की थी, और राजनैतिक परिस्थितियों पर विचार कर अपने लाभ के हेतु वह कभी मुग़ल साम्राज्य के साथ मेल और कभी उसका विरोध करने को तत्पर रहता था।

मिर्ज़ा राजा जयसिंह की मृत्यु के बाद औरङ्गज़ेब को यत्किंचित् भी सशंक बनाए रख सकने वाला केवल एक ही व्यक्ति सारे राजस्थान में रह गया, और वह था औरङ्गज़ेब का पुराना विरोधी जोधपुर का शासक महाराजा जसवन्तसिंह। सन् १६६७ ई० में शाहज़ादे मुअज़्ज़म की सहायतार्थ उसे भी दक्षिण में नियुक्त किया गया था। अतएव सन् १६६९ ई० के अन्तिम महीनों में जब मुअज़्ज़म स्वछन्दतापूर्वक मनमानी करने लगा, तथा दिलेर ख़ाँ को दण्ड देने के बहाने उसका पीछा करता हुआ मुअज़्ज़म अगस्त, १६७० ई० के लगभग जब जसवन्तसिंह के साथ ससैन्य ताप्ती के किनारे तक पहुँच गया, तब जसवन्तसिंह के सुझावों के फलस्वरूप विद्रोही बन कर मुअज़्ज़म के उत्तरी भारत पर ससैन्य चढ़ाई करने की आशंका से

औरङ्गज़ेब चिन्तित हो उठा और वापस औरङ्गाबाद न जाने का आदेश उसने तत्काल ही जसवन्तसिंह को भेजा। जनवरी, १६७१ ई० में गुजरात के सूबेदार बहादुर ख़ाँ के दक्षिण भेजे जाने पर जसवन्तसिंह को दूसरी बार गुजरात का सूबेदार बनाया। परन्तु पास ही के प्रान्त में ऐसे महत्वपूर्ण पद पर उसे अधिक समय तक रखना औरङ्गज़ेब को हितकर नहीं प्रतीत हुआ, एवं जून १६७२ ई० में जब मुहम्मद आमीन ख़ाँ को काबुल की सूबेदारी से पदच्युत किया गया, तब उसे गुजरात का सूबेदार नियुक्त कर जमरूद की थानेदारी जसवन्तसिंह को दी गई। सितम्बर, १६७२ ई० के अन्तिम दिनों में अहमदाबाद से चल कर संभवतः सन् १६७३ ई० के प्रारम्भ में वह जमरूद पहुँचा। जसवन्तसिंह के अगले साढ़े पाँच वर्ष इसी विद्रोहपूर्ण उजाड़ प्रदेश में बीते, और अपने राज्य और प्रजा से सैकड़ों मील दूर अटक के उस पार अफ़गानों के इस देश में ही दिसम्बर १०, १६७८ ई० के दिन जसवन्तसिंह ने अन्तिम सांसें लीं। जसवन्तसिंह के दो पुत्र, पृथ्वीसिंह एवं जगतसिंह, सन् १६६७ ई० एवं १६७६ ई० में क्रमशः मर चुके थे, तथा उसकी मृत्यु के समय उसके कोई जीवित पुत्र नहीं था, अतएव अपने इन अन्तिम दिनों में वह उत्तराधिकारी की चिन्ता से अत्यधिक खिन्न रहने लगा था। उसकी मृत्यु के समय जसवन्तसिंह की दो रानियाँ अवश्य ही गर्भवती थीं, किन्तु उनके भावी पुत्रोत्पत्ति की संभावनाएँ तब भी सर्वथा अनिश्चित और अज्ञात ही थीं। स्वयं के प्रति औरङ्गज़ेब की विरोधी भावनाओं तथा उसकी हिन्दू-दमन नीति से वह पूर्णतया परिचित था, अतएव जोधपुर राज्य तथा अपने राजघराने के संकटाकीर्ण भविष्य की व्याकुल कर देने वाली अनिष्टमय आशंकाओं से अत्यधिक त्रस्त निराशापूर्ण वातावरण में ही जसवन्तसिंह की मृत्यु हुई।

जसवन्तसिंह की मृत्यु को औरङ्गज़ेब ने एक इस्लाम-विरोधी सुदृढ़ दुर्ग के तोरण-द्वार के ध्वस्त होने के समान माना। औरङ्गज़ेब की धर्मान्धतापूर्ण असहिष्णु नीति का प्रवाह अब राजस्थान में भी अबाध गति से बह निकला। खण्डेला, जोधपुर, उदयपुर तथा आम्बेर के मन्दिरों पर भी क्रमशः विनाशकारी कुदाल चल गई। पुनः जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद पूरे चार महिने भी बीते न थे कि समूचे मारवाड़ राज्य पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर अपनी हिन्दू-दमन नीति को सब तरह परिपूर्ण करने के हेतु औरङ्गज़ेब ने मुग़ल साम्राज्य के सारे हिन्दुओं पर पुनः जज़िया कर लगा दिया। और राजस्थान के राजपूतों का जो विरोध पिछले इन कई युगों से भीतर ही भीतर बढ़ता जा रहा था, वह अब जोधपुर के उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उबल पड़ा। राजस्थान में विद्रोह तथा अराजकता का प्रारम्भ हुआ, जो अगले एक सौ चालीस वर्ष तक वहाँ निरन्तर चलते ही रहे। जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद भी कोई पचास वर्ष से अधिक समय तक राजस्थान पर मुग़ल सम्राटों का बहुत-कुछ आधिपत्य बना रहा, परन्तु खानवा के युद्ध-क्षेत्र में बाबर की विजय क बाद राजस्थान पर मुग़लों के बढ़ते हुए आधिपत्य के साथ राजस्थान में प्रान्तीय एकीकरण, शासकीय संगठन तथा सांस्कृतिक एकता की जिन प्रक्रियाओं का तब प्रारंभ हुआ था, जसवन्तसिंह की मृत्यु के साथ ही वे सब एकबारगी रुक गईं, जिससे मुग़ल-कालीन राजस्थान की इन महत्त्वपूर्ण विशेषताओं का अन्त हो गया और यों अनजाने ही राजस्थान के इतिहास में पूर्व-आधुनिक काल के इस भाग विशेष की भी इति-श्री हो गई।

यद्यपि इस काल में भी राजस्थान में सन्त सुन्दरदास का प्रभाव बना रहा, तथा बारहठ नरहरिदास ने 'अवतार-चरित्र', आदि

भक्ति-प्रधान ग्रन्थों की रचना कर धार्मिक साहित्य की परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रक्खा, अब शान्ति एवं समृद्धि के फलस्वरूप उत्पन्न तथा प्रोत्साहित होने वाली ऐश्वर्य-विलास प्रवृत्ति एवं कलात्मक भावनाओं का भी वहाँ पूर्ण आवेग के साथ प्रादुर्भाव होने लगा था। बिहारी ने सतसई की रचना कर जिस शृंगारिक साहित्य को महत्त्व दिया अब उसका राजस्थान में प्राधान्य हो गया। साहित्य में अलंकारों के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया गया। बूंदी के राव राजा भावसिंह के राजदरबार में रह कर हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि मतिराम ने 'ललित-ललाम' की रचना की। जोधपुर का वीर शासक महाराजा जसवन्तसिंह स्वयं भी एक प्रतिभाशाली साहित्यिक था। हिन्दी साहित्य में अलंकारों के उस विशिष्ट आचार्य के 'भाषा-भूषण' ग्रन्थ का आज भी काव्य-प्रेमियों में बड़ा आदर है। उसके आश्रय में रह कर अनेकों साहित्यिकों ने कितने ही अपूर्व ग्रन्थ लिखे। आम्बेर के राजा रामसिंह के राजदरबार में रह कर संस्कृत के उद्भट विद्वान कुलपति मिश्र ने ब्रज-भाषा में 'रस-रहस्य' ग्रंथ की रचना की। बीकानेर का राव कर्ण भी अनेकानेक विद्वानों का आश्रय-दाता था, परन्तु उसके राजदरबार के इन साहित्यिकों ने ग्रंथ-लेखन के लिए संस्कृत भाषा को ही अपनाया। वीर काव्य रचना की परम्परा राजस्थान में पुनः प्रारम्भ हुई और इसका प्रथम प्रस्फुटन मेवाड़ में ही हुआ। दयालदास ने 'राणा-रासो' ग्रंथ लिखा और मान कवि ने 'राज-विलास' की रचना की। राज-समुद्र के बाँध पर लगी हुई शिलाओं पर खुदा हुआ रणछोड़ भट्ट कृत 'राज-प्रशस्ति' नामक संस्कृत महाकाव्य ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। परन्तु इस काल की सर्व-श्रेष्ठ तथा सर्वथा अद्वितीय रचनाएँ हैं, जोधपुर के प्रधान मंत्री मुहणोत नैणसी कृत 'ख्यात' तथा 'जोधपुर राज्य का

सर्व-संग्रह'। राजस्थान में प्राप्य अन्य सब ख्यातों से अधिक प्राचीन और खोजपूर्ण होने के कारण उसकी ख्यात एक अपरिहार्य ऐतिहासिक आधार-ग्रंथ है। मुंशी देवीप्रसाद के शब्दों में नैणसी को 'राजस्थान का अबुल फ़ज़ल' कहना किसी भी प्रकार अयुक्त नहीं होगा।

शाहजहाँ के शासन-काल में मुग़ल स्थापत्य-शैली तथा चित्र-कला का पूर्ण विकास हुआ था, परन्तु उसी शासन-काल के पिछले कुछ वर्षों में धीरे धीरे यत्किंचित् शिथिलता तथा कुछ ऊपरी स्वरूपों और नियमों के प्रति अनावश्यक दुराग्रह का प्रारंभ हुआ, जिनके फलस्वरूप कला में सजीवता तथा ओज के ह्रास का सुस्पष्ट आभास देख पड़ने लगा था। शाही दरबार के कलाकारों की इस प्रवृत्ति का प्रभाव राजस्थानी कलाकारों पर भी पड़े बिना नहीं रहा। औरङ्गज़ेब के सिंहासनारूढ़ होने के बाद उसकी धार्मिक कट्टरता के कारण भारतीय कलाओं की प्रगति को गहरा आघात पहुँचा। शाही दरबार में अब उनके लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। मुग़ल सम्राट् के प्रश्रय को खोकर ये कलाकार अन्यत्र राज्याश्रय ढूंढने लगे। ऐसे समय उन कलाकारों को अपने राजदरबारों में आश्रय दे कर राजस्थान के इन नरेशों ने केवल राजस्थानी कला को ही सहायता नहीं पहुँचाई, परन्तु भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में समुपस्थित इस विषम काल के अवसर पर समयोचित प्रश्रय देकर उन्होंने भारतीय कला की भी अवर्णनीय सेवा की। किन्तु निरन्तर बने रहने वाले पारस्परिक अविश्वास तथा धार्मिक विरोधपूर्ण सशंक वातावरण में स्थापत्य कला का कुछ भी विकास होना सर्वथा असंभव था। अपनी राजधानियों से निरन्तर दूर रहने वाले राजस्थानी शासकों को वहाँ नवनिर्माण के लिए न तो अवसर ही मिला और न उन्होंने किसी उत्साह का ही अनुभव किया। बहुत बड़े बाँध द्वारा गोमती

नदी को रोक कर राणा राजसिंह का राज-समुद्र तालाब बनवाना ही इस काल की एकमात्र महत्त्वपूर्ण घटना है। उसकी प्रतिष्ठा के अवसर पर जनवरी, १६७६ ई० में वहाँ जो उत्सव हुआ था, राजस्थान के इतिहास में वह चिर-स्मरणीय रहेगा।

पूर्व-आधुनिक राजस्थानी इतिहास में इस मुग़ल-कालीन भाग की समाप्ति के साथ ही राजस्थान के शताब्दियों पुराने महान गौरव, राजनैतिक महत्त्व तथा सैनिक दबदबे का भी एकबारगी अंत हो गया। राजस्थान के एकमात्र तेज-पुंज मेवाड़ की महत्ता, उसकी प्रचण्डता और उसकी वह चिरन्तन राज्य-श्री राणा प्रताप के बाद से ही निरन्तर क्षीण होने लगी थीं। मेवाड़ के उस दीप्तिमय गौरवपूर्ण जातीय जीवन की अब तो घोर अंधकारपूर्ण संध्या आई। राजसिंह के रूप में अब भी वहाँ मेवाड़ की उस विगत आभा का अंतिम दीपक टिम-टिमा रहा था। मुग़लों के साथ होने वाले मेवाड़ के आगामी युद्ध में भारत ने उस बुझते हुए दीपक की वह अन्तिम चमक देखी। परन्तु राजसिंह की जीवन-ज्योति के विलीन होते ही मेवाड़ में सदियों लम्बी निराशाजनक दुःखमय अन्धेरी रात्रि प्रारम्भ हुई। यदा-कदा यत्र-तत्र चमकने वाले जुगनुओं के लिए मेवाड़ को यत्किंचित् भी आलोकित कर सकना सर्वथा असम्भव था, उनकी वह क्षीण अस्थायी द्युति उस अंधकार की कालिमा को अधिकाधिक उत्कट एवं भीषण ही बनाती थी।

राणा सांगा के साथ ही मेवाड़ की सैनिक शक्ति का ह्रास हो गया था; मेवाड़ की बाह्य नीति से रही-सही दूरदर्शिता एवं राजनैतिक कौशल भी तब सर्वदा के लिए लुप्त हो गए। राणा प्रताप की दृढ़ता एवं राजसिंह की उग्रता भी मेवाड़ की इन कमियों को किसी भी प्रकार पूरा न कर सकीं। राणा प्रताप की विफलता एवं राजसिंह की असमर्थता का यही एकमात्र रहस्य है। मुग़ल साम्राज्य का

विरोध करने से ही सांस्कृतिक प्रतिक्रिया एवं धार्मिक भावुकता के फलस्वरूप मेवाड़ को तब विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ था। अतएव जब मुग़ल साम्राज्य का कार्य-क्षेत्र दक्षिण भारत को स्थानांतरित हो गया तथा तदनन्तर साम्राज्य के पतन के कारण जब मेवाड़ के साथ मुग़ल साम्राज्य का कोई उल्लेखनीय विरोध नहीं रह गया, तब मेवाड़ के राजा और प्रजा में अत्यावश्यक जातीय विशेषताओं तथा वास्तविक महत्ताप्रद गुणों के पूर्ण अभाव के कारण मेवाड़ की वह मुग़ल-कालीन प्रतिष्ठा तथा उसका वह पूजनीय गौरव यत्किंचित् भी स्थायी नहीं हो सके। मेवाड़ का एकबारगी पूर्ण पतन हुआ। उसकी सैनिक शक्ति तथा वह अडिग दृढ़ता ऐतिहासिक वस्तुएँ हो गईं। विषय-वासना में डूब कर वह सर्वथा अकर्मण्य हो गया और मेवाड़ के वीरों के अतुलनीय पराक्रम और पौरुष का विवरण अविश्वसनीय दन्तकथाएँ समझा जाने लगा। कूप-मण्डूक अशक्त मेवाड़ का तब राजस्थान की प्रान्तीय राजनीति में भी कोई स्थान नहीं रह गया।

विरोध, विद्रोह एवं अराजकता के फलस्वरूप राजस्थान की मुग़ल-कालीन शान्ति और समृद्धि भी विलीन हो गईं। राजस्थान की सुविख्यात अनैकता पुनः उग्र रूप में उभर आई। मुग़ल साम्राज्य की विजय-पताकाओं को सुदूर भारतीय सीमाओं तक सफलतापूर्वक ले जाने वाले वीरों के वंशज अपनी जन्म-भूमि तथा अपने प्रान्तवासियों तक की रक्षा न कर सके और सुदूर देशवासी आक्रमणकारी युगों तक राजस्थान को निरन्तर रौंदते रहे। डट कर मुग़लों का विरोध करने वाले मेवाड़ तथा अनेकानेक वीर योद्धाओं और कुशल सैनानायकों की जन्मभूमि राजस्थान के शासकों ने प्रत्येक बार मुँह-माँगा द्रव्य देकर ही मरहठों से अपना पिण्ड छड़ाया, जिससे राजस्थान पूर्णतया दरिद्री भी हो गया।

अखिल भारतीय महत्त्व वाले राजस्थानी सेनानायकों, राजनीतिज्ञों और शासकों की जो परम्परा राणा कुंभा से लेकर राव मालदेव तक चली आई थी, और भारत में मुग़ल साम्राज्य की स्थापना के बाद सर्वथा परिवर्तित एवं दूसरे ही स्वरूप में राजा भारमल और कुँअर मानसिंह से प्रारम्भ होकर पूरी एक शताब्दी तक जो पुनः अटूट अनुक्रम में बराबर बनी रही थी, महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के साथ ही उसका भी अन्त हो गया। कोई दो युग के बाद ईसा की १८ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इसी परम्परा का एकाकी परिशिष्ट सवाई जयसिंह के व्यक्तित्व में मिलता है, परन्तु उससे राजस्थान की पतनोन्मुख प्रवृति पर कोई लाभदायक प्रभाव नहीं पड़ा। राजस्थान का राजनैतिक, सैनिक और सांस्कृतिक महत्त्व लुप्त-प्राय होने लगे थे, अतएव सुदूर दक्षिण में उत्थानशील स्वतन्त्र मरहठा राज्य की स्थापना तथा पूर्व में सक्रिय बुंदेलों के दुर्दम्य विद्रोह ने राजस्थान के उन विगत विफल स्वातन्त्र्य-युद्धों को पूर्णतया भूली हुई कहानी बना दिया। यही कारण था कि यद्यपि अपना राज्याभिषेक करवाने के हेतु स्वयं को सीसोदिया राजघराने का वंशज प्रमाणित कर यों मेवाड़ के गौरव और प्रतिष्ठा का आसरा लेना मरहठा राज्य के संस्थापक शक-कर्ता शिवाजी के लिए भी अत्यावश्यक हो गया था, औरङ्गज़ेब के शासन-काल में उठने वाली प्रबल हिन्दू प्रतिक्रिया के उस प्रतिनिधि-कवि भूषण ने जब सुस्पष्ट शब्दों में दृढ़ प्रतिज्ञा की—

"और राव राजा एक मन मैं न ल्याऊँ अब,
सिवा को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ॥"

तब मेवाड़ के राणा राजसिंह और मारवाड़ के वीरवर दुर्गादास की भी सुध तक उसे नहीं आई।

२

अराजकतापूर्ण राजस्थान—राजपूतों का विद्रोह, मुग़ल साम्राज्य का पतन, राजपूत-मरहठा संघर्ष एवं अंग्रेजी आधिपत्य की स्थापना

(१६७९–१८१८ ई०)

अनेकों बार भरसक प्रयत्न करने पर भी जीते-जी जो औरङ्गज़ेब को कुछ भी हानि नही पहुँचा सका था, अब उसीकी मृत्यु औरङ्गज़ेब के लिए ही नहीं मुग़ल साम्राज्य के लिए भी पूर्णतया घातक प्रमाणित हुई। जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के फलस्वरूप उठने वाले उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर मारवाड़ में जिस विद्रोह और अराजकता का प्रारम्भ हुआ, वे धीरे धीरे समूचे राजस्थान में फैल गए। वे ही राजपूत जो अब तक मुग़ल साम्राज्य के पूर्ण समर्थक एवं उसके प्रधान आधार-स्तम्भ थे, अब उसके कट्टर विरोधी बन गए। औरङ्गज़ेब की धर्मान्धतापूर्ण नीति तथा जज़िया कर के पुनः लगाए जाने ने राजपूतों के विरोध को और भी भड़का दिया, एवं मुग़ल-साम्राज्य के विरुद्ध उत्तर भारत में उठती हुई हिन्दू प्रतिक्रिया भी इस विद्रोह में राजपूतों की सहायक हुई। मुग़ल-सम्राटों के प्रति राजपूतों के हृदय में अविश्वास भर गया; अतएव आगे अनेकों प्रयत्न करने पर भी वे हृदय से मुग़ल साम्राज्य के सच्चे समर्थक नहीं बन सके। उत्तरी भारत में मुग़ल साम्राज्य के विश्रृङ्खलन का यहीं से प्रारम्भ होता है। राजस्थान के राज्य अर्ध-स्वतन्त्र बन बैठे; उन पर पुनः आधिपत्य स्थापित करना पतनोन्मुख साम्राज्य के लिए सर्वथा असम्भव था। इस केन्द्रीय भाग में साम्राज्य के

शासन-संगठन के पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण ही न तो गुजरात की रक्षा हो सकी, और न मालवा को पदाक्रान्त कर उत्तर की ओर बढ़ने वाले मरहठों का सफलतापूर्वक सामना किया जा सका।

राजस्थानी राज्यों की आपसी फूट तथा उत्तराधिकार के लिए वहाँ होने वाले गृह-युद्धों से लाभ उठा कर मरहठों ने राजस्थान की राजनीति में प्रवेश किया, और कुछ ही वर्षों में वहाँ उनकी सत्ता सर्वोपरि समझी जाने लगी। किन्तु जिस राजस्थान में औरङ्गज़ेब विफल हुआ, उसके घोर विरोधी मरहठों को भी वहाँ कोई विशेष सफलता नहीं मिली। अपनी अदूरदर्शितापूर्ण नीति के कारण मरहठे भी राजस्थान पर अपना आधिपत्य स्थायी नहीं बना सके। साठ वर्ष से भी अधिक समय तक राजस्थान में निरन्तर राजपूत-मरहठा संघर्ष चलता रहा, जिसके फलस्वरूप सारे राजस्थान में अराजकता बनी रही, और अन्त में उस सबसे लाभ उठा कर अंग्रेजों ने राजस्थान पर अपना पूर्णाधिपत्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार जो संघर्ष और अराजकता महाराजा जसवन्तसिंह की मृत्यु के साथ ही सन् १६७९ ई० से राजस्थान में प्रारम्भ हुए, वे किसी न किसी रूप में यों पूरे १४० वर्ष तक लगातार चलते रहे, और राजस्थान पर अंग्रेजों का आधिपत्य होने के बाद ही उनका अन्त हुआ। राजस्थान के इस अराजकता-काल को चार विभिन्न विभागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(१) राजपूत-विद्रोह काल (१६७९-१७१० ई०);
(२) मुग़ल साम्राज्य पतन काल (१७१०-१७५१ ई०);
(३) राजपूत-मरहठा संघर्ष काल (१७५१-१७९२ ई०);
और (४) अराजकता तथा अंग्रेजी सत्ता स्थापना काल (१७९२-१८१८ ई०)।

१. राजपूत-विद्रोह काल (१६७९-१७१० ई०)

अटक के उस पार जमरूद में जब उसकी मृत्यु हुई, उस समय महाराजा जसवन्तसिंह के कोई पुत्र नहीं था, एवं यह समाचार सुनते ही औरङ्गज़ेब ने जोधपुर राज्य पर अधिकार कर उसे खालसा करने को शाही सेनाएँ भेज दीं। जोधपुर में किसी को भी उनका विरोध करने का साहस न हो, इसी उद्देश्य से जनवरी, १६७९ ई० में औरङ्गज़ेब भी स्वयं अजमेर जा पहुँचा। जोधपुर राज्य के उच्च अधिकारी एवं सारे अच्छे सैनिक जसवन्तसिंह के राजघराने के साथ थे, एवं उपयुक्त नेता के अभाव में राठौड़ असंगठित ही रहे; जोधपुर में किसी ने भी शाही सेना का विरोध नहीं किया। जमरूद से लौटते हुए लाहौर में जसवन्तसिंह की दो रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया, किन्तु यह सूचना पाकर भी औरङ्गज़ेब अपने ही निश्चय पर डटा रहा, एवं जोधपुर पर शाही अधिकार हो जाने के बाद वह दिल्ली को लौटा। जसवन्तसिंह की मृत्यु के बाद अब हिन्दू राजाओं में ऐसा कोई नहीं रह गया था, जो औरङ्गज़ेब की धर्मान्धतापूर्ण नीति में बाधक बन सके, एवं दिल्ली पहुँचते ही उसने हिन्दुओं से पुनः जज़िया कर वसूल करने का हुक्म दे दिया।

लाहौर में पैदा हुए राजकुमारों में से एक तो कुछ ही सप्ताह बाद मर गया, परन्तु दूसरा, अजीतसिंह कई वर्षों बाद पुनः जोधपुर का शासक बना। शिशु अजीत और उसकी माताओं को लेकर जसवन्तसिंह के सरदार तथा अधिकारी दिल्ली पहुँचे। उनके सारे प्रयत्न करने पर भी औरङ्गज़ेब ने जोधपुर पर अजीत के उत्तराधिकार को स्वीकार नहीं किया, उलटे अजीत को भी अपने अधिकार में लेकर उसे मुसलमान बनाने के प्रस्ताव होने लगे। तब

तो स्वामिभक्त राठौड़ों ने इतिहास-प्रसिद्ध वीरवर राठौड़ दुर्गादास के नेतृत्व में अपने शिशु स्वामी को औरङ्गज़ेब के पंजों से बचाने का दृढ़ निश्चय किया। उनको घेरने वाली शाही सेना को तलवारों के बल से चीर कर, औरङ्गज़ेब के सारे प्रयत्नों और इरादों को विफल बनाते हुए वे शिशु अजीत और उसकी माता को साथ लिए दिल्ली से मारवाड़ के लिए चल पड़े। यों जुलाई १५, १६७९ ई० को दिल्ली में ही राजपूतों के विद्रोह का प्रारम्भ हुआ, जो अगले तीस वर्षों तक बराबर चलता रहा।

अजीत के मारवाड़ आ पहुँचने का समाचार सुन कर सारे स्वामिभक्त राजपूत इन विद्रोहियों के साथ जा मिले। अजीत को बनावटी घोषित कर, तथा राव अमरसिंह के पौत्र नागोर के राव इन्द्रसिंह को कुछ माह तक जोधपुर का शासक बना कर भी औरङ्गज़ेब अजीत के सहायकों को विभक्त नहीं कर सका। जोधपुर को पुनः जीतने के लिए शक्तिशाली मुग़ल सेना वहाँ भेजी गई। औरङ्गज़ेब स्वयं भी ससैन्य अजमेर पहुँचा। पुष्कर के पास तीन दिन घमासान युद्ध के बाद राजपूतों की हार हुई। शाही सेना ने जोधपुर तथा मैदान के अन्य सारे बड़े बड़े शहरों पर अधिकार कर लिया। मारवाड़ में सर्वत्र अराजकता तथा मार-काट मच गई। विद्रोही राजपूतों ने डट कर सामने युद्ध करना ठीक न समझा; वे पहाड़ों और मरु भूमि में जा पहुँचे और वहीं से मुग़लों का विरोध करने लगे।

मारवाड़ पर मुग़ल आधिपत्य उनकी भावी मेवाड़-विजय की भूमिका-मात्र थी, और सारा राजस्थान यों खंडशः सरलतापूर्वक अत्याचारियों द्वारा रौंदा जावेगा, यह अनुभव कर मुग़लों का कट्टर विरोधी उदयपुर का महाराणा राजसिंह भी इस कठिन समय में मारवाड़ के विद्रोही राठौड़ों का साथ देने का निश्चय कर युद्ध की

तैयारी करने लगा। यह सूचना पा कर बड़ी ही तत्परता के साथ औरङ्गज़ेब ने ही राजसिंह पर भी आक्रमण कर दिया। शाही सेनाएँ उदयपुर तक बढ़ी चली गईं, और उसका सामना न कर सकने के कारण महाराणा और उसके साथी मैदानों को छोड़ कर पहाड़ों में जा छिपे। उदयपुर, चित्तोड शहरों तथा मेवाड़ के मैदानों पर अधिकार कर मुग़ल सेना ने यत्र तत्र अपनी चौकियाँ बिठा दीं। चित्तोड़ को अपना केन्द्र बना कर इस सैनिक-शासन का संचालन शाहज़ादा अकबर कर रहा था। किन्तु इस समय मेवाड़ में सर्वत्र विद्रोह की आग भड़क उठी थी, और मार्च, १६८० ई० के बाद तो राजपूत विद्रोहियों ने इतना अधिक उपद्रव मचाया और राजपूत सेना ने ऐसी तेज़ी और दृढ़ता के साथ हमले किये कि उनके "डर के मारे शाही सेना पूर्णतया निश्चेष्ट हो गई"।

अकबर की विफलता से क्रुद्ध होकर औरङ्गज़ेब ने शाहज़ादे आज़म को चित्तोड़ में नियुक्त किया, और अकबर को मारवाड़ भेज कर (जून, १६८० ई०) पश्चिम की ओर से देसूरी घाटे की राह मेवाड़ में घुसने का उसे आदेश दिया। किन्तु मारवाड़ के विद्रोही दलों के कारण अकबर को यहाँ भी विशेष सफलता नहीं मिली। दूसरी दिशाओं से भी मेवाड़ पर आक्रमण करने के प्रयत्न सफल नहीं हो रहे थे। ऐसे समय औरङ्गज़ेब को पूरी तरह परास्त करने के लिए राजपूतों ने उसके किसी एक शाहज़ादे को विद्रोही बनाने का निश्चय किया, और जब वे मुअज़्ज़म को नहीं फोड़ सके, तब असन्तुष्ट अकबर को फुसलाने लगे। इसी समय महाराणा राजसिंह का देहान्त (अक्तूबर, १६८० ई०) हो जाने से कुछ सप्ताह के लिए यह बातचीत स्थगित रही, किन्तु अन्त में जनवरी १, १६८१ ई० को अकबर ने स्वयं को सम्राट् घोषित कर विद्रोह का झण्डा

खड़ा किया, और राजपूतों ने ससैन्य उसका साथ दिया। औरंगज़ेब के विरुद्ध बढ़ते हुए अकबर के साथ राजपूतों की आधी सेना थी।

शाहज़ादे अकबर का यह विद्रोह राजस्थान ही नहीं मुग़ल साम्राज्य के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस घटना ने पुनः यह प्रमाणित कर दिया कि प्रत्युत्पन्नमति और कूटनीति में तब भी औरङ्गज़ेब की समता करने वाला भारत में दूसरा कोई न था। अपनी परिस्थिति को ठीक तरह समझ कर ही औरङ्गज़ेब ने तब कहा था—"मैं तो अभी पूर्णतया अरक्षित ही हूँ। नवयुवा वीर को अच्छा सुअवसर मिला है। आक्रमण करने में वह अब देरी क्यों कर रहा है ?" परन्तु अनुभव-विहीन सेनानी अकबर को इसकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, और १२० मील की दूरी पार करने में उसने पूरे दो सप्ताह लगा दिये। औरङ्गज़ेब को अपना पक्ष संगठित करने के लिये अवसर मिल गया, तथापि अन्तिम दिन जब दोनों पक्ष की सेनाएँ दोराई के मैदान में आमने-सामने पड़ी युद्ध के लिए अगले दिन के सूर्योदय की बाट देख रही थी, औरङ्गज़ेब ने कूटनीति से ही काम लिया और बिना लड़े ही उसने उसी रात आगामी दिन होने वाले युद्ध में भी पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। औरङ्गज़ेब के छल-पूर्ण पत्र ने राजपूतों में अकबर के प्रति सन्देह उत्पन्न कर दिया तथा उसी रात वे अकबर का बहुत सा सामान लूट कर चल दिये। दूसरे दिन जागने पर जब अकबर को सारी बातें ज्ञात हुईं तब अत्यन्त निराश होकर वह राजपूतों के ही पीछे-पीछे चल दिया। दो दिन बाद जब राजपूतों को औरङ्गज़ेब के छल का पूरा पता लगा, तब वीर दुर्गादास ने उसे अपनी शरण में ले लिया, और अन्त में मरहठा राजा शंभाजी के पास उसे सकुशल कोंकण पहुँचा दिया (जून, १६८१ ई०)।

अकबर के बाग़ी हो जाने से मेवाड़ पर बढ़ता हुआ दबाव कम हो गया था। अब तो औरङ्गज़ेब ससैन्य दक्षिण जाने को उत्सुक हो उठा। महाराणा जयसिंह अपने पिता के समान महत्त्वाकांक्षी और युद्ध-कुशल नहीं था, एवं जब शाहज़ादे आज़म ने महाराणा के चचेरे भाई श्यामसिंह को, जो तब शाही सेना में नियुक्त था, सुलह की बात-चीत करने को भेजा महाराणा सन्धि करने के लिए तत्पर हो गया। जून १४, १६८१ ई० को महाराणा तथा आज़म की भेंट हुई और अन्त में मुग़ल साम्राज्य तथा मेवाड़ में सुलह हो गई।

किन्तु मारवाड़ में विद्रोह चलता ही रहा। दुर्गादास छः वर्ष तक अकबर के साथ दक्षिण में रहा, फिर भी राठौड़ों के विरोध में कमी नहीं आई, और तब उनका यह विद्रोह सचमुच जनता का युद्ध बन गया। युद्ध, अकाल और रोग के कारण सारा देश उजाड़ हो गया। किलों पर और बड़े बड़े शहरों में मुग़लों का आधिपत्य अवश्य था, परन्तु मैदानों में तो विद्रोहियों का ही जोर था, जिससे सारे रास्ते बन्द-से हो गए। राठौड़ों के साथ निरन्तर होने वाले इन युद्धों से तंग आकर कई मुसलमान अधिकारी राठौड़ों को चौथ या पेशकस भी देने लगे थे कि राठौड़ उन्हें न सतावें। सन् १६८७ ई० में जब दुर्गादास दक्षिण से लौट कर पुनः मारवाड़ आया, तब तक बालक महाराजा अजीतसिंह भी प्रगट हो चुका था। बूंदी पर बल-पूर्वक अधिकार करने का प्रयत्न करने वाला विद्रोही हाड़ा दुर्जनसिंह भी अपने साथियों के साथ राठौड़ों से आ मिला था। अब तो राठौड़ों ने पुनः नए उत्साह के साथ शाही इलाकों पर आक्रमण करना प्रारम्भ किया, और उन्हें कुछ समय तक पर्याप्त सफलता भी मिली। मालपुरा और पुर-माण्डल को लूटा, अजमेर के सूबेदार को हराया तथा मेवात तक धावे मारे। परन्तु सन् १६८७ ई० में

मारवाड़ का शासन-प्रबन्ध गुजरात के सुयोग्य सूबेदार शुजात ख़ाँ को सोंपा गया था, एवं सन् १७०१ ई० में उसकी मृत्यु होने तक वहाँ राठौड़ों की कुछ नहीं चली।

पाँच वर्ष तक शंभाजी के संरक्षण में रहने के बाद शाहज़ादा अकबर तो सन् १६८७ ई० के प्रारम्भ में जहाज़ द्वारा फ़ारस को चल पड़ा, किन्तु उसके पुत्र-पुत्री बुलन्द अख़्तर और सफ़ियतुन्निसा तब भी राठौड़ों के ही संरक्षण में थे। उन दोनों को वापिस शाही दरबार में लाने के लिए औरङ्गज़ेब उत्सुक था, एवं उसके लिए शाही कर्मचारियों ने दुर्गादास के साथ बातचीत शुरू की। इधर संकटापन्न निराशापूर्ण परिस्थिति में निरन्तर जंगलों में भागते फिरने से ऊब कर अजीतसिंह ने भी अन्त में मारवाड़ के थोड़े से ही भाग से सन्तोष करने की सोची। एवं सन् १६९८ ई० में औरङ्गज़ेब ने अजीतसिंह को जालोर, सांचोर और सिवाणा के परगने जागीर में देकर शाही मनसबदार बनाया और उसे उन तीन परगने का फ़ौजदार भी नियुक्त किया। इसी समय दुर्गादास को तीन हज़ारी का मनसब देकर अनहिलवाड़ा-पाटण का फ़ौजदार नियुक्त किया।

परन्तु यह सुलह स्थायी नहीं हो सकी। अनेकों बार बुलाए जाने पर भी अजीतसिंह शाही दरबार में उपस्थित नहीं हुआ, अतएव गुजरात के नए सूबेदार शाहज़ादे आज़म ने दुर्गादास को धोखे से पकड़ कर क़ैद करने का आयोजन किया तब गुजरात से भाग कर दुर्गादास मारवाड़ जा पहुँचा और विद्रोह का झंडा खड़ा किया। अजीतसिंह भी पुनः विद्रोही बना और दुर्गादास के साथ मिल कर पुनः शाही इलाकों पर आक्रमण करने लगा। परन्तु पिछले पच्चीस वर्षों के निरन्तर युद्ध के फलस्वरूप मारवाड़ की आर्थिक दशा बहुत ही बिगड़ गई थी, राठौड़ योद्धा भी थकावट का अनुभव करने लगे

थे, और अब तो अजीतसिंह और दुर्गादास में भी कुछ आपसी मनमुटाव उत्पन्न हो गया था एवं इस बार भी उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। औरङ्गज़ेब की मृत्यु के बाद ही वहाँ के नायब-फ़ौजदार जाफ़र कुली ख़ाँ को जोधपुर से भगा कर अजीतसिंह ने मार्च १२, १७०७ ई० को प्रथम बार अपनी इस वंशपरम्परागत राजधानी में प्रवेश किया तथा जोधपुर के अपने पैतृक किले को गंगा-जल और तुलसी-दल से शुद्ध किया। यों २८ वर्षों के अनवरत प्रयत्न के बाद दुर्गादास की जीवन-साधना सफल हुई।

किन्तु जोधपुर पर अजीतसिंह का अधिकार हो जाने से ही राजपूतों के इस विद्रोह का अन्त नहीं हुआ। जाजव के युद्ध ने मुग़ल साम्राज्य के उत्तराधिकार का प्रश्न हल कर दिया; किन्तु उसने राजस्थान की राजनीति में कुछ ऐसी नई गुत्थियाँ डाल दीं जिनका परिणाम आगे चल कर राजस्थान के लिये ही नहीं मुग़ल साम्राज्य के लिए भी हानिकारक हुआ। कोटा-बूंदी के हाड़ा घरानों का पारस्परिक विरोध यहीं से प्रारम्भ हुआ। पुनः उसी युद्ध में अपना सामना करने वाले सवाई जयसिंह के राज्य को खालसा कर बाद में उसे उसके छोटे भाई विजयसिंह को दे देने से बहादुर शाह के साथ ही साम्राज्य के प्रति घोर विरोधी भावनाओं ने जयसिंह के दिल में घर कर लिया और आगे कभी भी उसने साम्राज्य के हिताहित का विचार नहीं किया। यों खोये हुये अपने राज्य को पुनः प्राप्त करने में उदयपुर के महाराणा की सहायता पाने के हेतु सवाई जयसिंह ने उस सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किए, जिसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु के बाद आम्बेर राज्य के उत्तराधिकार के लिए गृह-युद्ध हुआ। यों इन्हीं तीन गुत्थियों ने राजस्थान में मरहठों के प्रवेश तथा उनके हस्ताक्षेप को अवश्यम्भावी बना दिया।

बहादुर शाह के ससैन्य मेड़ता पहुँच जाने पर अजीतसिंह ने शाही दरबार में उपस्थित होकर शाही आधीनता स्वीकार की (फरवरी, १७०८ ई०), परन्तु फिर भी बहादुर शाह ने उसे जोधपुर राज्य नहीं दिया। एवं अजीतसिंह और सवाई जयसिंह ने कामबख्श के विद्रोह को दबाने के लिए दक्षिण की ओर जाते हुए बहादुर शाह का साथ नर्मदा के किनारे ही छोड़ दिया और वे उदयपुर को लौट पड़े। मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह ने भी उनका साथ दिया। मारवाड़ और आम्बेर के राज्यों में पुनः विद्रोह उठ खड़ा हुआ। जुलाई, १७०८ ई० तक अजीतसिंह और जयसिंह ने अपनी अपनी राजधानियों पर पुनः अधिकार कर लिया, तथा अक्तूबर में मेवात का फ़ौजदार साँभर के पास मारा गया और उसकी सेना को हार कर भागना पड़ा। जयसिंह और अजीतसिंह को उनके पहिले वाले मनसब देकर सन्तुष्ट करने का प्रयत्न भी विफल रहा; राजपूत-मुग़ल संघर्ष चलता ही रहा तथा सर्वत्र मुग़ल सेना को मुँह की खानी पड़ी। कामबख्श पर विजय पाकर उत्तरी भारत को लौटते हुए बहादुर शाह पुनः राजपूताने की ओर आया, परन्तु पंजाब में सिक्खों के विद्रोह के कारण यहाँ अधिक ठहरना उसके लिए संभव नहीं था। अतएव उसने महाराणा को तसल्ली का पत्र लिखवाया। आम्बेर और मारवाड़ के राज्यों पर क्रमशः जयसिंह तथा अजीतसिंह के अधिकार पहिले ही स्वीकार किये जा चुके थे; अब उनके अपराध क्षमा किये जाकर उन्हें ससम्मान शाही दरबार में बुलवाया गया। यों जून ११, १७१० ई० को राजपूतों के इस एकतीस-वर्षीय विद्रोह की इति-श्री हुई। बहादुर शाह ने भी मारवाड़ में अपने पिता की विफलताओं तथा उसके कटु अनुभवों से लाभ नहीं उठाया था, और परिस्थितियों द्वारा विवश होने पर ही उसने राजपूतों के साथ

मेल किया। साम्राज्य की अशक्तता अब अधिकाधिक सुस्पष्ट हो गई। सम्राट् के प्रति आदर तथा विश्वास की भावना का पहिले ही अन्त हो चुका था, अब साम्राज्य की सत्ता का डर भी पूर्णतया उठ गया। राजस्थान के ये शक्तिशाली राज्य बहुत-कुछ स्वतन्त्र हो गए, और जब साम्राज्य की शक्ति का पूर्ण ह्रास होने लगा, तब अपने स्वार्थ के हेतु वे साम्राज्य की पूर्ण उपेक्षा करने से नहीं हिचके। यही कारण था कि मुग़ल साम्राज्य के अब तक के आधार-स्तंम्भ ये राजपूत नरेश ही आगामी काल में उसके विध्वंसक बने।

सफलता की उस घड़ी में जब युगों के बाद जोधपुर में पुनः राज-दरबार लगा था, तब इस विद्रोह-काल का वह प्रमुख व्यक्ति, राठौड़ों का एकमात्र नेता तथा उन संकटपूर्ण दिनों में मारवाड़ का प्रधान आधार, वीरवर दुर्गादास मारवाड़ से निर्वासित, मेवाड़ के महाराणा अमरसिंह के राजाश्रय में ही अपनी जीवन-संध्या के अन्तिम वर्ष बिता रहा था। जब मारवाड़ और अजीतसिंह पर चारों ओर से विपत्तियों के पहाड़ टूट रहे थे, जब उसके वीर-श्रेष्ठ साथियों तक का धीरज डगमगा जाता था, जब उसके अनन्य मित्रों तक में भविष्य के प्रति अविश्वास की भावना घर कर बैठती थी, तब भी इस अनन्य स्वामि-भक्त योद्धा ने अद्वितीय साहस के साथ उन सब का सामना करते हुए अपने स्वामी के पक्ष को सबल तथा विजयी बनाए रखा। मुग़लों की समृद्धि ने उसे कभी ललचाया नहीं, उनकी शक्ति को देख कर भी वह कभी हतोत्साह नहीं हुआ। अटूट धैर्य तथा अद्वितीय अदम्य उत्साह के साथ ही उच्च राजनीतिज्ञों तक में दुर्लभ अनोखी कूटनीति-कुशलता और महान् राष्ट्रीय नेताओं की-सी अपूर्व संगठन-शक्ति भी उसमें पाई जाती थी। मारवाड़ से उसे निर्वासित करके भी

अजीतसिंह दुर्गादास के अमर यश का भागी नहीं बन सका, और जब कवि ने मारवाड़ की भावी माताओं को ललकार कर कहा—

"माई इहा पूत जिण,
जेहा दुर्गादास ॥"

तब अजीतसिंह और उसके प्रतापी पूर्वजों की पूर्ण उपेक्षा करने में उसे कोई हिचकिचाहट नहीं हुई।

उपर्युक्त महत्वपूर्ण घटनाओं के अतिरिक्त राजस्थान के अन्य भागों का इस विद्रोह-काल का इतिहास घटना-विहीन ही रहा। औरङ्गज़ेब ने स्वयं अपने जीवन के अन्तिम पच्चीस वर्ष दक्षिण में बिताए, और उसने महाराणा के अतिरिक्त राजस्थान के अन्य महत्वपूर्ण नरेशों को भी पीछे राजस्थान में नहीं रहने दिया। आम्बेर के शासक रामसिंह और बिशनसिंह, तथा बूंदी के अनिरुद्धसिंह ने अपने-अपने जीवन के अन्तिम वर्ष सदूर अफ़गानिस्तान में ही बिताए और वहीं उनकी मृत्यु भी हुई। बीकानेर का वीर तथा विद्यानुरागी राजा अनूपसिंह तथा कोटा का साहसी राव किशोरसिंह हाड़ा दक्षिण में मरे। उनकी अनुपस्थिति में भी इन राज्यों के शासन किसी न किसी प्रकार चलते ही गए, परन्तु उनका सगठन निरन्तर शिथिल ही होता जा रहा था। राजपूतों के इस विद्रोह तथा अन्यत्र भी यदा-कदा होने वाले उपद्रवों के कारण मारवाड़ के साथ ही साथ राजस्थान के अन्य भागों की भी आर्थिक परिस्थिति निरन्तर बिगड़ती जा रही थी, और तब वहाँ किसी भी प्रकार के सुधार या उन्नति होना संभव नहीं था। किन्तु ऐसे समय में भी बीकानेर के राजा अनूपसिंह ने अद्वितीय विद्यानुराग का परिचय देकर भारतीय संस्कृति की महत्वपूर्ण सेवा की। प्रचुर धन व्यय कर उसने सहस्रों हस्तलिखित अन्यत्र अलभ्य ग्रंथों को एकत्रित कर बीकानेर

में उनकी सुरक्षा तथा संग्रह का प्रबन्ध किया, और यों भारत की इस अप्राप्य साहित्यिक सम्पति को सर्वनाश से बचाया। अनूपसिंह स्वयं संस्कृत भाषा का विद्वान तथा संगीतज्ञ था। वह विद्वानों का सम्मानकर्ता एवं उनका आश्रयदाता भी था। भाषा साहित्य के क्षेत्र में सतसईकार वृन्द ही इस काल का प्रमुख कवि था। इन दिनों फुटकर काव्य की ओर ही झुकाव बढ़ता जा रहा था। कवि भी अब वीर रस की अपेक्षा शृंगार रस की ओर अधिक ध्यान देते थे। यह सब जन-साधारण की तत्कालीन रुचि का भी द्योतक था, और मुग़ल साम्राज्य के साथ ही निकट भविष्य में होने वाले राजस्थान के भी पतन की संभावना की ओर सुस्पष्ट रूपेण निर्देश कर रहा था।

२. मुग़ल साम्राज्य पतन काल (१७१०–१७५१ ई०)

बहादुर शाह की लाहौर में ही मृत्यु हुई। राग-रंग में लीन उसके उत्तराधिकारी जहाँदार शाह को हरा कर जब फर्रुख़सियर दिल्ली के तख़्त पर बैठा, तब उसके प्रमुख समर्थक एवं मुग़ल साम्राज्य के नए वज़ीर सैयद अब्दुल्ला ने पूरे तीन वर्ष बाद पुनः राजस्थान की ओर ध्यान दिया। आम्बेर के राजा सवाई जयसिंह ने फर्रुखसियर की आधीनता स्वीकार कर ली थी। मालवा पर इस समय मरहठों के निरन्तर आक्रमण होने लगे थे। उनका सामना कर सकने योग्य दूसरा कोई सशक्त सेनानायक नहीं मिल सका, एवं अक्तूबर, १७१३ ई० में सवाई जयसिंह को प्रथम बार मालवा का सूबेदार नियुक्त किया और यों उसे अपनी योग्यता तथा बुद्धिपूर्ण कौशल का पूरा परिचय देने का अवसर मिला।

जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह को दबाने के लिए हुसेन अली

को मारवाड़ पर ससैन्य चढ़ाई करनी पड़ी । अजमेर होता हुआ वह मेड़ता तक जा पहुँचा, तब तो भण्डारी खींवसी को भेज कर अजीतसिंह ने हुसैन अली के साथ संधि कर ली (मार्च, १७१४ ई०)। हुसैन अली जब दिल्ली को लौटा, तब अजीतसिंह ने अपने बड़े लड़के अभयसिंह को उसके साथ शाही दरबार में भेजा । इसी अवसर पर मारवाड़ के राजघराने की लड़की अन्तिम बार मुग़ल सम्राट् के साथ ब्याही गई । जिस अजीतसिंह को जन्म से ही मुग़ल साम्राज्य एवं शाही राजघराने के विरोध का पाठ पढ़ाया गया था, साम्राज्य के इस पतनोन्मुख काल में उसी का यह एकाएक नैतिक पतन राजस्थान के इतिहास की अनबूझ पहेली ही है । अब तो अभयसिंह तथा अजीतसिंह के प्रति विशेष अनुग्रह दिखाया जाने लगा। गुजरात की सूबेदारी अजीतसिंह को दी जाने का फ़रमान दिसम्बर १९, १७१४ ई० को लिखा गया था, परन्तु अप्रेल २३, १७१५ ई० को ही इस नियुक्ति की घोषणा की गई । जुलाई २८ को अजीतसिंह के कर्मचारियों ने गुजरात सूबे का शासन सम्हाला । इस सूबे के साथ मारवाड़ के घराने का जो सम्बन्ध यों स्थापित हुआ, वह अगले पच्चीस वर्षों तक यदा-कदा चलता ही रहा ।

बहादुर शाह ने जिस तरह सन् १७१० ई० में अजीतसिंह और सवाई जयसिंह के साथ संधियाँ कीं, उससे ही मुग़ल साम्राज्य की बढ़ती हुई निर्बलता सुस्पष्ट हो गई थी । सवाई जयसिंह तथा अजीतसिंह की इन नियुक्तियों के बाद अब तो उन दोनों राजाओं का राजनैतिक महत्व बहुत अधिक बढ़ गया, जिसके फलस्वरूप राजस्थान के इन सारे राज्यों पर आवश्यक अनुशासन रखने के लिए नियुक्त अजमेर का मुग़ल सूबेदार इन दोनों राजाओं की तुलना में नगण्य ही समझा जाने लगा । राजस्थान में मुग़ल साम्राज्य की सत्ता निरन्तर

घटती जा रही थी, और वहाँ के प्रान्तीय मामलों का निर्देशन भी बहुत-कुछ अजमेर के मुग़ल सूबेदार के हाथ से निकलता जा रहा था। उदाहरणार्थ राजस्थान की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर स्थित कोटा, बूंदी तथा रामपुरा राज्यों के महत्वपूर्ण मामलों का उल्लेख किया जा सकता है। राजस्थान के तोन महत्वपूर्ण राज्यों में से मेवाड़ के राजघराने ने तो महाराणा राजसिंह की मृत्यु के बाद से ही अपने राज्य से बाहर के मामलों के प्रति पूर्ण उदासीनता धारण कर ली थी। अब शाही दरबार में अपना व्यक्तिगत महत्त्व बढ़ाने के साथ ही राजस्थान के प्रान्तीय मामलों के निर्देशन को भी पूर्णतया अपने ही हाथ में लेने के लिए अजीतसिंह और सवाई जयसिंह में कशमकश प्रारम्भ हुई, जो उनके उत्तराधिकारियों में आगे भी चलती ही रही, और इन दोनों राजघरानों के लिए ही नहीं, किन्तु समूचे राजस्थान के लिए भी बहुत ही हानिकारक प्रमाणित हुई।

परन्तु इस बार तो ये दोनों ही राजा अपने इन सूबों में अधिक काल तक नहीं रह सके। मालवा का सूबेदार रहते हुए भी सवाई जयसिंह को आगरा सूबे में चूड़ामन जाट के विद्रोह को दबाने के लिए सितम्बर, १७१६ ई० में भेजा गया। यह काम पूरा हो भी नहीं पाया था कि सवाई जयसिंह को बदल कर मुहम्मद अमीन ख़ाँ को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया गया (अक्तूबर, १७१७ ई०)। इससे कोई पाँच माह पहिले ही गुजरात की सूबेदारी भी अजीतसिंह से ली जाकर ख़ान दौरान को दी गई थी। तथापि इन दोनों का महत्व किसी भी प्रकार कम नहीं हुआ। फर्रुख़सियर तथा उसके वज़ीर क़ुतुब-उल्-मुल्क के बीच चलने वाली कशमकश में जब फर्रुख़सियर ने अपनी सहायतार्थ अजीतसिंह को दिल्ली बुलाया, तब अजीतसिंह को अपने पक्ष मे मिलाने का वजीर ने सफल प्रयत्न किया। पुनः यद्यपि तब

अजीतसिंह और कोटा का महाराव भीमसिंह उसकी सहायतार्थ दिल्ली में विद्यमान थे, उसका भाई हुसैन अली अपनी सारी निजी सेना के साथ दिल्ली पहुँच चुका था एवं सैयदों की सहायतार्थ हुसैन अली के साथ आई हुई मरहठा सेना भी तब दिल्ली में ही उपस्थित थी, तथापि फर्रुखसियर को पदच्युत करने से पहिले तब उसके एकमात्र समर्थक सवाई जयसिंह और बूंदी के राव राजा बुधसिंह को दिल्ली से रवाना करना ही वज़ीर को अत्यावश्यक प्रतीत हुआ।

फर्रुखसियर को पदच्युत करने के बाद दो बालक बारी बारी से सम्राट् बनाए गए और अन्त में इतिहास में सुज्ञात रंगीले बादशाह मुहम्मद शाह को दिल्ली के तख़्त पर आरूढ़ किया (सितम्बर १८, १७१९ ई०)। अजीतसिंह को अप्रेल, १७१९ ई० में ही गुजरात की सूबेदारी दी जा चुकी थी; अब अक्तूबर २६, १७१९ ई० को उसे अजमेर की सूबेदारी भी दी गई। पुनः इन पिछले छः महीनों में वज़ीर कुतुब-उल्-मुल्क के विरुद्ध उठने वाले विद्रोहों में सवाई जयसिंह की गुप्त सहायता होने की आशंका के कारण ही उसे भी संतुष्ट करने का प्रयत्न किया गया, तथा वज़ीर की ओर से अजीतसिंह ने स्वयं जा कर उसके साथ समझौता किया। परन्तु फर्रुखसियर का साथ देने का दण्ड बूंदी के राव राजा बुधसिंह को तो झेलना ही पड़ा। जाजव के युद्ध से कोटा और बूंदी के घराने में जो शत्रुता प्रारम्भ हुई, तथा जो बहादुर शाह की मृत्यु के बाद भी चलती रही, उसमें अपना पक्ष सुदृढ़ करने के लिए कोटा के राव भीमसिंह ने सैयदों से मित्रता कर निरन्तर उनका साथ दिया था; अतएव इस समय बूंदी पर चढ़ाई के लिए जाती हुई सेना का सेनापतित्व भीमसिंह को सौंपा गया। घोर युद्ध के बाद उसने मार्च २, १७२० ई० को बूंदी पर अधिकार कर लिया।

परन्तु सैयदों का आधिपत्य अधिक समय तक स्थायी नहीं रह सका। मालवा के तत्कालीन सूबेदार निज़ाम ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया, और उसका सामना करते हुए कोटा का राव भीमसिंह खेत रहा (जून, १७२० ई०)। तब मुहम्मद शाह भी सैयदों के विरोधियों से मिल गया; पहिले हुसैन अली मारा गया और तब कुतुब-उल्-मुल्क कैद हुआ (नवम्बर, १७२० ई०)। अब सवाई जयसिंह भी आम्बेर से चल कर दिल्ली पहुँचा, और उसके विशेष आग्रह से इस बार सर्वदा के लिए जज़िया कर बन्द कर दिया गया।

सैयदों का जब पतन हुआ, तब अजीतसिंह जोधपुर में ही था; ये सारे समाचार सुन कर वह स्वयं ससैन्य अजमेर जा पहुँचा। उसने मुहम्मद शाह की आधीनता स्वीकार नहीं की थी, एवं उसके विरुद्ध कुछ कार्यवाही करना आवश्यक हो गया। पहिले तो गुजरात की सूबेदारी अजीतसिंह से लेकर हैदर कुली ख़ाँ को दे दी गई (जनवरी, १७२१ ई०), और मई मास के बाद हैदर कुली ख़ाँ के नायब ने गुजरात सूबे का शासन-प्रबन्ध सम्हाल लिया। तब सितम्बर, १७२१ ई० में अजमेर की सूबेदारी भी अजीतसिंह से ले लेने का निश्चय किया गया, परन्तु साम्राज्य की सैनिक निर्बलता के कारण इस निश्चय को कार्यरूप में परिणत करना कठिन हो गया। उधर अजीतसिंह के पुत्र अभयसिंह ने नारनौल, अलवर और तिजारा तक लूट-मार मचा दी। किन्तु इसी समय यह ज्ञात होने पर कि निज़ाम-उल्-मुल्क ने साम्राज्य का वज़ीर बनना स्वीकार कर लिया है, तथा अपने पद पर आरूढ़ होने के लिए वह दिल्ली आ रहा है, अजीतसिंह अजमेर खाली कर जोधपुर की ओर लौटा, और साँभर के फ़ौजदार नाहर ख़ाँ के साथ अपने कर्मचारी भण्डारी खींवसी को दिल्ली भेज कर एक अर्ज़ी द्वारा मुहम्मद शाह को अपनी

स्वामिभक्ति का आश्वासन देते हुए अजमेर सूबे की सूबेदारी उसी के पास रहने देने के लिए उसने प्रार्थना भी की (मार्च, १७२२ ई०)। अजीतसिंह की यह प्रार्थना स्वीकार की गई और कुछ समय के लिए उसे ही अजमेर का सूबेदार रहने दिया गया। पुनः नाहर ख़ाँ को अजमेर सूबे का दीवान नियुक्त किया गया। अजमेर पहुँचने पर दिसम्बर २७, १७२२ ई० को राठौड़ों ने नाहर ख़ाँ को मार डाला। तब तो अजीतसिंह पर चढ़ाई करने के लिए बड़ी सेना एकत्रित की गई, हैदर कुली खाँ को अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया गया और वह इस सेना के साथ अजमेर की ओर बढ़ा। किन्तु अजीतसिंह ने इस सेना का सामना करना उचित नहीं समझा, और वह जोधपुर की ओर लौट पड़ा। मई २९, १७२३ ई० को हैदर कुली खाँ अजमेर पहुँचा, और तब अजीतसिंह ने उसके साथ संधि कर ली। अजमेर का किला और तेरह परगने उसने वापिस दे दिए, जिनमें से नागोर का परगना पहिले ही मई २६, १७२३ ई० के दिन राव इन्द्रसिंह को पुनः दिया जा चुका था। इस बार अभयसिंह को शाही दरबार में भेज कर अगले वर्ष स्वयं दिल्ली आने का उसने वादा किया। परन्तु अजीतसिंह यह वादा पूरा नहीं कर पाया। ज़नाने में सोते हुए अजीतसिंह को जून २३, १७२४ ई० की रात में उसके छोटे बेटे बख़्तसिंह ने मार डाला। यह समाचार सुन कर अपने शाही दरबार में उपस्थित अभयसिंह को मुहम्मद शाह ने वहीं जोधपुर का स्वामी स्वीकार कर लिया।

मुग़ल साम्राज्य का शासन दिनोंदिन अधिकाधिक अव्यवस्थित होता जा रहा था। मुहम्मद शाह अयोग्य और सर्वथा प्रेरणा-हीन था। कोकी नामक स्त्री, अन्य दरबारी कृपापात्र तथा ख़ान दौरान का मुहम्मद शाह पर पूरा-पूरा प्रभाव था, शासन-कार्य में भी उनकी बहुत चलती थी, एवं वे निरन्तर निज़ाम का विरोध करते रहते थे। साम्राज्य के महत्त्व-

पूर्ण पदों पर भी निरन्तर अयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति होती जाती थी। विभिन्न सूबों पर से केन्द्रीय नियन्त्रण तथा दबाव घटता जा रहा था। आमदनी के साथ ही साम्राज्य की सैनिक शक्ति का भी दिनों दिन ह्रास होता जा रहा था। मालवा और गुजरात में मरहठे घुसे चले आ रहे थे, तथा उनको रोकने का कुछ भी प्रयत्न नहीं हो रहा था। पूरे डेढ़ वर्ष तक भरसक प्रयत्न करने पर भी जब निज़ाम साम्राज्य के शासन-संगठन को नहीं सुधार सका, तब दिसम्बर, १७२३ ई० में वह छुट्टी ले कर दिल्ली से चल पड़ा, और कई एक कठिनाइयों के बाद सुदूर दक्षिण में अपना एकाधिपत्य स्थापित कर हैदराबाद राज्य की नींव डाली (१७२४ ई०)। दिल्ली में निज़ाम के स्थान पर उसी के चचेरे भाई कमरुद्दीन ख़ाँ को साम्राज्य का वज़ीर नियुक्त किया गया (जुलाई १२, १७२४ ई०)।

साम्राज्य का शासन-संगठन अब और भी अधिक शीघ्रता के साथ विश्रृंखलित होने लगा। हैदर कुली ख़ाँ के बाद सैयद हुसैन ख़ाँ को अजमेर सूबे का सूबेदार नियुक्त किया गया (अप्रेल, १७२५ ई०), परन्तु अब वहाँ के मुग़ल सूबेदार का कुछ भी महत्त्व नहीं रह गया था। सवाई जयसिंह ने इस परिस्थिति से पूरा लाभ उठाने का निश्चय किया। अगस्त २२, १७२२ ई० को वह आगरा का सूबेदार नियुक्त किया गया, और शाही आज्ञानुसार कुछ ही महीनों में उसने थूण के किले को जीत कर चूड़ामन जाट के विद्रोही बेटे मोहकमसिंह को मार भगाया। जाटों के नए नेता, ठाकुर बदनसिंह ने सवाई जयसिंह की आधीनता स्वीकार कर ली। तभी से जाटों के इस प्रदेश का राजस्थान के साथ संबन्ध स्थापित हुआ जिसके फलस्वरूप अंग्रेजों ने भरतपुर राज्य को भी राजपूताना एजन्सी में सम्मिलित कर दिया था। अब सवाई जयसिंह साँभर झील से लेकर पूर्व में आगरा-मथुरा के पास

यमुना तट तक और यदि संभव हो सका तो दक्षिण में नर्मदा के किनारे तक अपने राज्य की सीमाएँ बढ़ाने का प्रयत्न करने लगा। ढूंढाड़ के जो भी परगने अब तक उसके अधिकार में नहीं आए थे, एक एक कर उन्हें उसने अपनी जागीर में लिखवाया और सन् १७३२ ई० के बाद उपयुक्त अवसर पाकर शेखावाटी के इक्यावन परगनों को भी प्रति वर्ष पच्चीस लाख रुपया देने की शर्त पर अपने नाम इजारे करवा लिया। पुनः दक्षिण की ओर अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए ही अब सवाई जयसिंह ने रामपुरा, बूंदी और कोटा पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया। मरहठों के प्रति उसकी भावी नीति भी इसी एक उद्देश्य को लेकर निश्चित की जाने लगी। बढ़ते हुए राज्य के अनुरूप एक नई राजधानी का निर्माण करने के लिए आम्बेर से कोई सात मील दक्षिण-पश्चिम में अपने नाम से जयनगर नामक एक नया नगर बसाना प्रारम्भ किया (नवम्बर, १७२७ ई०)। ये शान्तिपूर्ण सात वर्ष (१७२३-१७२९ ई०) उसने खगोल विद्या सम्बन्धी अध्ययन करने, तत्सम्बन्धी निरीक्षण के लिए नये यंत्रों का स्वरूप निश्चित कर उनका निर्माण करवाने, और अब तक रही हुई भूलों को सुधार कर नई सारिणियाँ तैयार करने में ही बिताये।

जब सवाई जयसिंह यों अपने राज्य की वृद्धि करने और उसे समुन्नत बनाने में लगा हुआ था, तब जोधपुर के नए महाराजा अभयसिंह को अपने ही सरदारों को प्रसन्न करने, अपने भाइयों के विद्रोह को दबाने तथा राज्य में शान्ति स्थापित करने से ही अवकाश नहीं मिल रहा था। सन् १७२५ ई० में नागोर पर पुनः उसका अधिकार हो गया, परन्तु तभी यह परगना उसे अपने छोटे भाई बख़्तसिंह को देना पड़ा। यों एक अलग अर्ध-स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई जो आगे चल कर

मारवाड़ के लिए अहितकर प्रमाणित हुआ। नागोर में रह कर बख्तसिंह समयानुसार अपने पड़ोसी बीकानेर राज्य से मिल कर या उसके विरुद्ध निरन्तर षड्यन्त्र करता रहता था, जिससे उत्तरी राजस्थान में भी अशान्ति का एक नया कारण उत्पन्न हो गया।

मालवा और गुजरात पर मरहठों के आक्रमण निरन्तर बढ़ते ही जा रहे थे। सन् १७२४ ई० में निज़ाम के दक्षिण चले जाने के बाद मालवा के आन्तरिक प्रान्तीय मामलों की जो उपेक्षा की गई, और गुजरात में मुग़ल अधिकारियों में ही जो पारस्परिक युद्ध प्रारम्भ हो गया, उनसे मरहठों ने पूरा-पूरा लाभ उठाया। इसी समय मालवा में गिरधर बहादुर की नियुक्ति से वहाँ उनको रोकने के कुछ प्रयत्न होने लगे थे। परन्तु अब राजा शाहू और पेशवा बाजीराव राजस्थान के राजाओं को भी अपनी ओर मिलाने के लिये प्रयत्नशील हुए। शिवाजी ने अपने घराने का महाराणा के राजघराने के साथ सम्बन्ध जोड़ा था; अब उसी परम्परा से लाभ उठा कर सन् १७२५ ई० की बरसात के बाद शाहू ने प्रभु जादूराय नामक व्यक्ति को अपना दूत बना कर उदयपुर भेजा। मरहठे चाहते थे कि मुग़ल साम्राज्य मालवा और गुजरात सूबे की भी चौथ उन्हें देना स्वीकार कर ले। किन्तु महाराणा स्वयं तो ऐसे मामलों से दूर रहता था, एवं उसने यह संदेसा सवाई जयसिंह तक पहुँचा दिया। उधर मरहठों को दबाने के लिए आवश्यक सेना एकत्रित करने के प्रस्ताव शाही दरबार में भी हो रहे थे। तब सवाई जयसिंह को पूरी आशा थी कि मालवा की सूबेदारी उसे दी जावेगी, एवं उसने वहाँ प्रस्ताव किया कि शाहू के शाही दरबार में उपस्थित होने पर ही दोनों ही सूबों में उसे दस-दस लाख रुपये की जागीर दी जाकर निरन्तर होने वाले इन आक्रमणों का अन्त किया जावे। जादूराय के द्वारा इन सब बातों की सूचना शाहू को

भी दे दी गई (जून, १७२६ ई०)। परन्तु दो वर्ष बीत जाने पर भी जब मालवा की सूबेदारी उसे नहीं दी गई तब जयसिंह क्रुद्ध हो गया और बुलवाए जाने पर भी वह दिल्ली नहीं गया, तथा शीघ्रातिशीघ्र बहुत बड़ी सेनाएँ मालवा में भेजने की उसने बाजीराव को सलाह दी (अगस्त, १७२८ ई०)।

दिसम्बर, १७२८ ई० में उदयपुर वाली महाराणी से सवाई जयसिंह के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम माधोसिंह रखा गया। सन् १७०८ ई० की उदयपुर वाली संधि का स्मरण कर सवाई जयसिंह उत्तराधिकार के लिए होने वाले भावी युद्धों की संभावना से चिंतित हो उठा। इन विपत्तियों को टालने के इरादे से जयसिंह ने महाराणा से प्रार्थना कर रामपुरा का परगना, जो सन् १७१८ ई० से मेवाड़ राज्य में सम्मिलित था, मार्च २६, १७२९ ई० को माधोसिंह के नाम लिखवा लिया। इस परगने का अधिकार तथा शासन-प्रबन्ध जयसिंह ने अपने हाथ में ले लिया, जिससे नाम-मात्र को ही वह मेवाड़ के आधीन रह गया।

मालवा में मरहठों का उपद्रव बढ़ता ही गया। पेशवा बाजीराव के भाई, चिमाजी के नेतृत्व में बढ़ती हुई मरहठा सेना का सामना करने पर मालवा का सूबेदार गिरधर बहादुर नवम्बर २९, १७२८ ई० को अमझरा के पास लड़ता हुआ खेत रहा। तब आठ-नौ महीने की हिचकिचाहट के बाद अक्तूबर, १७२९ ई० में जयसिंह को दूसरी बार मालवा की सूबेदारी दी गई। मालवा की राजनैतिक परिस्थिति बहुत ही बिगड़ चुकी थी, एवं सवाई जयसिंह के मतानुसार शाहू से समझौता करना अब और भी अधिक आवश्यक हो गया। पहिले तो मुहम्मद शाह भी जयसिंह से सहमत हो गया, और शाहू से मिल कर आवश्यक समझौता करने के लिए जयसिंह ने दीपसिंह को दक्षिण

भेजा। परन्तु समझौते की बातचीत पूरी होने से पहिले ही मुहम्मद शाह की राय पलट गई और उसने जयसिंह के स्थान पर मुहम्मद बंगश को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया (सितम्बर १९, १७३० ई०)।

मालवा की अपनी इस अल्पकालीन सूबेदारी से लाभ उठा कर सवाई जयसिंह ने दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में भी अपना आधिपत्य बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया। मदिरा और अफ़ीम के नशे में चूर रहने वाले, बूंदी के दुर्व्यसनी एवं आलसी राव राजा बुधसिंह हाड़ा को बूंदी की गद्दी पर से हटा कर करवर के हाडा दलेलसिंह को उसने वहाँ का राव राजा बनाया (मई १९, १७३० ई०)। बूंदी का यह नया शासक अब सवाई जयसिंह का एक सामन्त बन गया, और बूंदी का प्राचीन स्वतन्त्र राज्य अब आम्बेर के राज्य का ही एक अंग-मात्र समझा जाने लगा। परन्तु जयसिंह की इस सफलता ने राजस्थान में एक नई उलझन पैदा कर दी, जिसके फलस्वरूप कुछ ही वर्षों बाद मरहठों ने वहाँ की राजनीति में भी प्रथम बार प्रवेश किया।

उधर गुजरात में भी मरहठों का जोर निरन्तर बढ़ता जा रहा था। वहाँ के तत्कालीन सूबेदार सरबुलन्द ख़ाँ को भी विवश होकर मार्च २३, १७३० ई० को चिमाजी के साथ समझौता करना पड़ा। उसकी इन सारी विफलताओं के कारण उससे अप्रसन्न होकर मुहम्मद शाह ने सरबुलन्द ख़ाँ को बदल दिया और गुजरात की सूबेदारी महाराजा अभयसिंह को दे दी। परन्तु सरबुलन्द ख़ाँ इस शाही हुक्म को मानने के लिए राजी न था। अभयसिंह के गुजरात पहुँचने पर सरबुलन्द ख़ाँ ने उसका सामना किया, परन्तु अभयसिंह के हाथों उसे हार खानी पड़ी। तब तो विवश होकर सरबुलन्द ख़ाँ ने गुजरात

का सूबा अभयसिंह को सौंप दिया और वह स्वयं दिल्ली को लौट पड़ा (अक्तूबर, १७३० ई०)। किन्तु गुजरात में मरहठों के विरुद्ध अभयसिंह को भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली। पहिले बाजीराव से और फिर दाभाड़े के साथ उसे समझौता करना पड़ा। कोई ढाई साल तक स्वयं वहाँ रहने के बाद, रतनसिंह भण्डारी को वहाँ अपना नायब नियुक्त कर अप्रेल, १७३३ ई० के लगभग अभयसिंह वापस जोधपुर को लौट गया। वह फिर कभी गुजरात नहीं गया। गुजरात में अब सर्वत्र मरहठों का दौर-दौरा हो गया था, एवं सन् १७३६ ई० में जब मुहम्मद शाह ने मोमिन ख़ाँ को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया, तब अभयसिंह की इस नाम-मात्र की सूबेदारी का भी अन्त हो गया।

दो वर्ष तक मालवा का सूबेदार रह कर भी जब बंगश मरहठों को वहाँ से नहीं निकाल सका, तब विवश होकर मुहम्मद शाह ने सितम्बर २८, १७३२ ई० को मालवा की सूबेदारी पुनः सवाई जयसिंह को दी। इस समय तक मालवा प्रान्त का मुग़ल शासन-संगठन पूर्णतया विश्रृंखलित हो चुका था। दक्षिणी मालवा पर तो मरहठों का पूर्ण आधिपत्य हो गया था, और उत्तरी मालवा में भी साम्राज्य का पूरी तरह साथ देने वाले ढूंढे ही मिलते थे। अतएव फरवरी, १७३३ ई० में जब मन्दसौर के पास सवाई जयसिंह की मरहठों के साथ मुठभेड़ हुई तब मरहठों को ही सफलता मिली और जयसिंह को विवश होकर छः लाख रुपये नक़द तथा चौथ के बदले मालवा के अट्ठाईस परगने मरहठों को देना स्वीकार करना पड़ा।

मरहठों की इस बढ़ती हुई शक्ति को देख कर बुधसिंह की कछवाही रानी ने दलेलसिंह के विरुद्ध मरहठों की सहायता प्राप्त करने के लिए दलेलसिंह के ही ईर्ष्यालु बड़े भाई प्रतापसिंह को दक्षिण भेजा।

छः लाख रुपया पाने के वादे पर मल्हारराव होलकर और राणोजी सिन्धिया ने चढ़ाई कर अप्रेल २२, १७३४ ई० को बूंदी पर अधिकार कर लिया। मल्हारराव होलकर के राखी बांध कर सवाई जयसिंह की इस सौतेली बहिन ने सुदूर दक्षिणवासी उस गड़रिये वीर को अपना भाई बनाया। किन्तु मरहठों के दक्षिण लौटने के कुछ ही दिनों बाद सवाई जयसिंह की सेना ने बूंदी पर अधिकार कर दलेलसिंह को पुनः वहाँ का शासक बना दिया।

राजस्थानी राज्यों के आन्तरिक झगड़ों में मरहठों के इस प्रथम हस्ताक्षेप ने राजस्थान के सारे ही विचारशील नरेशों की आँखें खोल दीं और इस भावी विपत्ति की सम्भावनाओं को भी उन्होंने कुछ-कुछ समझा। मरहठे आक्रमणकारियों का सफलतापूर्वक सामना कर सकने के अत्यावश्यक उपाय सोच निकालने के लिए जयसिंह ने राजस्थान के सारे नरेशों को एकत्रित करने का आयोजन किया। मेवाड़ की सीमा पर हुरड़ा नामक स्थान में जुलाई १७, १७३४ ई० को नरेशों का यह सम्मेलन हुआ, जिसमें महाराणा जगतसिंह, अभयसिंह, सवाई जयसिंह, नागोर का बख़्तसिंह, बीकानेर का जोरावरसिंह, कोटा का दुर्जनसाल, बूंदी का दलेलसिंह, करौली का गोपालपाल, किशनगढ़ का राजसिंह, आदि सारे ही छोटे-बड़े नरेश उपस्थित थे। उन सब नरेशों ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिससे राजस्थान के सारे राज्यों में एकता स्थापित की गई, और बरसात के बाद ससैन्य रामपुरा में एकत्रित हो कर सामूहिक रूप से मरहठों पर चढ़ाई करने का निश्चय किया। परन्तु इन राजपूत नरेशों का इतना घोर नैतिक पतन हो चुका था और वे ऐश्वर्य-विलास में इतने डूबे हुए थे कि अपने आपसी जातीय झगड़ों को भूल कर अपने व्यक्तिगत स्वार्थ एवं लाभ को छोड़ना,

तथा शारीरिक सुखों का त्याग कर इस बढ़ती हुई आपत्ति से बचने के लिए सम्मिलित हो मरहठों का सामना करना भी उनके लिए एक असंभव बात हो गई ।

इसी वर्ष बरसात के बाद एक बड़ी मुग़ल सेना ख़ान दौरान के सेनापतित्व में मालवा की ओर बढ़ी; जयसिंह, अभयसिंह और दुर्जनसाल भी उसके साथ थे। रामपुरा के प्रदेश में पहुँच कर भी वे मरहठों को नहीं रोक सके। मरहठे राजस्थान में जा घुसे और साँभर के धनी शहर को उन्होंने लूटा (फरवरी, १७३५ ई०)। सूबा मालवा की चौथ के रूप में २२ लाख रुपया देने का वादा करने पर ही मरहठे दक्षिण को लौटे (अप्रेल, १७३५ ई०)। अब तो दिल्ली में उसके विरोधियों ने मुहम्मद शाह के कान सवाई जयसिंह के विरुद्ध भरना शुरू किया। आगरा और मालवा की सूबेदारी से भी जयसिंह को अलग करने के प्रस्ताव होने लगे, जिनकी सूचना पाकर जयसिंह और भी अधिक क्रुद्ध हो उठा और उसने मरहठों का ही साथ देने का निश्चय किया (अगस्त, १७३५ ई०) ।

जयसिंह की सहायता का आश्वासन पाते ही राजस्थान के प्रत्येक राजपूत राजा की राजधानी में स्वयं जाने तथा वहाँ समझा-बुझा कर उनसे शान्तिपूर्वक चौथ वसूल करने का निश्चय कर पेशवा ससैन्य पूना से चल पड़ा, और लूनावाड़ा-डूंगरपुर की राह वह उदयपुर जा पहुँचा (जनवरी, १७३६ ई०)। मिलने-जुलने तथा अन्य बर्ताव में बाजीराव ने महाराणा के प्रति अत्यधिक नम्रता और विशेष आदर प्रदर्शित किया, परन्तु चौथ के बारे में समझौता करते समय उसने किसी भी प्रकार की नरमी नहीं दिखाई । यों फरवरी, १७३६ ई० में महाराणा ने प्रथम बार मरहठों को चौथ दी ।

उदयपुर से नाथद्वारा होता हुआ बाजीराव उत्तर की ओर

बढ़ा और अजमेर से ३० मील पूर्व में भमोला नामक स्थान पर उसकी जयसिंह के साथ भेंट हुई। मरहठों के साथ चल रहे युद्ध में अपनी निरन्तर विफलताओं से हतोत्साह होकर अब मुहम्मद शाह भी सन्धि करने के लिए उत्सुक हो गया था, एवं बाजीराव ने भी लड़ाई-झगड़ा बन्द कर दिया। जयसिंह से मिल कर उसकी सलाह के अनुसार बाजीराव तो वापस दक्षिण को लौट गया (फरवरी, १७३६ ई०)। इधर सन्धि की बातचीत प्रारम्भ हुई, जिसके फ़लस्वरूप अन्त में बाजीराव को मालवा का नायब-सूबेदार बनाया गया (मई, १७३६ ई०), और यद्यपि इस बार इस प्रश्न का कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो सका था, वास्तविकंता में तो इसी समय से मालवा प्रान्त का मुग़ल साम्राज्य के साथ सर्वदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। फिर भी मालवा के लिए यह कशमकश यों आसानी से समाप्त होने वाली न थी। बाजीराव की बढ़ती हुई माँगों से लाभ उठा कर शाही दरबार में उपस्थित उसके विरोधियों ने मुहम्मद शाह को भड़काया, दक्षिण से निज़ाम-उल्-मुल्क को बुलवाया और अगस्त ३, १७३७ ई० को मालवा की सूबेदारी तथा नायब-सूबेदारी से जयसिंह एवं बाजीराव को अलग कर दिया, जिससे अब जयसिंह का मालवे के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

मुग़ल साम्राज्य की परिस्थिति दिनोंदिन बिगड़ती जा रही थी। मरहठों को रोकने के लिए सारे प्रयत्न विफल हुए; निज़ाम ने भी भोपाल के युद्ध में मुँह की खाई, और विवश हो कर उसे दुराहा सराय का समझौता करना पड़ा (जनवरी ६, १७३८ ई०)। मालवा के साथ ही राजस्थान में भी मरहठे यत्र-तत्र चौथ वसूल करने लगे थे। उदयपुर से पहिले ही समझौता हो चुका था, और अब कोटा को

भी दस लाख रुपया देने का वादा करना पड़ा। राजस्थान के इस दक्षिण-पूर्वी भाग में यह रुपया वसूल करने और मरहठों के दूसरे काम-काज को देखने भालने के लिए राणोजी सिन्धिया ने बालाजी यशवन्त गुलगुले को कोटा में नियुक्त किया।

इसी समय नादिर शाह के आक्रमण के रूप में भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर एक नई महान आपत्ति के बादल उमड़ रहे थे। यह विपत्ति किसी भी प्रकार टाले नहीं टली और उत्तरी भारत को उससे पूरी हानि उठानी पड़ी। नादिर शाह के विरुद्ध साम्राज्य की सहायतार्थ दिल्ली बुलवाए जाने पर भी राजस्थान के कोई नरेश वहाँ नहीं गए। अजमेर में ख़्वाजा साहिब की दरगाह पर नादिर शाह के आने की संभावना से राजस्थान भी त्रस्त और आतंकित हो उठा था, परन्तु राजस्थान के सौभाग्य से नादिर शाह मई, १७३९ ई० के प्रारम्भ में दिल्ली से ही ईरान को वापस लौट गया। तब दिल्ली के तख़्त पर बैठ कर मुग़ल सम्राट् मुहम्मद शाह ने पुनः साम्राज्य का कार्य भार सम्हाला। परन्तु नादिर शाह के इस आक्रमण ने डगमगाते हुए जीर्ण-शीर्ण साम्राज्य के रहे-सहे संगठन को भी पूर्णतया छिन्न-भिन्न कर दिया था। स्वार्थी चाटुकार कृपा-पात्र दरबारियों के ही कहने में चलने वाले अयोग्य निकम्मे विलासी मुहम्मद शाह में साम्राज्य को सुसंगठित कर उसे पुनः शक्तिशाली बनाने की अत्यावश्यक योग्यता और दृढ़ता नहीं थी। साम्राज्य की अब अपनी कोई अलग सेना भी नहीं रह गई थी कि उसकी सहायता से सम्राट् साम्राज्य के विभिन्न सूबों पर अपना आधिपत्य बनाए रख सकता। कई अन्य प्रान्तों के समान राजस्थान में कोई शक्तिशाली सूबेदार भी न था, जो वहाँ के विभिन्न नरेशों को दबा कर उन्हें आधीन रख सकता। मुग़ल साम्राज्य की इस रही-

दूत उसके पास भेज दिये। जोधपुर, कोटा और बूंदी के दूत भी अपने अपने राज्यों के मामले तय करवाने को होलकर के पास जा पहुँचे। परन्तु इसी समय मल्हारराव को राजपूताना से लौट जाना पड़ा, और अगले दो वर्षों तक कोई प्रमुख मरहठा सेनानायक राजस्थान में नहीं आया।

परन्तु इसी वर्ष पानीपत के युद्ध के कुछ ही महीनों बाद राजस्थान में आपसी झगड़े का एक नया कारण उठ खड़ा हुआ था। सत्रह-वर्षीय महाराणा राजसिंह की निस्संतान मृत्यु के बाद उसका काका अड़सी (अरिसिंह) अप्रेल ३, १७६१ ई० को मेवाड़ की राज-गद्दी पर बैठा। अड़सी बहुत ही तेज-मिजाज़ और क्रोधी था, एवं राज्यारोहण के कुछ ही दिनों बाद उसके दुर्व्यवहार से मेवाड़ के कई प्रमुख सरदारों ने उससे क्रुद्ध होकर उसे राज्यच्युत करने का उद्योग शुरू किया। कहा जाता है कि इसके कुछ ही समय बाद स्वर्गीय महाराणा राजसिंह की गोगुन्दा वाली झाली राणी के गर्भ से एक पुत्र, रत्नसिंह, उत्पन्न हुआ, जिसका लालन-पालन उसके मामा ने किया। अड़सी की दमन-नीति एवं राजनैतिक हत्याओं से असन्तुष्ट हो मेवाड़ के कई एक सरदारों ने सन् १७६५ ई० में इसी सच्चे या बनावटी रत्नसिंह का पक्ष लेकर अड़सी के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा किया। यहीं से मेवाड़ में घोर अशान्ति तथा कटुतापूर्ण पारस्परिक युद्धों का सूत्रपात होता है। राज्य का रहा-सहा शक्तिहीन शासन-संगठन भी छिन्न-भिन्न हो गया, मेवाड़ में विधान, व्यवस्था एवं अनुशासन नाम-मात्र को भी नहीं रह गये और सर्वत्र भयंकर अराजकता फैल गई। अर्द्ध शताब्दी के बाद राजस्थान में अँग्रेज़ों की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना होने पर ही उसका अन्त हो सका।

रत्नसिंह के पक्ष वाले उस बालक को लेकर कुंभलगढ़ जा पहुँचे और मेवाड़ के उत्तर-पश्चिमी भाग को अपने अधिकार में कर लिया। राजस्थान के कई प्रमुख राजाओं ने भी रत्नसिंह का पक्ष लिया तथा इन विरोधी सरदारों को सैनिक सहायता दी। मरहठे सरदारों की ओर से मेवाड़ में नियुक्त सेनानायक यशवन्तराव बाबले तथा सदाशिव गंगाधर को भी रत्नसिंह के पक्ष वालों ने अपनी ओर मिला लिया। इस सम्मिलित सेना ने सन १७६८ ई० के प्रारम्भिक महीनों में उदयपुर नगर को जा घेरा। सौभाग्य से कोटा का सुप्रसिद्ध झाला ज़ालिमसिंह इस समय अड़सी की सेवा में उदयपुर ही था। कूटनीति से काम ले कर उसने पेशवा माधवराव के कर्मचारियों को अपनी ओर मिलाया तथा महादजी सिन्धिया के आधीन काम करने वाले पं० राघोराम पागे को पेशवा की ओर से पत्र लिखवाया कि वह अड़सी की ही सहायता करे। तब तो बहेरजी ताकपीर को भी अपने साथ लेकर राघोराम ससैन्य उदयपुर जा पहुँचा और वहाँ अड़सी से मिल-मिला कर सितम्बर २५, १७६८ ई० को एक इक़रारनामा लिखा जिसके अनुसार अड़सी के बीस लाख रुपया देने पर रत्नसिंह को कुंभलगढ़ से निकाल देने का मरहठों ने वादा किया।

अब अपना पक्ष निर्बल हुआ जान ये विद्रोही सरदार बालक रत्नसिंह को लेकर महादजी सिंधिया के पास उज्जैन पहुँचे, और रत्नसिंह को मेवाड़ की राजगद्दी पर बैठाने की शर्त पर उसे पचास लाख रुपया तथा मरहठों की पुरानी माँगों में से जो कुछ बाकी निकलता हो वह सब रुपया चुका देने का प्रस्ताव किया। तब इस आर्थिक लाभ के लालच में पड़ कर महादजी ने अड़सी के साथ किए गए उपर्युक्त इक़रारनामे को अस्वीकार कर दिया, और उसके विरुद्ध रत्नसिंह को सहायता दे कर उदयपुर की राजगद्दी पर बैठाने का वादा

किया। दिसम्बर १४, १७६८ ई० के दिन उज्जैन से चल कर महादजी ने कालियादेह में पड़ाव किया, और उदयपुर पर ससैन्य चढ़ाई की तैयारियाँ वहाँ ही होने लगीं। महादजी के इस निश्चय की सूचना जब उदयपुर पहुँची तब अड़सी के पक्ष वाले मेवाड़ के प्रमुख सरदार महादजी से मिलने और उसे समझा-बुझा कर इस मामले को अड़सी के पक्ष में तय करवाने को कालियादेह पहुँचे। इस बार झाला ज़ालिमसिंह और मेवाड़ का प्रधान मंत्री मेहता अगरचन्द भी उनके साथ थे। तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति के अनुसार उपयुक्त सेना भी उनके साथ अवश्य थी। पेशवा की पिछली आज्ञाओं के अनुसार राघोराम अब भी अड़सी के पक्ष की सहायता कर रहा था, एवं वह भी अपनी सेना के साथ उज्जैन पहुँचा। परन्तु महादजी अपनी ही बात पर अड़ा रहा और अड़सी के पक्ष वालों की एक भी बात नहीं सुनी। तब तो ये राजपूत सरदार लड़ने को तैयार हो गए। राघोराम भी ससैन्य उनके साथ जा मिला और उन्होंने महादजी पर हमला किया (जनवरी १६, १७६९ ई०)। उज्जैन के पास क्षिप्रा के तीर पर होने वाले इस युद्ध में महादजी ने अपने विरोधियों को पराजित किया। राघोराम मारा गया, शाहपुरा का राजा उम्मेदसिंह और सलूम्बर का रावत पहाड़सिंह भी खेत रहे। मेहता अगरचन्द और झाला ज़ालिमसिंह को मरहठों ने क़ैद कर लिया था एवं बाद में किसी तरह छुड़वाए गए।*

---

*प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री में उज्जैन के इस युद्ध का कहीं भी सुस्पष्ट उल्लेख नहीं मिलने, एवं उज्जैन तथा उदयपुर के बीच अत्यधिक दूरी होने के कारण ही, टाड एवं ओझा द्वारा दिए गए इस युद्ध के विवरण को सर यदुनाथ सरकार ने अविश्वसनीय माना है (फ़ाल०, २,

पूरी तैयारी करके अप्रेल, १७६९ ई० के दूसरे सप्ताह के लग-भग महादजी ने उदयपुर नगर को जा घेरा। परन्तु महादजी ने न विशेष कड़ाई की, और न व्यवस्थित रूप से नगर पर आक्रमण ही किया। कुछ सप्ताह बाद तुकोजी होलकर भी वहाँ आ पहुँचा। उसने अड़सी का पक्ष लिया, जिससे नीति के इस प्रश्न को लेकर दोनों मरहठे सेनानायकों में घोर मत-भेद और खींचा-तानी चल पड़ी। एक बार तो महादजी भी तुकोजी से सहमत हो गया और अड़सी के साथ सन्धि की सारी शर्तें भी तय हो गईं, परन्तु तब एकाएक महादजी ने पुनः रत्नसिंह का पक्ष ले लिया, जिससे चिढ़ कर तुकोजी जून २ को वहाँ से लौट गया। घेरा लस्टम-पस्टम चलता रहा

पृ० ५१८–९)। परन्तु सन् १९३४ ई० में जब सर यदुनाथ सरकार ने उक्त ग्रंथ लिखा, तब वीरविनोद में दिया हुआ (२, १५५३–४) बहेरजी ताकपीर और राघोराम का लिखा इकरारनामा उन्होंने नहीं देखा था, और न तब उज्जैन के इस युद्ध में मारे जाने वालों की छत्रियों के रूप में वहाँ के स्थानीय भौतिक प्रमाणों का ही इन्हें पूरा पता था, एवं इस घटना के सम्बन्ध में उनका यह भ्रमपूर्ण मत हो जाना अस्वा-भाविक नहीं।

इस घटना सम्बन्धी सारी प्राप्य सामग्री के पूर्ण अध्ययन के बाद निर्विवाद रूपेण यह स्पष्ट हो जाता है कि उज्जैन में यह युद्ध अवश्य हुआ था। विश्वसनीय आधारों पर उसका यथासम्भव प्रामाणिक विवरण यहाँ दिया गया है, परन्तु इस युद्ध सम्बन्धी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न अब भी हल नहीं हो सके हैं, जिनके लिए मेवाड़ और मालवा में अधिक ऐतिहासिक खोज नितान्त आवश्यक है।

राघोराम की कार्यवाही तथा मृत्यु के समर्थन के लिए देखो—पेशवा दफ़्तर, ३८, पत्र सं० १८५; २९, पत्र सं० २२९।

और साथ ही सन्धि की भी बात-चीत होती रही । अन्त में जुलाई २१, १७६९ ई० को महादजी ने भी अड़सी के साथ ही समझौता कर लिया । सन्धि हो गई, परन्तु मरहठों की माँगें पूरी न हो सकने पर जावद, जीरण और नीमच के परगने सिन्धिया ने अपने अधिकार में कर लिये और यों वे सर्वदा के लिए मेवाड़ राज्य के अधिकार से निकल गए । सितम्बर, १७६९ ई० के अन्त तक महादजी भी मेवाड़ से चल दिया ।

दक्षिणी राजस्थान में जब मरहठों के साथ यह कशमकश चल रही थी, तब राजस्थान की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर सिन्धु नदी के पूर्वी किनारे पर अब्बासी दाऊदपुत्र बहावल ख़ाँ अपना एक स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था । उसने देरावल और खडाल के परगने पहिले ही जैसलमेर राज्य से छीन लिये थे । अब बीकानेर राज्य में स्थित अनूपगढ़, मौजगढ़, और उनके आस-पास के प्रदेश को जीतने के लिए बारंबार वह उन पर चढ़ाइयाँ करने लगा । प्रारम्भ में उसे स्थायी सफलता नहीं मिली, किन्तु अपने इस सीमान्त प्रदेश की ओर बीकानेर राज्य के विशेष ध्यान नहीं देने से अन्त में मौजगढ़, मारोठ, आदि परगने सर्वदा के लिए बीकानेर राज्य के अधिकार से निकल गए ।

उधर जयपुर राज्य के पूर्वी भाग में जाटों की बढ़ती हुई शक्ति की समस्या भी अब माधोसिंह के सम्मुख आने लगी थी । राजा सूरज-मल जाट के शासन-काल (१७५६-१७६३ ई०) में जाटों का राज्य दूर दूर तक फैल गया था, तथापि अपने जीवन भर वह जयपुर के शासक के प्रति अपने अधीश्वर का-सा ही बर्ताव करता रहा । किन्तु उसका पुत्र जवाहरसिंह नाम-मात्र को भी माधोसिंह की यह आधीनता स्वीकार करने को तैयार नहीं था । समरू और रेने

मादे जैसे युरोपीय सेनानायकों द्वारा सुशिक्षित तथा सुसंचालित सेना उसके आधीन होने के कारण जवाहरसिंह की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और वह जयपुर राज्य के कुछ परगनों पर भी दाँत लगाए बैठा था, एवं माधोसिंह ने मरहठों के साथ पूरी-पूरी मित्रता बनाए रखने में ही अपना हित देखा। अपनी सफलताओं से मदान्ध होकर ज़वाहरसिंह जयपुर राज्य में होता हुआ नवम्बर, १७६७ ई० में ससैन्य पुष्कर पहुँचा और मरहठों को उत्तरी भारत से निकाल बाहर करने का आयोजन बनाने के लिए उसने बिजयसिंह को भी जोधपुर से आमन्त्रित किया। इस भेंट के बाद वापस अपने राज्य को लौटते समय जयपुर राज्य की पूर्वी सीमा के पास ही माँवड़े नामक स्थान पर जयपुर के घुड़-सवारों ने जवाहरसिंह की सेना पर हमला किया। जवाहरसिंह इस युद्ध में से किसी प्रकार बच निकला, किन्तु उसकी सेना को बहुत क्षति पहुँची तथा उसकी सत्ता को भी गहरा धक्का लगा (दिसम्बर १४, १७६७ ई०)।

माधोसिंह की यह अन्तिम विजय थी। मार्च ५, १७६८ ई० को माधोसिंह की मृत्यु हो गई, और उसके साथ ही कुछ समय के लिए जयपुर राज्य की सैनिक शक्ति का भी पतन हो गया। एक-एक कर माधोसिंह के दो अल्प-वयस्क पुत्र जयपुर की राज-गद्दी पर बैठे, और राज-माता चूण्डावतजी शासन की देख-रेख करने लगीं। पृथ्वीसिंह के राज्य-काल (१७६८-१७७८ ई०) में न तो मरहठों का ही कोई आक्रमण हुआ और न दिल्ली के शाही दरबार के किसी अधिकारी ने जयपुर राज्य से कोई छेड़-छाड़ ही की। परन्तु राज-माता के निर्बल शासन के कारण राज्य को अनेकों कठिनाइयों और अपमानों का सामना करना पड़ा। राजावतों और नाथावतों में आपसी अनबन बहुत बढ़ गई। शेखावत भी विद्रोही हो गए। उधर

जयपुर राज्य के आधीन माचेड़ी के जमींदार प्रतापसिंह नरूका ने इस शासकीय अव्यवस्था से पूरा-पूरा लाभ उठा कर शेखावटी, मेवात तथा जाटों के प्रदेश का बहुत-सा भाग अपने अधिकार में कर लिया। अपनी कुशल कूटनीति एवं युद्ध में वीरता के कारण मुग़ल दरबार से उसको राव राजा का खिताब और ऊँचा मनसब मिला, तथा वह एक स्वाधीन राजा मान लिया गया था (१७७४ ई०), जिससे स्वतन्त्र अलवर राज्य की नींव पड़ी। परन्तु जयपुर राज्य के शासन में प्रतापसिंह का हस्तक्षेप बना ही रहा। उसने राज्य के प्रधान मन्त्री खुशालीराम बोहरा को भी कैद करवा दिया। अन्त में जब प्रतापसिंह के प्रतिकूल विरोध बढ़ने लगा तब उसे विवश होकर १७७७ ई० के पिछले महीनों में जयपुर छोड़ कर चल देना पड़ा। इसके कुछ ही माह बाद अप्रेल, १७७८ ई० में नवयुवा राजा पृथ्वीसिंह की मृत्यु हो गई और उसका तेरह-वर्षीय भाई सवाई प्रतापसिंह जयपुर की राजगद्दी पर बैठा।

भटवाड़ा के युद्ध में ख्याति प्राप्त करके भी झाला ज़ालिमसिंह तब अधिक वर्ष तक कोटा में नहीं रह सका। महाराव शत्रुशाल के उत्तराधिकारी उसके छोटे भाई गुमानसिंह के साथ ज़ालिमसिंह की नहीं बनी, एवं उसे कोटा राज्य छोड़ कर चल देना पड़ा। उदयपुर पहुँच कर ज़ालिमसिंह ने महाराणा अड़सी की भरसक सहायता की। उधर कोटा में गुमानसिंह की कठिनाइयों का पारावार नहीं रहा। मरहठे सेनानायकों के साथ उपयुक्त समझौता कर उन्हें रोक सकने वाला वहाँ दूसरा कोई न था, एवं कोटा राज्य के परगनों को जीत-जीत कर उन्हें अपने अधिकार में करने के लिए वे प्रयत्नशील हुए। अतएव उज्जैन के युद्ध के बाद जब उदयपुर न लौट कर ज़ालिमसिंह कोटा चला गया, तब गुमानसिंह ने उसका सहर्ष स्वागत

किया और उसकी सहायता से उसने मरहठों के सारे झगड़े निपटाए (दिसम्बर, १७६९ ई०) । एक वर्ष बाद मृत्यु-शैय्या पर पड़े गुमानसिंह ने अपने बालक पुत्र उम्मेदसिंह के भावी हिताहित का सारा ही उत्तरदायित्व ज़ालिमसिंह को सौंप दिया (जनवरी, १७७१ ई०) । राज-गद्दी पर बैठ कर उम्मेदसिंह ने ज़ालिमसिंह को कोटा राज्य का फ़ौजदार (प्रधान मंत्री) बनाया, और मई, १७७१ ई० में तो राज्य-शासन के सारे ही अधिकार उसे दे दिए गए। इस राज्य के इतिहास में यों एक नए महत्त्वपूर्ण अध्याय का प्रारम्भ हुआ । वीर, साहसी और चतुर होने के साथ ही जालिमसिंह कूट-नीतिज्ञ तथा महत्त्वाकांक्षी भी था । विरोधियों को अपनी राह से हटाने के हेतु वह कुटिल षड्यन्त्र करने से भी हिचकता नहीं था । अतएव ज़ालिमसिंह के सर्वे-सर्वा होने के बाद जहाँ एक ओर कोटा राज्य में शान्ति और समृद्धि के चिह्न देख पड़ने लगे, वहाँ कोटा राज्य के प्रमुख हाड़ा सरदारों के साथ उसकी कट्टर शत्रुता का भी प्रारम्भ हो गया । परन्तु महाराव उम्मेदसिंह के प्रति ज़ालिमसिंह की स्वामिभक्ति अटल रही, एवं ज़ालिमसिंह में उम्मेदसिंह का अगाध विश्वास था, जिससे उसने भी जीवन भर पूर्णरूपेण ज़ालिमसिंह का समर्थन किया ।

उधर उदयपुर की सन्धि के बाद भी मेवाड़ राज्य की कठिनाइयों का अन्त नहीं हो पाया । उक्त सन्धि द्वारा रत्नसिंह को पचहत्तर हज़ार रुपये की आमदनी का प्रदेश देने तथा रत्नसिंह के मन्दसौर नगर में रहने का निश्चय किया गया था, परन्तु न तो रत्नसिंह मन्दसौर गया और न मेवाड़ के उसके साथी सरदारों ने ही उसका पक्ष छोड़ा । दो बार नागों की बड़ी-बड़ी सेनाओं को और एक बार युरोपीय सेनानायक समरू को ससैन्य वे मेवाड़ पर चढ़ा

लाए। परन्तु नागों की दोनों ही बार पूर्ण पराजय हुई, और समरू से समझौता हो गया। इस प्रकार रत्नसिंह के साथियों के ये सारे प्रयत्न विफल हुए, तथा चित्तोड़ का किला भी उनके अधिकार से निकल गया। कुंभलगढ़ के किले से भी रत्नसिंह को निकालने एवं उसीके पड़ोस के मेवाड़ के परगनों को उसके हाथ में नहीं पड़ने देने के प्रयत्नों में ही गोड़वाड़ का परगना जोधपुर राज्य के अधिकार में चला गया (दिसम्बर, १७७० ई०)।

मेवाड़ के दुर्भाग्य का तो यह प्रारम्भ-मात्र था। मार्च, १७७३ ई० में बूंदी के राव राजा अजीतसिंह के हाथों धोखे से अड़सी की मृत्यु हुई, और तब मेवाड़ में भी अड़सी के दो अल्प-वयस्क बालक एक-एक-कर राजगद्दी पर बैठे। ऐसे संकटपूर्ण समय अन्त:पुर से संचालित शासन मेवाड़ के लिए घातक हुआ। प्रधान मन्त्री अमरचन्द बड़वे की मृत्यु के बाद तो इस अव्यवस्था को रोकने वाला कोई न रहा। मरहठों ने भी उससे पूरा लाभ उठाया। राज्याधिकारियों की प्रार्थना पर बेगूँ के रावत मेघसिंह को दबाने के लिए सेना भेज कर महादजी सिंधिया ने सिंगोली तथा आस-पास के अन्य परगनों के कई गाँवों पर अपना अधिकार कर लिया (मार्च, १७७४ ई०)। इस छीना-झपटी में अहिल्याबाई होलकर भी किसी प्रकार पीछे न रही; मेवाड़ पर दबाव डाल कर उसने तो नींबाहेड़ा का परगना पहिले ही ले लिया था। मेवाड़ की आर्थिक परिस्थिति भी निरन्तर बिगड़ती जा रही थी। राजस्थान तक में मेवाड़ का प्रभाव सर्वथा नगण्य हो चुका था। रत्नसिंह का पक्ष भी दिनोंदिन निर्बल होता जा रहा था, एवं मार्च, १७८२ ई० में जब उसका प्रमुख समर्थक देवगढ़ का रावत राघवदास भी महाराणा के पक्ष में हो गया, तब तो एक प्रकार से रत्नसिंह के विरोध का अन्त ही हो गया। परन्तु इससे मेवाड़

राज्य को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। कई वर्षों से चल रहा चूण्डावतों और शक्तावतों का पारस्परिक कलह अब बहुत ही उत्कट हो उठा। अपना पक्ष शक्तिशाली बना कर अवसर मिलते ही विरोधी पक्ष को दबाने के लिए दोनों ही भरसक प्रयत्न करने लगे। महाराणा भीमसिंह ने सन् १७८५ ई० के लगभग सोमचन्द गांधी को मेवाड़ का प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। उसने विशेष प्रयत्न कर शक्तावतों के साथ महाराणा का मेल करवा दिया, जिससे चूण्डावंत महाराणा से कुछ खिंच गए।

पेशवा नारायणराव की हत्या के बाद सारे प्रयत्न करने पर भी जब उसका काका रघुनाथराव स्वयं पेशवा नहीं बन सका, तब उसने मरहठा राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया और अपने पक्ष में सहायता प्राप्त करने के लिए वह अंग्रेज़ों के भी साथ मैत्री करने का षड्यन्त्र रचने लगा, जिससे आगे चल कर प्रथम मरहठा-अंग्रेज़ युद्ध छिड़ गया। इस विकट संकट-काल में मरहठा राज्य की सहायतार्थ महादजी सिन्धिया और अन्य प्रमुख मरहठा सेनानायकों को जुलाई, १७७६ ई० से पहिले ही दक्षिण लौट जाना पड़ा, और कई वर्षों तक वे पुनः उत्तरी भारत को नहीं आ सके। अतएव इन वर्षों में मरहठों के हिताहित की देख-भाल कर सकने वाला कोई भी प्रमुख व्यक्ति राजस्थान, दिल्ली, आदि उत्तरी भारत के प्रदेशों में नहीं रहा। इस परिस्थिति से लाभ उठा कर कुछ ही वर्षों पहिले पुनः दिल्ली लौटे हुए मुग़ल सम्राट् शाह आलम का प्रमुख सेनानायक मिर्ज़ा नजफ़ ख़ाँ दिल्ली के आस-पास के प्रदेशों पर मुग़ल सत्ता पुनः स्थापित करने का सफल प्रयत्न करने लगा। उसने माचेड़ी के सद्यः स्वतन्त्र हुए राव राजा प्रतापसिंह नरूका को दबाया (जुलाई, १७७८ ई०), और स्वयं शाह आलम के जयपुर की ओर

बढ़ने पर वहाँ के बालक महाराजा सवाई प्रतापसिंह को बाध्य किया कि वह शाही पड़ाव में उपस्थित होकर शाह आलम के हाथों अपने राज्यारोहण का टीका करवावे (फरवरी, १७७९ ई०)। परन्तु उस अवसर पर मुग़ल सम्राट् को दिये जाने वाले जयपुर राज्य के टाँके की यह निश्चित रकम बाद में भी किसी प्रकार वसूल नहीं की जा सकी। एवं तदर्थ सन् १७८० ई० में दो बड़ी शाही सेनाओं ने जयपुर राज्य पर चढ़ाई की और दो-तीन माह तक जयपुर नगर को भी घेरे रखा, परन्तु ऐसे चढ़ाई के लिए आवश्यक आर्थिक सहायता के अभाव के कारण अन्त में यह आक्रमण भी विफल हुआ (फरवरी, १७८१ ई०)। परन्तु जयपुर राज्य-शासन की परिस्थिति दिनोंदिन अधिकाधिक शोचनीय होती जा रही थी। नवयुवा सवाई प्रतापसिंह सर्वथा बुद्धिहीन, बहुत ही अविवेकी और उद्धत स्वभाव का था। ऐश्वर्य-विलास में लीन रहने के कारण राज्य-शासन का कार्य उसने रोड़ाराम दरजी और दौलतराम हलदिया बनिये के ही भरोसे छोड़ रखा था, जिससे असन्तुष्ट होकर सारे ही कछवाहा सरदार राजधानी छोड़-छोड़ कर अपने घरों को लौट गए। परन्तु जयपुर राज्य के सौभाग्य से इसके कुछ ही महीनों बाद मिर्ज़ा नजफ़ बीमार होकर मर गया (अप्रेल, १७८२ ई०)। तदनन्तर दिल्ली में जो पारस्परिक झगड़े चले उनके फलस्वरूप कुछ वर्षों तक किसी ने भी जयपुर राज्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया।

उधर जोधपुर का महाराजा बिजयसिंह भी इन उपद्रव-प्रधान भयंकर युगों के लिए बहुत ही नरम तथा सर्वथा अयोग्य था। सन् १७६५ ई० में उसने नाथद्वारा जाकर वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया तथा अपना बहुत-कुछ समय पूजा-पाठ और उपासना में ही बिताने लगा था। इसी सिलसिले में उसने गुलाबराय नामक स्त्री को अपनी

पासबान (रखेली) बना लिया । अपने प्रति महाराजा के इस मोह और विश्वास से अनुचित लाभ उठा कर गुलाबराय राज्य में अपना महत्त्व तथा प्रभाव बढ़ाने लगी; राज्य-शासन में भी धीरे धीरे उसका अधिकाधिक हस्तक्षेप होने लगा। कुछ सालों तक शान्त रहने के बाद जब विद्रोही सरदार पुनः सिर उठाने लगे, तब कई का तो दमन किया गया, और दूसरों को अपने साथ बनाए रखने के लिये बिजयसिंह ने उन्हें कहीं न कहीं उलझाए रखना ही उचित समझा। इसी नीति के फलस्वरूप जैसलमेर राज्य के दक्षिणी परगने तथा मारवाड़ की इस मरु भूमि का सारा दक्षिण-पश्चिमी भाग जोधपुर राज्य के आधीन हो गया, तथा उस राज्य की पश्चिमी सीमा बढ़ते-बढ़ते सिन्ध प्रान्त में स्थित सुदूर उमरकोट नगर से भी आगे तक पहुँच गई (सन् १७८२ ई०)।

मई १७, १७८२ ई० को महादजी सिन्धिया की मध्यस्थता से ग्वालियर के पास साल्बाई में मरहठों और अंग्रेज़ों के बीच संधि हो गई, जिससे प्रथम अंग्रेज़-मरहठा युद्ध का अन्त हुआ। अपनी सुसज्जित सेनाओं तथा उसके आधीन विस्तृत प्रदेशों के कारण महादजी सिन्धिया की गणना पहिले भी भारत के शक्तिशाली सेनानायकों में की जाती थी। इस युद्ध में प्राप्त की गई सफलताओं के फलस्वरूप अब उसका राजनैतिक महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया। अंग्रेज़ों ने भी उसे एक अर्ध-स्वतन्त्र शासक के रूप में स्वीकार कर उसके दरबार में अपना प्रतिनिधि रखना आवश्यक समझा था। अतएव मिर्ज़ा नजफ़ की मृत्यु के बाद मुग़ल सम्राट् के आधीन दिल्ली-आगरा के आस-पास के रहे-सहे प्रदेश का भी शासन कर सकने के उपयुक्त दूसरा कोई अधिकारी नहीं देख पड़ा, तब शाह आलम ने आग्रहपूर्वक यह कार्य-भार महादजी सिंधिया को सौंपा और उसे

मुग़ल साम्राज्य का 'वकील-इ-मुतलक़' (सर्वोपरि अधिकारी) भी नियुक्त किया (दिसम्बर ४, १७८४ ई०)। सन् १७८२ ई० के बाद राजस्थान तथा उत्तरी भारत के अन्य प्रदेशों में मरहठों की सत्ता की जो पुनर्स्थापना हुई उसमें पेशवा के पूना-निवासी अधिकारियों का कुछ भी हाथ नहीं रह गया था। एक शक्तिशाली सेनानायक तथा एक अर्द्ध-स्वतन्त्र शासक के रूप में निजी तौर से ही महादजी ने यह सारा कार्य प्रारम्भ किया था। शाह आलम द्वारा की गई उसकी इस नियुक्ति से अपने उद्देश्य की पूर्ति में महादजी ने पूरा लाभ उठाया।

भारत में अंग्रेज़ों की बढ़ती हुई सत्ता तथा उनके राज्य की फैलती हुई सीमाओं के साथ ही भारतीय युद्ध-विद्या तथा सेना-संचालन की कला में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे थे। युरोपीय शस्त्रों के उपयोग का महत्त्वपूर्ण प्रभाव अधिकाधिक सुस्पष्ट होने लगा था। अपनी सेनाओं को युरोपीय ढंग से सुशिक्षित तथा सुसंचालित बनाने के लिए युरोपीय सेनानायकों को नियुक्त कर उत्तरी भारत में भी जवाहर-सिंह जाट और मिर्ज़ा नजफ़ ख़ाँ ने प्रर्याप्त सफलता प्राप्त की थी। पिछले युद्ध में अंग्रेज़ों का सामना करते हुए महादजी ने भी अपने विप-क्षियों की सुशिक्षित, सुसज्जित एवं आज्ञानुसार अनुशासनयुक्त संचा-लित सेनाओं की विशेष उपयोगिता, उनके सामरिक महत्त्व तथा युद्ध में उनके निर्णायक प्रभाव का पूर्ण अनुभव किया था। अतएव सन् १७८४ ई० में उसने फ़रासीसी योद्धा द बाँय को अपना सेनानायक नियुक्त किया कि पश्चिमी कवायद तथा युरोपीय समर-शैली की शिक्षा दे कर वह पैदल बन्दूकचियों की एक बड़ी सेना उसके लिए तैयार करे। द बाँय ने अपना यह काम ऐसी तत्परता तथा पूर्णता के साथ किया कि कुछ ही वर्षों में उसने महादजी सिन्धिया की सेना को अँग्रेज़ों की सेना के अतिरिक्त भारत में सर्वत्र अजेय बना दिया।

अपनी इसी सेना के बल पर ही सन् १७९० ई० के बाद महादजी ने दिल्ली, आगरा, ग्वालियर तथा उत्तरी भारत के अन्य पड़ोसी प्रदेशों पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित किया।

अंग्रेज़-मरहठा युद्ध के इन दो अप्रत्यक्ष किन्तु महत्त्वपूर्ण क्रान्तिकारी परिणामों का आगे चल कर परोक्षरूपेण राजस्थान के इतिहास पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा और राजस्थान की राजनैतिक विचारधारा की दिशा ही पलट गई। अब तक चल रहे राजपूत-मरहठा संघर्ष ने नया स्वरूप धारण किया और वह अब 'राजपूत-मरहठा सरदार संघर्ष' में परिवर्तित हो गया। इन बदली हुई परिस्थितियों के फलस्वरूप महादजी का विरोध करने वाले राजपूत राज्यों की राजनैतिक तथा सामरिक स्थिति दिनोंदिन निर्बल होती गई। परन्तु कुछ समय तक ये विशिष्ट क्रान्तिकारी परिणाम सुस्पष्ट नहीं हो पाये। अदूरदर्शितापूर्ण कूप-मण्डूक वातावरण से ही घिरे रहने वाले राजस्थानी राजा तो सुस्पष्ट हो जाने पर भी उनका ठीक-ठीक महत्त्व तथा प्रभाव बहुत समय तक पूरी तरह समझ भी नहीं पाए, एवं समुचित अवसर मिलने पर भी उन्होंने उससे कभी भी लाभ नहीं उठाया।

'वकील-इ-मुतलक़' नियुक्त होने के बाद महादजी सिन्धिया ने जयपुर राज्य से दुहरी माँग की। मरहठों की चौथ के साथ ही मुग़ल सम्राट् की टाँके की वसूली के लिए भी प्रयत्न होने लगे। सन् १७८६ ई० के प्रारम्भ में शाह आलम को साथ लेकर महादजी स्वंय ससैन्य जयपुर राज्य में लालसोंट तक जा पहुँचा और तब लेन-देन का कुछ समझौता हुआ। परन्तु उस समय थोड़ा-सा रुपया ही नक़द मिला, बाक़ी के लिए वादे किये गए। दिनोंदिन बढ़ती हुई राजनैतिक उलझनों को सुलझाने में अत्यावश्यक द्रव्य के अभाव के कारण सामने आने वाली अनिवार्य कठिनाइयाँ महादजी को बहुत खटकती थीं,

एवं वह वादे के अनुसार जयपुर राज्य से रुपया वसूल करना चाहता था, और उधर वादे को यत्किंचित् भी पूरा करने की सवाई प्रतापसिंह की नीयत नहीं थी। अब वह महादजी के विरोध की तैयारी करने लगा। अंग्रेज़ों ने जयपुर राज्य को सहायता देने से इन्कार कर दिया, परन्तु जोधपुर का बिजयसिंह साथ देने को तैयार हो गया। तब तो महादजी ससैन्य जयपुर नगर के पास सांगानेर तक जा पहुँचा। सवाई प्रतापसिंह एक ओर समझौते की बात-चीत करता रहा; साथ ही अपने पक्ष को प्रबल बनाने के लिए भरसक प्रयत्न भी चलते रहे। महादजी के विरोधियों की शक्ति दिनोंदिन बढ़ती गई। जोधपुर की सेना भी जयपुर आ पहुँची। मई माह के प्रारम्भ में महादजी पीछे हटने लगा। तब तो महादजी के कई हिन्दुस्तानी और मुग़ल सेनानायक अपने सैनिकों के साथ उसे छोड़-छोड़ कर राजपूतों की सेना में सम्मिलित हो गए। अन्त में मई २५, १७८७ ई० को दिल्ली का सुप्रसिद्ध सेना-नायक मुहम्मद बेग हमदानी भी सवाई प्रतापसिंह के साथ जा मिला। अपनी संकटापूर्ण परिस्थिति को पूरी तरह समझ कर महादजी ने साहसपूर्वक उसका सामना करने का निश्चय किया। अब वह अपनी सहायतार्थ आने वाली मरहठा सेना की प्रतीक्षा करने लगा। उधर सवाई प्रतापसिंह भी ससैन्य जयपुर से निकल कर शत्रु के विरुद्ध बढ़ा, परन्तु ऐसे समय दृढ़तापूर्वक आक्रमण कर शत्रु पर विजय प्राप्त करने का उसे भी साहस नहीं हुआ। जून २३ को खाण्डेराव के ससैन्य आ मिलने पर महादजी आक्रमण करने के लिए तत्पर हुआ। सेना-संचालन तथा सामरिक दृष्टि से विशेष लाभ-प्राप्ति के लिए एक माह तक दोनों ही पक्ष दाव-पेंच करते रहे। अन्त में जुलाई २८ को महादजी ससैन्य आगे बढ़ा और तुंगा के मैदान में दीर्घापेक्षित रक्तपिपासु युद्ध हुआ। परन्तु हजारों राठौड़ सवारों के तिलमिला देने वाले

साहसपूर्ण हमले तथा हमदानी के युद्ध में मारे जाने पर भी यह युद्ध किसी भी प्रकार निर्णायक नहीं हो सका। विपक्षी की एक भी तोप जीते बिना दोनों ही दलों को वापस अपने-अपने पड़ावों पर लौटना पड़ा। दूसरे दिन मरहठा सेना जब पुनः युद्ध-क्षेत्र में पहुँची तब उसका उसका सामना करने को राजपूत सेना अपने पड़ाव से नहीं निकली, और उधर मरहठों को भी यह साहस नहीं हुआ कि उनके पड़ाव पर आक्रमण कर राजपूतों को पूरी तरह मार भगावे।

किन्तु अपराजित रह कर भी महादजी के लिए वहाँ अधिक ठहरना असम्भव हो गया। राजपूतों को अब दबाना एक असम्भव बात हो गई थी। अपने सैनिकों को देने के लिए महादजी के पास न तो रुपया था और न अन्न ही। हिन्दुस्तानी सिपाहियों के एक और बड़े दल के विद्रोही होकर राजपूतों के साथ जा मिलने पर विवश हो अगस्त १, १७८७ ई० को महादजी बाकी रही सेना के साथ दीग के किले को लौट पड़ा। राजपूतों ने न तो उसकी राह रोकी और न उसका पीछा ही किया। जोधपुर की सेना ने अब आक्रमण कर अगस्त २७ के दिन अजमेर शहर पर अधिकार कर लिया। दिसम्बर २४ को अजमेर के किले पर भी जोधपुर की सेना का आधिपत्य हो गया। ऐसे कठिन समय में भी माचेड़ी के राव राजा प्रतापसिंह ने महादजी के साथ अपनी मैत्री निबाही और कोई सवा दो महीने तक महादजी अलवर में ही टिका रहा (अगस्त-अक्तूबर, १७८७ ई०)। तब तक महादजी की शक्ति पर से शाह आलम का भी विश्वास उठ चुका था। रुहेले और मुग़ल सेनानायक सर्वत्र सफलतापूर्वक सिर उठा रहे थे। अतएव दिसम्बर, १७८७ ई० के पिछले दिनों में महादजी ने चम्बल पार कर उसके दक्षिणी तीर को लौट जाना ही उचित समझा।

तुंगा के इस युद्ध के बाद विवश होकर महादजी के यों पीछे हटने के समाचार से सारे मरहठा-विरोधी राजपूत राज्यों में आशा की एक नई लहर-सी दौड़ गई। दक्षिणी राजस्थान में भी सर्वत्र मरहठों के विरोधी उठ खड़े हुए। मेवाड़ में तो इसी उद्देश्य से प्रधान मन्त्री सोमचन्द ने किसी प्रकार चूण्डावतों और शक्तावतों में मेल भी करवाया था, और अब इस सम्मिलित सेना ने सिंगोली, नींबाहेड़ा, जीरण, जावद, आदि मरहठों द्वारा अधिकृत परगनों पर पुनः अधिकार कर लिया (सितम्बर–नवम्बर, १७८७ ई०)। इस अवसर पर ज़ालिमसिंह ने दुरंगी नीति अपनाई। मरहठों पर आक्रमण करने में कोटा राज्य की सेना भी मेवाड़ की सेना का पूर्ण साथ दे रही थी, और उधर वह स्वयं महादजी तथा उसके अधिकारियों के साथ घनिष्ट मैत्री बनाए हुए था। परन्तु इन सद्यःजीते हुए परगनों पर मेवाड़ का अधिकार स्थायी नहीं हो सका। नीमच से आठ मील दक्षिण-पूर्व में हड़किया खाल के युद्ध में मेवाड़ की उपर्युक्त सेना पर पूर्ण विजय प्राप्त कर (जनवरी २६, १७८८ ई०), मरहठों की सेना ने ये प्रदेश वापस अपने अधिकार में ले लिये। इस एक पराजय से ही मेवाड़ में मरहठा-विरोध का अन्त हो गया और साथ ही चूण्डावतों और शक्तावतों की अल्प-कालीन मैत्री भी समाप्त हो गई। अवसर पाकर चूण्डावतों ने शक्तावतों के मित्र तथा महाराणा के राजनिष्ठ प्रधान मन्त्री सोमचन्द की अक्तूबर २४, १७८९ ई० को हत्या की, सोमचन्द के रक्त से रँजित हाथ महाराणा को दिखा कर उसकी उपहासपूर्ण उपेक्षा दिखाई, और फिर भी शक्तिहीन बेबस महाराणा भीमसिंह हत्यारों का बाल भी बाँका नहीं कर सका।

महादजी के तुंगा के युद्ध-क्षेत्र से लौटने के बाद कोई तीन वर्ष

तक मरहठों ने उत्तरी राजस्थान पर पुनः आक्रमण नहीं किया। महादजी के भावी आक्रमणों को रोकने के लिए भी सवाई प्रतापसिंह और बिजयसिंह प्रयत्नशील हुए। दोनों ही ने पेशवा के नाम पूना पत्र लिख कर महादजी की शिकायत की और भविष्य में आक्रमण न करने के लिए उसे आदेश दिये जाने के लिए आग्रह भी किया। पुनः मुग़ल सम्राट् के प्रभाव तथा नेतृत्व में राजस्थानी नरेशों का अब भी बहुत-कुछ विश्वास बना हुआ था, एवं मरहठा-विरोधियों को सुसंगठित कर उनका नेतृत्व करने के लिए विशेष रूप से आमन्त्रित शाह आलम से रेवाड़ी के पास भेंट करने पर ही उनकी यह भ्रमपूर्ण भावना दूर हो पाई (फरवरी-मार्च, १७८८ ई०)। अंग्रेज़ों की बढ़ती हुई सत्ता से आकर्षित होकर बिजयसिंह ने उनके साथ सन्धि कर उनसे भी सैनिक सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया (१७८९ ई०), परन्तु लार्ड कार्नवालिस ने उसकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया और बिजयसिंह का यह आयोजन भी विफल हुआ। तत्कालीन परिस्थिति के उपयुक्त सुयोग्य सर्व-मान्य साहसी नेता के अभाव एवं राजपूत सामन्तों की अनैकता, स्वार्थपरता एवं विद्रोह-पूर्ण प्रवृति के कारण ही इस समय समुचित अवसर मिलने पर भी मरहठों के भावी आक्रमणों से इन राज्यों को बचाने के लिए अत्यावश्यक सैनिक संगठन और सामरिक प्रबन्ध भी नहीं किये जा सके।

उधर राजपूत राजाओं की आशाओं के विपरीत महादजी का दुर्भाग्य अल्प-कालीन ही प्रमाणित हुआ। जून, १७८८ ई० के बाद उसका भाग्य-चक्र पुनः पलट गया और चार माह बाद दिल्ली पर भी महादजी का अधिकार हो गया। परन्तु उसके भी साल भर बाद तक महादजी को अवकाश नहीं मिला कि वह उत्तरी राजस्थान

के राज्यों की ओर कुछ भी ध्यान दे सके। सवाई प्रतापसिंह को अवश्य महादजी के आक्रमण की पूरी-पूरी आशंका थी, एवं सन् १७८९ ई० के प्रारम्भ से ही वह हमदानी के भतीजे इस्माइल बेग को अपनी ओर मिलाने का भरपूर प्रयत्न करने लगा। मार्च, १७९० ई० में जब महादजी के साथ इस्माइल बेग की बिगड़ गई तब ही कहीं जाकर इस्माइल बेग जोधपुर और जयपुर राज्यों के साथ मिल कर महादजी के विरोध में खड़ा हुआ। इस्माइल बेग के साथ ही इन दोनों राजपूत राज्यों पर भी आक्रमण करने के लिए मई, १७९० ई० में महादजी की एक बड़ी सेना जीवा दादा बख़्शी और द बॉँय के नेतृत्व में मथुरा से रेवाड़ी की ओर बढ़ रही थीं, एवं नारनौल में ठहरे हुए इस्माइल बेग एवं उसके साथ ही राजपूत सेना ने पीछे हट कर तँवरवाटी में पाटण के पास इस मरहठा सेना का सामना किया। यहाँ एक सप्ताह तक दोनों विरोधी सेनाएँ आमने-सामने पड़ी रहीं। इन्हीं दिनों में राजपूत पक्ष के मुग़ल सेनानायक इस्माइल बेग और अब्दुल मतलब ख़ाँ में आपसी अनबन हो गई, जो आगे चल कर राजपूतों के लिए हानि-कारक हुई। मई २२ को एक छोटी-सी लड़ाई हुई परन्तु उसका कोई नतीजा नहीं निकला। इसके बाद चार और सप्ताह निष्क्रियता में ही बीते। अन्त में जून २०, १७९० को पाटण का इतिहास-प्रसिद्ध निर्णायक युद्ध हुआ, जिसमें मरहठा सेना की पूर्ण विजय हुई। इस्माइल बेग के सारे प्रयत्न विफल हुए, और उसकी सैनिक शक्ति का अन्त हो गया। हजारों राठौड़ घुड़-सवारों का संहार हुआ। रात पड़ते-पड़ते युद्ध का अन्त हो गया और राजपूत पक्ष की सेना युद्ध-क्षेत्र से भाग खड़ी हुई। मरहठों ने बहुत दूर तक उनका पीछा किया। कई सैनिक-दलों ने पाटण के किले का प्रश्रय लिया, परन्तु दूसरे ही दिन उन्हें भी आत्म-समर्पण करना पड़ा। इस विजय का अत्यधिक श्रेय

द बाँय के युद्ध-कौशल तथा युरोपीय ढंग से शिक्षित एवं युरोपीय सेनानायकों द्वारा सुसंचालित उसकी सेना को ही था।

परन्तु पाटण की इस विजय से ही राजपूतों के विरोध का अन्त नहीं हुआ। पाटण के युद्ध-क्षेत्र से निकल कर इस्माइल बेग अपने सेनानायकों के साथ सीधा जयपुर पहुँचा, और सैनिकों को एकत्रित कर जयपुर पर मरहठों के आक्रमण का सामना करने को तत्पर हुआ। परन्तु उधर जोधपुर का महाराजा बिजयसिंह भी अपनी सेना बढ़ा रहा था, अतएव जयपुर को एक ओर छोड़ कर मरहठों की सेना राह में साँभर, परबतसर, आदि नगरों को जीतती हुई पाटण से सीधी अजमेर जा पहुँची, और अगस्त २१, १७९० ई० को उसने अजमेर के किले का घेरा डाला। इस आगामी कशमकश में सवाई प्रतापसिंह को पूर्णतया तटस्थ बने रहने के लिए विवश करने के हेतु महादजी ने एक दूसरी मरहठा सेना जयपुर राज्य की पूर्वी सीमा पर भुसावर नामक स्थान पर तैयार रखी (अगस्त १५, १७९० ई०)। महादजी स्वयं भी मथुरा से राजस्थान को चल पड़ा (अगस्त २८, १७९० ई०)।

अजमेर के किले का घेरा चल रहा था, परन्तु वहाँ मरहठों को विशेष सफलता नहीं मिल रही थी। उधर मरहठों का सामना करने के लिए जोधपुर राज्य की सेना मेड़ता और नागोर में अलग अलग बहुत ही धीरे-धीरे एकत्रित हो रही थी। पुनः उसकी सेना का पूरा-पूरा व्यय भार उठाने का वादा कर बिजयसिंह ने इस्माइल बेग को भी अपनी सेना में सम्मिलित होने के लिए जयपुर से ससैन्य बुलावा भेजा था। इस्माइल बेग के वहाँ आ पहुँचने तथा जोधपुर के इन दोनों सैनिक दलों के सम्मिलित होने से पहिले ही तत्काल तेजी के साथ मेड़ता पर चढ़ाई कर वहाँ उपस्थित राजपूत सेना को पूरी तरह हरा

कर तितर-बितर कर देना ही द बाँय को सर्वथा उचित प्रतीत हुआ। अतएव वहाँ का घेरा चलाने के लिए आवश्यक सेना को वहीं छोड़ कर बाकी सारी सेना के साथ सितम्बर ४ को द बाँय अजमेर से चल पड़ा और पाँच दिन के बाद मेड़ता में राजपूत सेना के सामने जा डटा। परन्तु इस्माइल बेग अपनी सेना के साथ अभी नागोर तक भी नहीं पहुँचा था, अतएव मेड़ता में एकत्रित राजपूत सेना को विशेष रूप से आदेश दिया गया कि इस्माइल बेग के वहाँ पहुँचने तक वह द बाँय के साथ युद्ध नहीं छेड़ें। परन्तु द बाँय तब तक प्रतीक्षा क्यों करने लगा? दूसरे ही दिन (सितम्बर १०) सूर्योदय के समय उसने राजपूत सेना के बाएँ भाग पर आक्रमण कर दिया। तब तो विवश होकर राजपूत सेना को भी युद्ध करना पड़ा।

केवल नंगी तलवारों से सज्जित, वीर किन्तु युद्ध-विद्या से अनभिज्ञ घुड़-सवारों का युरोपीय ढंग से सुशिक्षित, बन्दूक, संगीनों और तोपों से सुसज्जित एवं युद्ध-कुशल सेनानायकों द्वारा सुसंचालित सेना से सामना था। वीर राठौड़ घुड़-सवारों ने बारम्बार मरहठा सेना पर आक्रमण किये। मरहठे घुड़-सवारों एवं दूसरी मरहठा सेना के भी पाँव उन्होंने उखाड़ दिये, परन्तु द बाँय के युद्ध-कौशल एवं उसकी सुशिक्षित सेना के अक्षुण्ण अनुशासन ने उस दिन बाजी रख ली। कई घण्टों के युद्ध के बाद जब राजपूतों की पराजय निश्चित-सी देख पड़ने लगी और राजपूतों के पक्ष के सैनिक युद्ध-क्षेत्र छोड़ कर भागने लगे, तब केसरिया कपड़े वाले तीन हज़ार वीर घुड़-सवार भरी दोपहरी में मृत्यु के साथ अभिसार के लिए सोत्साह चल पड़े। विजय की आशा छोड़ कर मरने-मारने तथा मर कर अमर कीर्ति प्राप्त करने को उत्सुक इन वीरों ने अन्तिम बार द बाँय के सैनिक-

दल पर पूर्ण वेग से साथ धावा किया। दगती हुई तोपों, चलती हुई बन्दूकों तथा सामने किये हुए संगीनों से भी वे किंचित्-मात्र न हिचके और मरने के बाद ही वे किसी प्रकार रुके। उनके इस अदम्य साहस तथा अद्वितीय वीरता को देख कर शत्रुओं तक ने दाँतों तले अंगुलियाँ दीं। किन्तु उनका यह आत्म-त्याग व्यर्थ ही हुआ; एक-एक कर वे सब मारे गए और अन्त में महादजी के पक्ष की ही जीत हुई।

लड़ाई के दूसरे दिन इस्माइल बेग अपनी तथा दौलतराम हलदिया के नेतृत्व में जयपुर राज्य की सेना को लेकर नागोर पहुँचा, और वहीं से सीधा बिजयसिंह के पास जोधपुर चला गया। द बाँय, आदि महादजी के अन्य सेनापतियों का इरादा था कि तब ही मेड़ते से सीधे जोधपुर पर आक्रमण कर बिजयसिंह तथा इस्माइल बेग दोनों पर ही अन्तिम पूर्ण विजय प्राप्त की जावे, किन्तु इसी समय महादजी के साथ तुकोजी होलकर और अली बहादुर का पूर्ण विरोध होने के कारण यह कार्य पूरा नहीं हो सका। उधर इन दो भयंकर पराजयों के बाद भी महादजी का विरोध करते रहना बिजयसिंह के लिए असम्भव था। उसकी आर्थिक कठिनाइयाँ निरन्तर बढ़ रही थीं। सवाई प्रतापसिंह के साथ भी उसकी अनबन हो गई थी। अतएव बिजयसिंह को महादजी के साथ सन्धि करनी ही पड़ी, जिसमें महादजी की एक शर्त यह भी थी कि इस्माइल बेग को मारवाड़ में प्रश्रय नहीं दिया जावे। अतएव विवश होकर बिजयसिंह ने मार्च, १७९१ ई० में अपनी सेना, तोपखाने, आदि के साथ इस्माइल बेग को सिरोही, पालनपुर, आदि राज्यों की ओर भेजा कि उन्हें तथा गुजरात के अन्य पड़ोसी प्रदेशों को जीत कर जोधपुर राज्य के लिए उनसे टाँका वसूल करे। गुजरात-राजस्थान की इस सीमा पर कई माह तक यों उपद्रव करने के बाद अगस्त, १७९१ ई० के प्रारम्भ में इस्माइल बेग को बिजयसिंह की ओर से

सहायता मिलना बन्द हो गई, तब वह पुनः शेखावाटी पहुँचा और वहाँ सवाई प्रतापसिंह से भी सहायता न मिलने पर वापस मेवात को लौट गया।

किन्तु मेड़ता की इस विजय के कुछ ही बाद उत्तरी भारत में जीते हुए प्रदेशों तथा राजस्थान से प्राप्त द्रव्य के बँटवारे के प्रश्न को लेकर महादजी सिन्धिया और तुकोजी होलकर में बहुत मन-मुटाव हो गया, जिसके फलस्वरूप मरहठे मेड़ता की इस सैनिक विजय से भी पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा सके। राजपूतों के विरोध में पुनः दृढ़ता आने लगी, एवं राजस्थान की जन-साधारण प्रजा भी हथियार ले-ले कर सर्वत्र मरहठों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई। उनका वेतन समय पर चुकाने के लिए आवश्यक द्रव्य न मिलने के कारण अपने सुशिक्षित सैनिकों को भी अपने साथ रखना द बाँय के लिए अतीव कठिन हो गया। पुनः इस वर्ष अत्यावश्यक बरसात न होने से राजस्थान में भयंकर अकाल पड़ा, जिससे मरहठों की सेना को धान्य और घास मिलना भी असम्भव हो गया। इन्हीं सारी समस्याओं को सुलझाने के लिए महादजी स्वयं मथुरा से राजस्थान की ओर चल पड़ा।

धीरे धीरे राजस्थान की ओर बढ़ता हुआ दिसम्बर, १७९० ई० के प्रारम्भ में जब महादजी स्वयं जयपुर के पास पहुँचा, तब सवाई प्रतापसिंह ने सन्धि की बात-चीत प्रारम्भ करने के लिए अपने मन्त्रियों को भेजा। बिजयसिंह के दूत भी इसी उद्देश्य से दिसम्बर २५ को साँभर में महादजी के पास उपस्थित हुए। अजमेर का किला अब भी मरहठों के अधिकार में नहीं आया था, एवं महादजी ने जोधपुर का मामला बड़ी ही तत्परता के साथ जनवरी ३, १७९१ ई० को निपटा दिया। निश्चित शर्तों के अनुसार ६० लाख रुपया चुकाने और साँभर, आदि कुछ परगने मरहठों को सौंपने के साथ ही अजमेर का किला तथा

परगना भी महादजी के अधिकार में देना निश्चित हुआ। अतएव बहुत-कुछ चाह कर भी परिस्थितिवश महादजी जोधपुर राज्य का सर्वनाश नहीं कर पाया। जयपुर के साथ सन्धि की शर्तें तय करने में कुछ अधिक समय लग गया। मरहठों की चौथ के सत्रह लाख रुपये तथा शाही टाँके के लिए उचित रकम तय कर फरवरी, १७९१ ई० के प्रारम्भ में महादजी ने इस मामले का भी फैसला कर दिया। अजमेर तथा उत्तरी राजस्थान के मामलों की देख-भाल करने के लिए महादजी की ओर से लकवा दादा नियुक्त किया गया।

मेवाड़ में सोमचन्द गांधी की हत्या के बाद शक्तावतों और चूण्डावतों के पारस्परिक द्वेष तथा विरोध ने उत्कट स्वरूप धारण कर लिया था। महाराणा की सत्ता एवं शासन पूर्णतया लोप हो गए। आए दिन दोनों दलों में युद्ध होने लगे। मेवाड़ उजड़ता जा रहा था, सर्वत्र अराजकता घर करती जा रही थी। मरहठों की बढ़ती हुई माँगों को पूरा करने का कोई ज़रिया भी नहीं रह गया था। क़ोटा का सर्वे-सर्वा और चूण्डावतों का कट्टर शत्रु झाला ज़ालिमसिंह ही इन दोनों महाराणा भीमसिंह का प्रमुख सलाहकार था। परिस्थितियों से विवश महाराणा ने अन्त में ज़ालिमसिंह की सलाह मान कर उसे तथा अपने मन्त्रियों को महादजी के पास पुष्कर भेजा तथा यह कहलाया कि महादजी मेवाड़ को भी अपने संरक्षण में लेकर उसे सर्वनाश से बचावे। ज़ालिमसिंह के विशेष अनुनय-विनय पर महादजी ने महाराणा की प्रार्थना स्वीकार कर ली और अप्रेल १६, १७९१ ई० को मेवाड़ के भावी प्रबन्ध सम्बन्धी एक़ समझौता हो गया। उत्तरी राजस्थान के मामलों को निपटा कर सीधे पूना जाने की महादजी को बड़ी ही जल्दी थी, एवं तब वह स्वयं मेवाड़ नहीं जा सका, किन्तु वहाँ की समस्याओं को सुलझाने और

वहाँ उचित शासन-प्रबन्ध करने के लिए महादजी ने अम्बाजी इंगले को ससैन्य झाला ज़ालिमसिंह के साथ मेवाड़ भेज दिया ।

पिछले कई वर्षों से चित्तोड़ का सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक किला चूण्डावतों के प्रमुख नेता सलूम्बर के रावत भीमसिंह के अधिकार में था, और चित्तोड़ के आस-पास के सारे प्रदेश पर भी उसने अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया था । अतएव मेवाड़ में पहुँचते ही अम्बाजी चित्तोड़ के परगने पर अपना अधिकार करने के लिए प्रयत्नशील हुआ, तथा चित्तोड़ के किले के सामने डेरा डाला । राह में पड़ने वाले हमीरगढ़ के किले का भी घेरा चल रहा था। अब रावत भीमसिंह भी युद्ध के लिए उद्यत हुआ । मेवाड़ की उलझी हुई इन सारी राजनैतिक गुत्थियों को देख कर अम्बाजी ने महादजी को लिखा कि उसके स्वयं आए बिना मेवाड़ का मामला ठीक तरह नहीं सुलझ सकेगा । तब तो देवगढ़, भीलवाड़े होता हुआ महादजी अगस्त के तीसरे सप्ताह के लगभग नाथद्वारा पहुँचा ।

मेवाड़ राज्य को अपने संरक्षण में लेना स्वीकार कर महादजी ने कितना दुस्तर एवं असम्भव-सा काम अपने ऊपर ले लिया था, इसका पूरा-पूरा पता महादजी को मेवाड़ पहुँचने के बाद वहाँ के विभिन्न दलों के अनेकानेक व्यक्तियों से मिलने एवं मेवाड़ की ठीक ठीक राजनैतिक परिस्थिति जान लेने पर ही हुआ । महाराणा स्वयं बहुत ही दुर्बल-हृदय, पूर्णतया अस्थिर-चित्त और सर्वथा अकर्मण्य शासक था । परस्पर-विरोधी दलों में से जिस किसी का भी प्रभाव महाराणा पर बढ़ जाता था, महाराणा उसी के हाथ की कठ-पुतली बन जाता था । अतएव इन परस्पर-विरोधी दलों को दबा कर उनसे ठीक समय पर टाँका वसूल करना, तथा देश में शान्ति स्थापित कर धरती का पूरा-पूरा लगान एकत्रित करना अत्यावश्यक हो गया था,

क्योंकि ऐसा किए बिना न तो राज्य-शासन ही चल सकता था और न मरहठों की माँगे ही पूरी हो सकती थीं । इसी समस्या को ठीक तरह हल करने का उपाय महादजी सोचने लगा, जिससे उसकी अनुपस्थिति में भी मेवाड़ का शासन-प्रबन्ध समुचित रूप से चलता जावे ।

महाराणा की ओर से ज़ालिमसिंह नाथद्वारा गया और महादजी से मिल कर मेवाड़ के ख़िराज, आदि के प्रश्न तय किये । महादजी स्वयं महाराणा से भेंट करने को बहुत ही उत्सुक था, एवं सितम्बर ५, १७९१ ई० को नाहर मगरे पर यह भेंट हुई । मेवाड़ के मामलों सम्बन्धी सारी बात-चीत हो जाने पर दोनों ही साथ-साथ चित्तोड़ पहुँचे । महादजी ने जब चित्तोड़ के किले का घेरा डाला, तब रावत भीमसिंह ने सन्धि के लिए बात-चीत शुरू की । परन्तु प्रारम्भ में ही उसने दो बातें स्पष्ट कर दी थीं कि उसके कट्टर शत्रु झाला ज़ालिमसिंह के वहाँ रहते वह कदापि चित्तोड़ का किला खाली नहीं करेगा तथा अपना मामला वह सीधे महादजी से ही तय करवावेगा, उसके बारे में महाराणा से कुछ भी बात करने को वह बिलकुल ही तैयार नहीं था । उधर महाराणा इस विद्रोही सरदार के साथ नरमी करने के विरुद्ध था । परन्तु इस समय मेवाड़ में सर्वत्र अकाल पड़ रहा था, जिससे महादजी की कठिनाइयाँ बहुत बढ़ गईं तथा भूखे सिपाहियों को देने के लिए शीघ्रातिशीघ्र रुपया प्राप्त करना अत्यावश्यक हो गया । ऐसी परिस्थितियों से विवश हो कर खेद-खिन्न झाला ज़ालिमसिंह अक्तूबर के अन्त में ही वापस कोटा लौट गया । तब महादजी के विश्वस्त साथी तथा सेना-नायक राणा ख़ाँ भाई ने बीच में पड़ कर समझौता करवाया, जिससे नवम्बर १७, १७९१ ई० को रावत भीमसिंह ने चित्तोड़ का किला

खाली कर दिया, और उसी दिन उस किले पर पुनः महाराणा का झण्डा फहराने लगा। दिसम्बर के प्रारम्भ में रावत भीमसिंह को अपने साथ ले जाकर महादजी ने विशेष आग्रहपूर्वक महाराणा से उसके सारे पिछले अपराध क्षमा करवाए।

महादजी एक माह तक और मेवाड़ में ठहरा रहा। मेवाड़ राज्य के खालसा परगने सम्बन्धी लेन-देन की भी बात-चीत प्रारम्भ हुई, परन्तु महादजी की माँग पूरी करने को महाराणा के पास रह ही क्या गया था ? किसी भी तरह पाँच लाख रुपये दिए गए। मेवाड़ राज्य के भावी शासन-प्रबन्ध का प्रश्न भी सुलझाना था। पूरे सोच-विचार के बाद अपना प्रतिनिधि बनाकर अम्बाजी इंगले को ही मेवाड़ का शासन-भार सौंपने का महादजी ने निश्चय किया। मेवाड़ का राज्य-शासन आगे भी महाराणा के ही नाम से चलता रहे, यह आदेश देकर तत्सम्बन्धी सारे दीवानी और फ़ौजदारी अधिकार अम्बाजी को सौंपे गए, और उसकी सहायतार्थ दस हज़ार दक्षिणी घुड़-सवार एवं बेगम समरू की सेना की चार पलटनें वहाँ छोड़ी गईं।

जनवरी ५, १७९२ ई० को महादजी ने महाराणा, रावत भीमसिंह, आदि को बिदा दी और दूसरे दिन वह स्वयं प्रतापगढ़ की ओर चल पड़ा, तथा वहाँ कुछ दिन ठहर कर जनवरी १३ को वह उज्जैन के लिए रवाना हो गया। महादजी की विशेष आज्ञानुसार इसी वर्ष के पिछले महीनों में अम्बाजी ने कुंभलगढ़ पर ससैन्य चढ़ाई की और मेवाड़ राज्य के दावेदार रत्नसिंह को वहाँ से निकाल बाहिर किया। दिसम्बर ६, १७९२ ई० को उस किले पर महाराणा का अधिकार हो गया, और यों रत्नसिंह के इस उत्पात का मेवाड़ से नामोनिशान भी मिट गया।

मेवाड़ के शासन में इस प्रकार मरहठों का पूर्ण हस्तक्षेप होते

ही समूचे राजस्थान पर मरहठों का एकाधिपत्य स्थापित हो गया। महादजी की युरोपीय ढंग से सुशिक्षित एवं युरोपीय सेनानायकों द्वारा संचालित सेना ने बलपूर्वक राजपूतों के विरोध को दबा दिया था, जिससे मरहठों का सामना करने का किसी भी राजपूत राज्य को साहस न रहा। यों राजपूतों की इन पराजयों के साथ ही इस संघर्ष-काल का भी अन्त हो गया, परन्तु इससे ही राजपूतों के आन्तिरिक विरोध तथा मरहठों के प्रति उनके विद्वेष और घृणा की इति-श्री नहीं हुई। मरहठों की निरन्तर बढ़ती हुई उद्धतता एवं विजयजन्य उनके गर्व ने राजपूतों के आत्म-गौरव और प्रतिष्ठा को गहरी ठेस पहुँचाई, जिससे राजपूतों में उनके प्रति बहुत तीव्र कटुता भर गई। अपनी वीरता तथा साहस में उनका आत्म-विश्वास विनष्ट हो चुका था। मरहठों को किसी न किसी तरह नीचा दिखाने के लिए भरसक प्रयत्न करना उन्होंने अब अपना कर्त्तव्य समझा, एवं वे तदर्थ उपयुक्त समर्थक तथा समुचित अवसर की ताक में रहने लगे। अपने उद्देश्य की पूर्ति करने में साधन की अनुचितता एवं उसके भावी दुष्परिणामों की भी उन्होंने पूर्ण उपेक्षा ही की।

इस युग में राजस्थान ने असीम ऐश्वर्य-विलास तथा वासना का बीभत्स नग्न-नृत्य देखा। बहु-विवाह एवं व्यभिचार का सर्वत्र दौर-दौरा था। नैतिक सदाचार एवं पवित्र आचरण भूत-कालीन वस्तुएँ हो गई थीं, उनकी आवश्यकता तथा महत्त्व का विचार भी किसी को नहीं सताता था। नैतिक पतन का यह भयंकर हलाहल राजस्थानी समाज़ की निम्नतर श्रेणियों तक पहुँच चुका था। विलास एवं अनाचार ही उल्लास तथा सरसता के समुचित प्रतीक तथा एकमात्र पर्याय माने जाते थे। अनुल्लेखनीय अनाचार की घृणा-

स्पद अपकीर्तिपूर्ण कथाएँ बड़े-बड़े प्रतिष्ठापूर्ण कुलीन राजघरानों तक के लिए सर्वत्र प्रचलित थीं, और उन पर किसी प्रकार अविश्वास भी नहीं किया जाता था। पुनः राज्य एवं सत्ता के लिए पतित से पतित कार्य भी राजपूतों के लिए क्षम्य समझा जाता था। उत्तराधिकार के लिए प्रत्येक राजस्थानी राज्य में सच्चे या झूठे दावेदार उठ खड़े हुए थे और उन प्रश्नों को लेकर समूचा राजस्थान, प्रत्येक राज्य, और कई बार उनके विभिन्न भागों और छोटे-छोटे परगनों तक में पारस्परिक विरोध तथा गृह-युद्ध चल रहा था। इस भीषण अनैकता ने राजस्थान की शक्ति को पूर्णतया छिन्न-भिन्न कर दिया था।

राग-रंग में डूबे हुए, मदिरा की मस्ती में चूर, अफ़ीम की पीनक में पड़े राजस्थान के राजा और रंक सब ही कूप-मण्डूक बने हुए थे। विदेश की तो बात दूर रही देश और प्रान्त की बदलती हुई राजनीति से भी वे सर्वथा अनभिज्ञ थे। तुंगा के युद्ध के बाद तक शाह आलम के नेतृत्व में उनका विश्वास सर्वथा दयनीय था। उत्तरी भारत में महादजी की सर्व-व्यापी सत्ता का अनुभव करके भी उन्हें यही आशा बनी रही कि बालक पेशवा या सुदूर पूना-स्थित उसके अधिकारी किसी भी प्रकार इन राजस्थानी राजाओं की सहायता करके उन्हें महादजी के चंगुल में से निकाल सकेंगे। समरू, रेने मादे, आदि युरोपीय तथा अंग्रेज़ सेनानायकों द्वारा शिक्षित एवं संचालित सेनाओं की सफलताओं को देख कर भी राजस्थानी नरेशों ने अपने-अपने राज्यों की सेना में उपयुक्त परिवर्तन करने की आवश्यक्ता तक नहीं समझी। द बॉय को एक बार अपना सेनानायक बनाने का निश्चय करके भी सालबाई की संधि के बाद जयपुर के सवाई प्रतापसिंह ने सर्वदा के लिए उसका विचार त्याग दिया। युद्ध में बन्दूकों और तोपों के निर्णायक प्रभाव

का यह तिरस्कार एवं युद्ध-विद्या में आवश्यक परिवर्तनों की वह उपेक्षा राजस्थानी राज्यों के लिए पूर्णतया घातक हुई। अपनी इतिहास-प्रसिद्ध अदूरदर्शिता तथा इस मोहपूर्ण अपरिवर्तनवादिता के कारण ही राजस्थान का यह शोचनीय पतन हुआ।

राजस्थान के राज्यों एवं वहाँ के समाज के इस भयंकर पतन का सर्व-व्यापी प्रभाव वहाँ के साहित्य और कला में भी व्यक्त होने लगा। साहित्य-साधना राजस्थान से अन्तर्हित हो रही थी। कविता राजदरबार के मनोविनोद एवं सन्तों के विचार-प्रदर्शन की ही वस्तु रह गई थी। शृंगार-रस का ही सर्वत्र प्राधान्य था; कहीं-कहीं शान्त और भक्ति-रस की भी चर्चा होती थी। संक्षिप्त स्फुट काव्य की रचना करना ही कवियों का प्रधान आदर्श रह गया था। इन दिनों राजस्थान में किसी भी महत्त्वपूर्ण स्थायी साहित्य की सृष्टि नहीं हो पाई। राजस्थान की आत्मा ही मूर्च्छित एंव निश्चेष्ट हो गई थी। उसकी यह जड़ता राजस्थान की कला को भी धीरे-धीरे अदृष्टरूपेण गतिहीन, भावुकता-रहित एवं कठोर नियमबद्ध बना रही थी। कलाकारों का दृष्टि-कोण निरन्तर संकीर्ण एवं उनके चित्रों के विषयों की संख्या सीमित होती जा रही थी। कला की निर्जीवता के साथ ही रंगों की अनावश्यक तड़क-भड़क तथा उनमें सामञ्जस्य-विहीनता का भी प्रारम्भ होने लगा था।

राजस्थान के इस पतनोन्मुख निराशामय वातावरण को यत्र-तत्र आलोकित करते थे वहाँ के तत्कालीन संत-कवि और विभिन्न पंथों के प्रवर्तक या प्रचारक साधु-सन्यासी। भक्त-प्रवर नागरीदास एवं स्वामी श्रीहित वृन्दावनदास ने राजस्थान की जनता को भक्ति-मार्ग की ओर प्रेरित किया, परन्तु अन्त में अपनी विफलता का अनुभव कर उन्होंने भी राजस्थान से मुँह मोड़ लिया और दोनों ने ही अपने

जीवन के अन्तिम वर्ष वृन्दावन में ही बिताये। मध्य-कालीन धार्मिक प्रवृत्तियों के फलस्वरूप इस समय राजस्थान में भी यत्र-तत्र नए-नए धार्मिक पंथ उठ खड़े हो रहे थे। परन्तु ये पंथ भी अपने-अपने सीमित क्षेत्रों में बहुत ही थोड़ा ज्ञान-प्रदर्शन कर पाए, एवं उनके प्रवर्तकों की सच्ची धार्मिक भावनाएँ तथा धार्मिकता के प्रचलन द्वारा जन-हित के उनके सारे प्रयत्न, उप्सत पंथ के धार्मिक संस्कारों, क्रिया-विधि की विशिष्ट पद्धति और ऊपरी धार्मिक चिह्नों की परंपरा, आदि के निरर्थक ढकोसलों की दलदल में फंस कर पूर्णतया विफल हुए, और इन विभिन्न पंथों का महत्त्व अपनी-अपनी गद्दियों के प्रमुख स्थानों एवं आस-पास के कुछ प्रदेश तक ही सीमित रह गया; वे अखिल प्रान्तीय महत्त्व भी नहीं प्राप्त कर सके।

परन्तु यह तो राजस्थान के सर्वतोमुखी भयंकर पतन का प्रारम्भ-मात्र था। वहाँ मरहठों की सर्वोपरि सत्ता स्थापित हो जाने के बाद राजस्थानी राजनीति की बाहरी उलझनें निरन्तर बढ़ती ही गईं, और कुछ ही समय बाद ये राजस्थानी राज्य अनजाने ही भारतीय राजनीति की शतरंज के मोहरे बन कर विदेशियों के इशारे पर नाचने लगे, तथा वहाँ के नरेश और उनकी प्रजा आप ही आप बड़ी तेज़ी के साथ पराधीनता के गंभीर गह्वर की ओर लुढ़कने लगे।

४. अराजकता तथा अंग्रेज़ी सत्ता स्थापना काल
(१७९२–१८१८ ई०)

सन् १७९२ ई० के प्रारम्भ से ही राजस्थान की राजनैतिक परिस्थिति पूर्णतया बदल गई थी। मेवाड़ अब सिंधिया का एक रक्षित राज्य बन गया था। देहली के मुग़ल राज्य की ही तरह महाराणा ने भी

महादजी को अपना संरक्षक बना लिया था। महादजी ने अम्बाजी इंगले को मेवाड़ में अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया था, और द बॉय को आदेश दिया गया था कि सन्धियों में किये गये वादों के अनुसार जयपुर तथा जोधपुर राज्यों से वह आवश्यक द्रव्य वसूल करे। राजस्थान में भी सर्वत्र मरहठों का आधिपत्य हो गया था। किन्तु मेड़ता के युद्ध के बाद से पुनः प्रारम्भ हुई होलकर-सिंधिया कशमकश अब भी चल रही थी, जिससे मरहठों के आधिपत्य को निरन्तर ठेस लगती रहती थी। महादजी पूना चला गया, किन्तु सितम्बर, १७९२ ई० में भी तुकोजी होलकर राजस्थान-मालवा की सीमा पर ही बना हुआ था। उत्तरी भारत में महादजी के प्रधान कर्मचारी गोपाल भाऊ, जीवा दादा बख़्शी, आदि के साथ उसकी निरन्तर खिचती ही गई। अक्तूबर ८, १७९२ ई० को सुरौली में हुई सैनिक झड़प के बाद तो दोनों ही पक्षों ने युद्ध की तैयारियाँ कीं और अन्त में जून १, १७९३ ई० को लाखेरी के घमासान युद्ध में होलकर की सेना की पूर्ण पराजय हुई, जिससे कुछ वर्षों के लिए तो राजस्थान से होलकर घराने का प्रभाव पूर्णतया विलीन हो गया।

जयपुर राज्य के साथ तुकोजी होलकर का रहा-सहा सम्बन्ध भी अब टूट गया। लाखेरी के युद्ध-क्षेत्र से द बॉय सीधा जयपुर पहुँचा तथा राज्य के प्रधान मन्त्री दौलतराम हलदिया को साथ ले कर जयपुर राज्य और उसके सरदारों से कुल मिला कर कोई सत्तर लाख रुपया वसूल किया, जो वादा किये जाने पर भी अब तक चुकाया नहीं गया था। जयपुर राज्य पूर्णतया सिन्धिया के नियन्त्रण में आ गया। जयपुर राज्य में नियुक्त सिन्धिया के फ़रासीसी सेनानायक, द बॉय और उसके बाद पेरों का बर्ताव सवाई प्रतापसिंह के

प्रति विशेष रूपेण आदरपूर्ण होता था। उनके सैनिक प्रजा के साथ लूट-मार तथा अनावश्यक कड़ाई न करें इसके लिए वे अत्यधिक प्रयत्नशील रहते थे। अतएव शेखावाटी के सरदारों से टाँका-वसूली के लिए यदा-कदा होने वाले लड़ाई-झगड़ों के अतिरिक्त जयपुर राज्य के इतिहास के आगामी कई वर्ष शान्तिपूर्ण एवं घटना-विहीन ही रहे।

परन्तु मारवाड़ में परिस्थिति दिनोंदिन बिगड़ती जा रही थी। महाराजा बिजयसिंह की पासबान गुलाबराय का ही सर्वत्र बोल-बाला था, जिस कारण मारवाड़ के सरदार अधिकाधिक असन्तुष्ट होते जा रहे थे। बूढ़े बिजयसिंह का स्वास्थ्य बहुत ही अधिक क्षीण हो गया था, एवं उसके उत्तराधिकारी का प्रश्न शीघ्रातिशीघ्र तय करना अत्यावश्यक हो गया। मारवाड़ के सरदार बिजयसिंह के दूसरे लड़के के पुत्र भीमसिंह को युवराज बनाना चाहते थे, परन्तु गुलाबराय की सलाह मान कर बिजयसिंह ने अपने छठे पुत्र गुमानसिंह के लड़के मानसिंह को युवराज बनाने के लिए चुना और नवम्बर ७, १७९१ ई० को तदर्थ आवश्यक रीति-रस्म और उपयुक्त समारोह करने का निश्चय किया। इसकी सूचना मिलते ही मारवाड़ के कई प्रमुख सरदार विद्रोही हो गए। राज्य में सर्वत्र पूरी अराजकता फैल गई तथा सारी शासन-व्यवस्था बिलकुल विलीन हो गई। दोनों पक्षों में गृह-युद्ध ही प्रारम्भ हो गया। बिजयसिंह की अनुपस्थिति में जोधपुर नगर पर भी उसके विरोधियों ने अधिकार कर लिया तथा छल द्वारा उन्होंने अप्रेल १६, १७९२ ई० को गुलाबराय की हत्या करवा दी, जिसकी सूचना बिजयसिंह को उसकी मृत्यु से कुछ ही दिन पहिले मिली। भीमसिंह के जोधपुर के किले को छोड़ने पर ही बिजयसिंह मार्च २०, १७९३ ई० के दिन पुनः वहाँ पहुँचा, परन्तु

न तो उससे गृह-युद्ध ही समाप्त हुआ और न राज्य में शासन-व्यवस्था ही स्थापित हो सकी। बूढ़ा रोग-जर्जरित बिजयसिंह जुलाई ७, १७९३ ई० की आधी रात के समय मर गया, और कुछ दिन बाद जैसलमेर से लौट कर भीमसिंह मारवाड़ की राजगद्दी पर बैठा। तब मानसिंह जोधपुर से रवाना हो कर जालोर जा पहुँचा, और उसी नगर को अपना प्रधान आश्रय-स्थान बना कर जोधपुर राज्य में यत्र-तत्र लूट-मार करने लगा। भीमसिंह के जीवन भर मानसिंह तथा उसके साथियों का यह विरोध चलता ही रहा।

सन् १७९२ ई० के प्रारम्भ में राजस्थान से बिदा होकर महादजी पुनः वहाँ नहीं लौट पाया; फरवरी १२, १७९४ ई० को पूना में ही उसकी मृत्यु हो गई। अब उसका उच्छृंखल, अनुभवहीन एवं दुराग्रही, हठीला नवयुवा भतीजा दौलतराव महादजी का उत्तराधिकारी बना। ये आगामी कुछ वर्ष मरहठों के इतिहास में बहुत ही घातक हुए। पिछले युगों के कई अन्य प्रमुख व्यक्ति भी अब एक-एक कर इस सांसारिक रंग-भूमि से बिदा लेने लगे। यद्यपि वृद्ध रोगी तुकोजीराव अगस्त, १७९७ ई० तक जीवित रहा, उसकी तपस्वी साध्वी भगवत्-परायणा राज-माता अहल्याबाई की मृत्यु अगस्त १४, १७९५ ई० को ही हो गई थी, एवं उसके साथ ही होलकर राजघराने की सारी गंभीरता, स्थिर-बुद्धि एवं विचारशीलता पूर्णतया लुप्त हो गई। इसके कुछ ही माह बाद अक्तूबर २७, १७९५ ई० को होनहार नवयुवा पेशवा सवाई माधवराव की मृत्यु हो गई। पहिले तो उसके उत्तराधिकारी के प्रश्न को लेकर एवं उसके तय हो जाने के बाद समूचे मरहठा राज्य की राजनीति तथा शासन का संचालन करने की सत्ता और एकाधिकार प्राप्त करने के लिए पूना में निरन्तर षड्यन्त्र, कुचक्र एवं प्रपंच होते रहे। स्वदेशघातक राजद्रोही राघोबा का पुत्र

तथा मरहठा स्वातन्त्र्य का भावी विनाशक बाजीराव अब पेशवा बना।

मरहठा राजनीतिज्ञों एवं प्रमुख अधिकारियों का भी दृष्टि-कोण अब संकुचित होकर केवल महाराष्ट्र तक ही सीमित हो गया, जिससे पेशवा के राजदरबार की राजनीति तथा उसकी सैनिक सत्ता को अनावश्यक एवं सर्वथा असंगतरूपेण अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा था। दौलतराव ने भी अपने शासन के प्रथम सात वर्ष पूना तथा आस-पास के महाराष्ट्र प्रदेश में ही बिताए, जिसके फलस्वरूप राजस्थान का सारा शासन-प्रबन्ध उसे अपने अधिकारयों, सेनानायकों या सरदारों के ही हाथ में छोड़ना पड़ा। साथ ही सन् १७९५ ई० के अन्त में द बॉय ने भी उत्तरी भारत में सिंधिया की सेना के नेतृत्व से अवकाश ग्रहण किया और वह फ्रांस को वापस लौट गया। उसके एक सहकारी फ़रासीसी सेनानायक, पेरों को अब द बॉय का यह पद दिया गया, परन्तु पेरों में न तो द बॉय की-सी शासकीय योग्यता ही थी और न वैसा युद्ध-कौशल ही। इसके कुछ ही दिनों बाद महादजी का विश्वस्त सुयोग्य प्रमुख सलाहकार तथा दौलतराव का मन्त्री जीवा दादा भी जनवरी ४, १७९६ ई० को मर गया। अब बालोबा तात्या पगनिस दौलतराव का प्रधान मन्त्री बना। दौलतराव कान का कच्चा तथा बहुत ही अस्थिर-चित्त था। उसके मन्त्री-मण्डल में यदा-कदा एकाएक परिवर्तन होने लगे तथा उसके विभिन्न मन्त्रियों में पारस्परिक द्वेष और आपसी विरोध भी बढ़ने लगा, जिनका उत्तरी भारत के अधिकारियों तथा सेनानायकों पर भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता था। उत्तरी भारत में नियुक्त इन मरहठे अधिकारियों में भी अब गृह-युद्ध होने लगे, जिससे राजस्थान में पुनः अराजकता और अशान्ति फैल गई।

उधर अपने पिता तैमूर शाह दुर्रानी की मृत्यु पर उसका छोटा लड़का ज़मान शाह मई, १७९३ ई० में काबुल का शासक बना। अपने पूर्वजों के समान ज़मान शाह भी भारत-विजय के लिए उत्सुक था, एवं तदर्थ भरसक प्रयत्न करता था। अतएव प्रायः प्रति वर्ष शरद ऋतु के प्रारम्भ में जब-जब उसके सिन्धु नदी पार कर पंजाब में बढ़ने के समाचार आने लगते थे उत्तरी राजस्थान से लेकर दिल्ली सूबे और अवध राज्य की पश्चिमी सीमा तक सर्वत्र हलचल मच जाती थी; राजस्थानी राजा मरहठों के विरुद्ध विद्रोह करने की सोचने लगते थे और उत्तरी भारत के मरहठा सेनानायकों तथा अधिकारियों पर चिन्ता और आतंक छा जाता था। यद्यपि ज़मान शाह कभी भी अमृतसर से आगे नहीं बढ़ पाया, तथापि मई, १८०१ ई० में ज़मान शाह के सिंहासनच्युत होने तक उसके भारत-आक्रमण की आशंका निरन्तर बनी ही रही तथा राजस्थान में मरहठों की नीति और वहाँ की घटनावली पर उसका उल्लेखनीय प्रभाव अवश्य पड़ता रहा।

महादजी के दक्षिण चले जाने पर अम्बाजी इंगले ने मेवाड़ के सरदारों से बीस लाख रुपये वसूल किये, परन्तु वहाँ के सरदारों के आपसी द्वेष और कलह के कारण वह मेवाड़ में फिर भी पूर्ण शान्ति स्थापित नहीं कर सका। सन् १७९४ ई० में झाँसी, आदि पूर्वी प्रदेश का सूबेदार नियुक्त होने पर जब अम्बाजी को वहाँ जाना पड़ा, तब अपने दीवान नाना गणेश पन्त को मेवाड़ में अपना प्रतिनिधि नियुक्त कर अम्बाजी ने वहाँ का शासन-प्रबन्ध उसे सौंप दिया। नाना गणेश ने भी शक्तावतों के पक्ष वालों से मेल रख कर चूण्डावतों को बहुत हानि पहुँचाई। मेवाड़ से द्रव्य एकत्रित कर उसने अपनी स्वार्थ-सिद्धि भी की। चूण्डावतों ने दस लाख रुपया देने का लालच देकर अम्बाजी को अपने पक्ष में कर लिया, जिससे मेवाड़ में नियुक्त

अम्बाजी के अधिकारी ने भी शक्तावतों का पक्ष लेना छोड़ दिया, और यों चूण्डावतों का साहस बहुत बढ़ गया (अक्तूबर, १७९६ ई० के लगभग) ।

इस समय राजस्थान में नियुक्त मरहठे अधिकारियों का प्रधान उद्देश्य यही रहता था कि वहाँ के राज्यों से किसी न किसी प्रकार आवश्यक द्रव्य बराबर वसूल होता रहे । भीमसिंह के गद्दी पर बैठने के बाद भी जोधपुर राज्य में चलते रहने वाले आन्तरिक झगड़ों से लाभ उठा कर जीवा दादा और लकवा ने भीमसिंह से कुछ रुपया वसूल किया । जयपुर तथा अन्य राजपूत राज्यों से भी पूरी कड़ाई के साथ रुपया वसूल किया जाता था, जिससे ये सारे ही राज्य मरहठों के आधिपत्य को दूर करने के लिए इच्छुक हो रहे थे । किन्तु खर्ड़ा के युद्ध में मरहठों के हाथों निज़ाम की पूर्ण पराजय का विवरण सुन कर राजस्थान के राजा हताश हो गए और मरहठों से किसी भी प्रकार छुटकारा पाने की उन्हें कोई आशा नहीं रही । तब जयपुर तथा कोटा के शासकों ने तो अपने राज्यों के बचाव के लिए मई, १७९५ ई० में अंग्रेजों के साथ सन्धि करने का एक असफल प्रयत्न भी किया ।

परन्तु मरहठों का यह आतंककारी एकाधिपत्य भी बहुत समय तक स्थायी नहीं रह सका । जीवा दादा की मृत्यु के बाद दौलतराव सिन्धिया ने लकवा दादा को उत्तरी भारत का प्रमुख अधिकारी नियुक्त किया था, परन्तु इस समय उसे अवसर नही मिला कि राजस्थान के मामलों की ओर वह विशेष ध्यान दे सके । काबुल के शासक ज़मान शाह के भारत-आक्रमण की सम्भावना से लाभ उठा कर उत्तरी राजस्थान के शासक कहीं मरहठों के आधिपत्य को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न न करें, एवं तदर्थ आवश्यक प्रबन्ध करने की वह सोच ही रहा था कि सुदूर दक्षिण में मरहठा राजधानी पूना में निरन्तर

चल रते हने वाले कुचक्रों के फलस्वरूप लकवा को कैद करने की दौलतराव की आज्ञा उत्तरी भारत में आ पहुँची, जिससे लकवा भाग कर अवध चला गया (नवम्बर, १७९६ ई०), और अनेक प्रयत्न करने पर भी कोई दस माह तक वह अपने पद पर वापस नहीं लौटा तथा उत्तरी भारत का शासन-प्रबन्ध लकवा के साथी जग्गू बापू की ही देख-रेख में चलता रहा।

उधर मेवाड़ में चूण्डावतों ने महाराणा भीमसिंह को पुनः अपने हाथ की कठ-पुतली बना लिया। शक्तावतों के पक्ष वाले प्रमुख कर्मचारी कैद हुए एवं अगरचन्द मेहता को प्रधान मन्त्री बना कर चूण्डावत रावत भीमसिंह पुनः मेवाड़ की राजनीति का निर्देशन करने लगा (दिसम्बर, १०, १७९६ ई०)। साथ ही मरहठा सेनानायकों की इस आपसी फूट ने राजस्थान के राजाओं में आशा का नव-संचार किया, तथा वे सिन्धिया के आधिपत्य के विरुद्ध षड्यन्त्र करने लगे। यह परिस्थिति ज्ञात होने पर दौलतराव ने लकवा और जग्गू बापू को मेवाड़ और मारवाड़ पर सेना भेजने का आदेश दिया (अक्तूबर, १७९७ के लगभग)। परन्तु इसके कुछ ही दिनों बाद ज़मान शाह के पंजाब की ओर बढ़ने तथा वहाँ से भारत पर उसके आक्रमण की संभावना के कारण मरहठे सेनानायकों को राजस्थान की ओर विशेष ध्यान देने का अवसर नहीं मिला।

कुछ समय से जयपुर राज्य से भी कोई रुपया वसूल नहीं हो रहा था, एवं तदर्थ जयपुर राज्य पर चढ़ाई करने के लिए लकवा ने रेवाड़ी के मरहठा अधिकारी वामनराव को आदेश दिया। इन दिनों हरियाना में अपने एक स्वाधीन राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील वीर तथा सफल आयरलैण्ड-वासी सेनानायक जार्ज टामस को भी वामनराव ने अपनी सहायतार्थ ससैन्य साथ लिया

तथा जनवरी, १७९८ ई० के प्रारम्भ में जयपुर राज्य पर उसने आक्रमण कर दिया। खण्डेला तथा शेखावाटी के अन्य विद्रोही सरदारों ने आक्रमणकारी का साथ दिया। फरवरी ८, १७९८ ई० के दिन होने वाले फतेहपुर के सुप्रसिद्ध युद्ध में टामस ने जयपुर राज्य की सेना को पूर्णतया पराजित किया, तथापि यह चढ़ाई सफल नहीं हुई और वामनराव को सर्वथा नगण्य द्रव्य लेकर ही संतोष करना पड़ा। इस अवसर पर बीकानेर के महाराजा सूरतसिंह ने जयपुर राज्य की सहायता की थी, एवं इस चढ़ाई से लौटते समय जार्ज टामस ने बीकानेर राज्य पर चढ़ाई की और वहाँ से दो लाख रुपया पाने का वादा करने पर ही वापस हाँसी को लौटा। किन्तु इस समय दी गई हुंडियाँ कभी भी सकारी नहीं गईं, और इसी बहाने को ले कर मार्च, १८०० ई० के बाद टामस ने बीकानेर पर दूसरी बार चढ़ाई की थी। बीकानेर की उत्तरी सीमा पर रहने वाले भट्टियों का भटनेर के गढ़ पर पुनः अधिकार करवा देने के अतिरिक्त टामस इस बार भी बीकानेर राज्य का कुछ नहीं बिगाड़ सका, तथा बीकानेर की ओर कई मील तक बढ़ कर भी वहाँ के प्रतिकूल जल-वायु के कारण उसे विफल-मनोरथ ही वापस लौटना पड़ा।

पहिले की तरह इस बार भी जनवरी, १७९८ ई० के अन्त तक ज़मान शाह को लाहौर से ही वापस काबुल को लौट जाना पड़ा। एवं भोपाल राज्य के उत्तराधिकार सम्बन्धी झगड़े में जब एक पक्ष वाले ने उन्हें सहायतार्थ आमन्त्रित किया तब लकवा और जग्गू बापू वहाँ के लिए चल पड़े। उधर सिन्धिया के राज-दरबार में पुनः उथल-पुथल हो गई थी। उसकी पुत्री बाइज़ाबाई के साथ दौलतराव का विवाह हो जाने के कारण सर्जेराव घाड़गे का अब वहाँ बोल-बाला

था । अतएव पूना से प्राप्त आज्ञाओं के फलस्वरूप ही भोपाल की ओर बढ़ते हुए लकवा और जग्गू बापू को सागर के पास मार्च १०, १७९८ ई० के लगभग हरजी सिन्धिया ने कैद कर लिया। उत्तरी भारत से पर्याप्त रुपया वसूल कर जमा करवाने के वादे पर वहाँ का शासन अस्थायी तौर से अम्बाजी इंगले को सौंपा गया ।

सर्जेराव घाड़गे के बढ़ते हुए महत्त्व के साथ ही सुदूर महाराष्ट्र में भी दौलतराव के लिए एक नई उलझन पैदा हो रही थी, जिसका आगे चल कर राजस्थान पर भी प्रभाव पड़ा । महादजी सिन्धिया की विधवा स्त्रियों एवं दौलतराव में मनमुटाव बढ़ते-बढ़ते मई १५, १७९८ ई० के बाद तो गृह-युद्ध में परिणत हो गया । उत्तरी भारत के मरहठा सेनानायकों में अनेकों की सहानुभूति इन विधवा रानियों के साथ थी, अतएव वे भी दौलतराव के विरुद्ध होगए । लकवा और जग्गू बापू भी इन्हीं रानियों के पक्ष में थे, एवं उनके पक्ष वालों ने अगस्त, १७९८ ई० के प्रारम्भ में उन्हें कैद से छुड़वा दिया। तब विधवा रानियों के नाम से लकवा ने स्वयं को उत्तरी भारत का प्रमुख अधिकारी घोषित किया, तथा उस पद के लिए अब उसमें तथा अम्बाजी के पक्ष वालों में कशमकश प्रारम्भ हुई, जो पूरे वर्ष भर से भी अधिक चलती रही ।

सन् १७९९ ई० के प्रारम्भिक महीनों में जब दोनों विरोधी पक्ष उज्जैन पर अधिकार के लिए मालवा में युद्ध कर रहे थे, तब मेवाड़ राज्य की सेना ने महादजी सिन्धिया द्वारा मेवाड़ से जीते हुए अजमेर परगने के भागों पर विफल आक्रमण किया। मेवाड़ की सेना की सहायतार्थ लकवा ने पहिले कुछ सेना भेजी और अप्रेल ९, १७९९ ई० को वह स्वयं ससैन्य मेवाड़ में जा पहुँचा। मेवाड़ को अब अपने अधिकार में रखना अम्बाजी के लिए सर्वथा असम्भव-सा हो

गया था। पेरों से भी उसे कोई सैनिक सहायता नहीं मिलने वाली थी, एवं उसने जार्ज टामस को अपनी ओर से लड़ने के लिए मेवाड़ भेजा। उधर बालाराव, आदि अन्य सेनानायक भी लकवा का विरोध करने को मालवा से चित्तोड़ जा पहुँचे। लकवा के घुड़-सवारों ने उसके विरोधियों तक घास-दाना भी पहुँचना कठिन कर दिया।

तुकोजी होलकर की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर दौलतराव ने अपने लिए एक नई समस्या उत्पन्न कर ली थी। तुकोजी के अनौरस पुत्र वीर साहसी यशवन्तराव ने दौलतराव के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर मालवा में लूट-मार मचा दी और अब लकवा भी उसका मित्र बन गया था। उत्तरी भारत में अपने राज्य और सत्ता की इस संकटपूर्ण परिस्थिति का अनुभव कर दौलतराव अब विधवा रानियों के साथ मेल तथा लकवा को पुनः अपने पक्ष में करने के लिए उत्सुक हो उठा था। अतएव अप्रेल, १७९९ ई० में दौलतराव ने लकवा के समर्थक बालोबा तात्या को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। तब बहुत-कुछ बातचीत के बाद मई १०, १७९९ ई० को लकवा और बालाराव में सन्धि हो गई तथा मई मास समाप्त होते-होते दौलतराव ने भी लकवा को पुनः उत्तरी भारत का प्रमुख अधिकारी नियुक्त किया।

किन्तु इससे ही नाना गणेश पंत, टामस, आदि अम्बाजी के साथियों के विरोध का अन्त नहीं हुआ। अगस्त ९, १७९९ ई० को नाना गणेश पंत की हार के बाद वे कुछ पीछे हटे तथा सितम्बर माह में लकवा के किशनगढ़ चले जाने पर ही मेवाड़ में पुनः कुछ शान्ति हुई। उधर इन आपसी युद्धों से परेशान होकर दौलतराव ने मेवाड़ का शासन-प्रबन्ध अम्बाजी के पास से लेकर लकवा को दे दिया; तब अम्बाजी भी विवश हो गया और पेरों को बीच में डाल कर

उसने लकवा से सन्धि कर ली तथा जार्ज टामस को छुट्टी दी (नवम्बर ५, १७९९ ई०)।

मेवाड़ में जब यह गृह-युद्ध चल रहा था, तब जयपुर में एक नई उलझन पैदा हो गई। अवध के पदच्युत नवाब वज़ीर अली ने जून २३, १७९९ ई० को जयपुर राज्य में शरण ली थी। बनारस में की गई हत्याओं के अपराध में उस पर अभियोग चला कर उसे मृत्यु-दण्ड देने के लिए उसे वापस सौंप देने के लिए अंग्रेज सरकार ने जयपुर के महाराजा से विशेष आग्रह किया। बहुत-कुछ कहा-सुनी के बाद विवश होकर उसे मृत्यु-दण्ड न देने तथा कैदखाने में भी उसके पाँव में बेड़ी न डालने की शर्त पर बड़ी ही अनिच्छापूर्वक दिसम्बर २, १७९९ ई० को वज़ीर अली अंग्रेज़ अधिकारी कर्नल कालिन्स को सौंप दिया गया। एक शरणागत को इस तरह सौंप देना तत्कालीन हिन्दू भावनाओं के बहुत ही विपरीत था, एवं सवाई प्रतापसिंह के इस कार्य की सर्वत्र ही बहुत निन्दा हुई, परन्तु इससे राजस्थान के इन बड़े राजपूत राज्यों की भी निर्बलता तथा तज्जन्य विवशता ही अधिकाधिक स्पष्ट हो गई।

अम्बाजी इंगले का विरोध समाप्त होने के बाद लकवा ने राजस्थान पर कोई छः माह तक बड़ी दृढ़ता के साथ शासन किया, विद्रोहों को दबाया, आपसी झगड़ों को निपटाया एवं रुपया वसूल किया, जिससे वहाँ बहुत-कुछ शान्ति छा गई। उधर कोटा में कुछ लूट-मार के बाद दो लाख रुपये लेकर यशवन्तराव होलकर को संतोष कर लेना पड़ा था, क्योंकि अब उसके साथी भी बिखर चुके थे। जनवरी, १८०० ई० के प्रारम्भ में लकवा मेवाड़ पहुँचा और जहाज़पुर का सुदृढ़ किला, जिस पर तब शाहपुरा के राजाधिराज ने अधिकार कर लिया था, उससे छीन कर वापिस मेवाड़ राज्य के आधीन कर

दिया। महाराणा से पाँच लाख रुपया वसूल कर उसने जसवन्तराव भाऊ को मेवाड़ का सूबेदार नियुक्त किया।

तब लकवा ने जयपुर के शासक सवाई प्रतापसिंह की ओर ध्यान दिया, जो इधर कई वर्षों से कुछ भी रुपया नहीं दे रहा था। मार्च महीने में तो सन् १७९१ ई० के समझौते की शर्तों को पूर्णतया अस्वीकार कर वह मरहठों के साथ युद्ध की भी तैयारी करने लगा। लकवा के विरोध में सवाई प्रतापसिंह का साथ देने और उसकी ओर से लड़ने के लिये जोधपुर के भीमसिंह ने भी चुने हुए कोई पाँच हज़ार वीर राठौड़ घुड़-सवार जयपुर भेजे। लकवा तत्परता के साथ ससैन्य आगे बढ़ा और जयपुर से कोई ५५ मील दक्षिण-पश्चिम में मालपुरा के पास जयपुर की सेना का सामना किया। अप्रेल १६ को मालपुरा का घमासान निर्णायक युद्ध हुआ। पिछले युद्धों की ही तरह इस बार भी राठौड़ घुड़-सवारों ने अद्वितीय साहस के साथ निश्शंकतापूर्वक आक्रमण कर फ़रासीसी सेनानायक दुद्रेनेक की सेना का सर्वनाश कर दिया। मरहठे घुड़-सवार तो युद्ध-क्षेत्र से भाग निकले और उनका पीछा करते हुए ये राठौड़ घुड़-सवार भी मीलों दूर चले गये। अतएव इस हमले में विजयी होकर भी ये घुड़-सवार युद्ध के परिणाम को नहीं पलट सके। पोहलमन नामक पेरों का एक जर्मन सहायक इस समय सिन्धिया की सुशिक्षित सेना का संचालन कर रहा था। धीरज, दृढ़ता एवं कुशलतापूर्वक अपनी सेना का संचालन कर उसने अंत में जयपुर राज्य की सेना को पराजित किया। लकवा को पूर्ण विजय प्राप्त हुई। जयपुर राज्य से रुपये वसूल करने तथा भविष्य के लिए समुचित प्रबन्ध करने के लिए वह अब ससैन्य जयपुर की ओर बढ़ा। उधर पेरों भी दिल्ली होता हुआ जयपुर आ रहा था।

इसी समय एकाएक राजस्थान की सारी राजनैतिक परिस्थिति

ही बदल गई। सर्जेराव घाड़गे के चक्कर में आकर दौलतराव ने अपने प्रधान मन्त्री बालोबा तात्या को पुनः कैद कर दिया, और लकवा को भी कैद करने के लिए उत्तरी भारत के अधिकारियों के पास हुक्म भेजा गया (अप्रेल २५, १८०० ई०)। इसकी सूचना मिलते ही मई ५ को लकवा, जग्गू बापू तथा उनके अन्य साथी मरहठा पड़ाव से निकल कर अजमेर गए। वहाँ जोधपुर राज्य के वकीलों द्वारा लकवा ने भीमसिंह के साथ मैत्री और पारस्परिक सहायता की सन्धि की, तथा अपने सारे माल-असबाब एवं बाल-बच्चों को सुरक्षार्थ जोधपुर भेज कर वह स्वयं उदयपुर की ओर चल दिया।

राजस्थान में लकवा का यह विद्रोह फिर उठ खड़ा हुआ था; उधर सुदूर दक्षिण में भी महादजी की विधवा रानियों के साथ चल रहा गृह-युद्ध पुनः छिड़ गया, और अपने पक्ष को शक्तिशाली बनाने के लिए अप्रेल, १८०० ई० के अन्तिम सप्ताह में वे उत्तरी भारत की ओर चल पड़ीं।

दौलतराव ने लकवा के स्थान पर पुनः अम्बाजी को उत्तरी भारत का प्रमुख अधिकारी नियुक्त किया एवं उसे आदेश दिया कि पेरों के साथ मिल कर लकवा को ही नहीं दबावे, परन्तु उसे विधवा रानियों के साथ भी सम्मिलित नहीं होने दे। जयपुर का मामला तय कर पेरों जोधपुर की ओर बढ़ा, किन्तु दो सप्ताह के बाद पेरों को सहारनपुर की ओर जाना पड़ा एवं लकवा का साथ छोड़ देने के लिए वह भीमसिंह को बाध्य नहीं कर सका।

किन्तु इस बार भाग्य ने लकवा का साथ नहीं दिया। कुछ माह तक अजमेर के पास लूट-मार करने के बाद अजमेर शहर पर भी पेरों के सेनानायक ने अधिकार कर लिया, तब लकवा उदयपुर होता हुआ, राजस्थान छोड़ कर मालवा चला गया (अक्तूबर

२९, १८०० ई०)। ग्वालियर से पूर्व में सेहुँड़ा नामक स्थान पर पेरों से अन्तिम बार पराजित होकर कोई एक वर्ष बाद आहत लकवा मृत्योन्मुख परिस्थिति में एकाकी मेवाड़ को लौटा। उसका घाव नहीं भरा और सलूम्बर के मठ में ही फरवरी ७, १८०२ ई० को इस वीर की मृत्यु हुई ।

लकवा का स्थान पाकर भी अम्बाजी सन्तुष्ट नहीं हुआ । दौलतराव के अस्थिर-चित्त होने एवं उसकी छलपूर्ण नीति के कारण अम्बाजी को पूरी-पूरी आशंका बनी रहती थी । पुनः पेरों के साथ भी उसकी पट नहीं रही थी । लकवा का पीछा करने में उसने कोई भी तत्परता नहीं दिखाई । शाहपुरा और कोटा होता हुआ अम्बाजी, लकवा के मेवाड़ से चले जाने के बाद ही नवम्बर, १८०० ई० में मेवाड़ पहुँचा और जावद, आदि परगनों पर उसने अपना अधिकार स्थापित किया। उसी माह के अन्त तक वह भी मेवाड़ छोड़ कर मालवा की ओर चला गया । उधर उत्तरी राजस्थान में पेरों ने नवम्बर माह में जयपुर राज्य से दो लाख रुपये वसूल किये । पेरों के सहायक पोहलमन ने साँभर परगने का जोधपुर राज्य वाला भाग पहिले ही भीमसिंह से छीन कर अपने अधिकार में कर लिया था। बहुत चाह कर भी पेरों जोधपुर राज्य पर इस बार पुनः आक्रमण नहीं कर सका और अजमेर परगने में कुछ समय बिता कर उसे उत्तरी भारत को लौट जाना पड़ा। पेरों का सहायक बोरगुईं अब भी अजमेर के किले का घेरा डाले हुए था। सारे प्रयत्न करने पर भी उसे सफलता न मिली, तब तो किलेदार को घूस देकर मई ७, १८०१ ई० को उसने किले पर अधिकार कर लिया । इस सारे वर्ष भर पेरों एवं अम्बाजी दोनों को ही अवसर नहीं मिला कि वे राजस्थान की ओर कुछ भी ध्यान दे सकें ।

सेहुँड़ा के युद्ध में मई ३, १८०१ ई० को विजय प्राप्त करने के बाद पेरों टामस का सर्वनाश करने को प्रवृत्त हुआ और अम्बाजी विधवा रानियों के साथ दौलतराव का समझौता करवाने के लिए फरवरी, १८०२ ई० तक झाँसी परगने में ही ठहरा रहा। तब इन प्रमुख मरहठे सेनानायकों की इस अनुपस्थिति से लाभ उठा कर जून, १८०१ ई० के अन्त में जोधपुर और जयपुर राज्यों के राजा अपने अपने मुख्य सरदारों एवं कर्मचारियों के साथ पुष्कर पहुँचे, तथा वहाँ दोनों ही नरेशों का एक दूसरे की सगी या चचेरी बहिन के साथ बड़े ही ठाठ-बाट से विवाह हुआ (जुलाई ३ और ७, १८०१ ई०)।

विधवा रानियों के उत्तरी भारत की ओर आने और साथ ही लकवा के विद्रोह के कारण दौलतराव का उत्तर को लौटना अनिवार्य हो गया था, अतएव बड़ी ही अनिच्छापूर्वक दिसम्बर ५, १८०० ई० के दिन वह पूना से रवाना हुआ। यद्यपि ज्येष्ठ औरस पुत्र होने के नाते काशीराव को तुकोजी होलकर का उत्तराधिकारी समझा जाता था, परन्तु अपनी वीरता, साहस एवं सैनिक नेतृत्व के कारण अब यशवन्तराव ही होलकर घराने का प्रमुख व्यक्ति बन गया। दौलतराव के साथ यशवन्तराव के सम्बन्ध किसी भी प्रकार सुधरे नहीं थे। उसके सगे भाई विठोजी होलकर के वध के बाद तो यशवन्तराव का क्रोध अत्यधिक भड़क उठा; वह मालवा में सर्वत्र लूट-मार करने लगा और सिन्धिया के सेनानायकों के साथ कई घमासान युद्ध भी हुए। इन्दौर के युद्ध में पराजित होने के बाद यशवन्तराव की शक्ति बहुत-कुछ घट गई थी, एवं सन् १८०२ ई० का प्रारम्भ होते-होते वह मालवा छोड़ कर जावद होता हुआ मेवाड़ में पहुँचा और जनवरी के अंत में उसने नाथद्वारे के मन्दिर को जा घेरा। वहाँ के गोसाँई मन्दिर की मूर्तियों को लेकर पहिले ही से चल

दिये थे, एवं प्रयत्न करने पर भी यशवन्तराव को नाथद्वारा से यथेष्ट द्रव्य नहीं मिला। उसने काँकड़ोली से भी रुपया वसूल किया। तब टोंक, रामपुर (अलीगढ़) होता हुआ वह कोटा पहुँचा और अन्य ठिकानों के साथ ही उसने कोटा राज्य से भी रुपया वसूल किया। यशवन्तराव का पीछा करने के लिये सिन्धिया ने अम्बाजी के भाई बालाराव इंगले तथा सदाशिव को ससैन्य भेजा था। यशवन्तराव के दल से वे कई मील पीछे ही रहे और मेवाड़ तथा कोटा राज्यों में मनमानी कर उन्होंने भी पुनः वहाँ से स्वयं रुपया वसूल किया।

यशवन्तराव के इस आक्रमण के समय मौजीराम मेहता मेवाड़ का प्रधान मन्त्री था। मरहठों के इन आक्रमणों से मेवाड़ का बचाव करने के लिए उसने मेवाड़ की सेना में भी युरोपियन ढंग की शिक्षा पाए हुए सैनिकों को भरती करने तथा उसका खर्च सरदारों से वसूल करने का प्रस्ताव किया। मौजीराम के इस प्रस्ताव का पता लगते ही स्वार्थान्ध सरदारों ने उसे पदच्युत कर सतीदास गाँधी को पुनः प्रधान मन्त्री बनाया (मार्च, १८०२ ई०)। यशवन्तराव के राजस्थान छोड़ कर चले जाने पर कोटा से लौट कर बालाराव इसी समय मेवाड़ पहुँचा। उसकी सहायता से सबल होकर सतीदास ने चूण्डावतों को दबाया, तथा उनके पक्ष वाले मेवाड़ के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री मेहता देवीचन्द को कैद कर लिया। बालाराव मौजीराम को भी कैद करना चाहता था, जिससे महाराणा के साथ उसकी कशमकश चली। साहसी मौजीराम ने बालाराव तथा उसके अन्य साथी मरहठे सेनानायकों को कैद कर लिया तथा चूण्डावतों ने मरहठों की सेना पर आक्रमण कर उसे तितर-बितर कर भगा दिया। बालाराव के यों कैद होने की सूचना मिलते ही ज़ालिमसिंह झाला कोटे से सेना लेकर मेवाड़ पहुँचा; राह में शक्तावतों

को भी ससैन्य साथ लिया तथा उदयपुर की ओर बढ़ा। चूण्डावतों के दबाव में पड़ कर चेज़ा की घाटी में महाराणा ने ससैन्य ज़ालिमसिंह का सामना किया। चार-पाँच दिन लड़ाई होने के बाद सुलह हो गई, मरहठे सेनानायकों को महाराणा ने छोड़ दिया तथा इस झगड़े के फलस्वरूप होने वाले मरहठों और ज़ालिमसिंह के खर्चे का यह नया भार मेवाड़ पर बढ़ गया। सन् १८०० ई० के अन्त में मेवाड़ राज्य की ओर से द्रव्य के लिए सिन्धिया की माँग पूरी कर उस कर्ज़े के चुकारे के लिए ज़ालिमसिंह झाला ने तब जहाज़पुर का परगना कुछ वर्षों के लिए इजारे लिया था। अब वहाँ उसके अधिकार की अवधि बढ़ाना अवश्यम्भावी बात हो गई।

अप्रेल, १८०२ ई० के प्रारम्भ होते-होते यशवन्तराव नर्मदा पार कर खानदेश जा पहुँचा और कई मास तक वहाँ उपद्रव करता रहा। अब मरहठों के इतिहास में अतीव कठिन संकट-काल उपस्थित हुआ, जिससे दौलतराव सिन्धिया का भी सारा ध्यान दक्षिण की ही ओर लगा रहा, तथा पूरे वर्ष भर राजस्थान की शान्ति को किसी ने भी भंग नहीं किया। और अपनी करतूतों के द्वारा पेशवा के राज्य का सर्वनाश तथा मरहठों की स्वाधीनता पर भयंकर कुठाराघात कर सन् १८०३ ई० की वर्षा ऋतु में जब यशवन्तराव पुनः उत्तरी भारत को लौटा, पूना में पेशवा अंग्रेज़ों के हाथ की कठ-पुतली बन चुका था, और ताप्ती के दक्षिणी तीर पर पराजित-प्राय मरहठे शासक, सिन्धिया और भोंसले, अंग्रेज़ों के साथ निर्णायक युद्धों में बुरी तरह उलझे हुए थे।

राजस्थान में भी तब तक दो प्रमुख राज्यों में नए राजा गद्दी पर बैठ चुके थे। अगस्त १, १८०३ ई० को जयपुर के सवाई प्रतापसिंह की मृत्यु हुई और उसके साथ ही जयपुर राज्य में साहित्य, संगीत एवं

कला की रही-सही मुग़ल-कालीन परम्पराओं का अन्त हो गया। यह राजा राजस्थान के तत्कालीन जीवन का सच्चा प्रतीक था। उसके कविता-प्रेम और भावुकता ने उसे विलासिता में डुबो दिया, तथा अपनी शासकीय अयोग्यता के कारण ही स्वयं वीर होते हुए भी सदैव दूसरों के हाथ की कठ-पुतली रह कर उसे जीवन भर निरन्तर विफलताओं का सामना करना पड़ा। उसका पुत्र सवाई जगतसिंह अब जयपुर का शासक बना।

जोधपुर में भी बिजयसिंह के उत्तराधिकारी भीमसिंह का का अक्तूबर १९, १८०३ ई० को देहान्त हो गया। उसका प्रतिद्वन्द्वी मानसिंह भीमसिंह के सारे शासन-काल भर स्वतन्त्र राजा बना जालोर के किले में डटा रहा। उसके दमन के लिए भीमसिंह ने अनेक प्रयत्न किये, और भीमसिंह की मृत्यु से यदि परिस्थिति एकाएक बदल नहीं गई होती तो उसका यह अन्तिम प्रयत्न अवश्य सफल होता। परन्तु अब उसका वही विद्रोही चचेरा भाई मानसिंह भीमसिंह का उत्तराधिकारी बन कर जोधपुर की राजगद्दी पर बैठा।

अगस्त, १८०३ ई० के प्रारम्भ में ताप्ती के दक्षिणी तीर पर जब दौलतराव सिन्धिया तथा रघुजी भोंसला के साथ अंग्रेज़ों का युद्ध छिड़ गया, तब भारत में अंग्रेज़ों के प्रधान सेनापति लार्ड लेक ने उत्तरी भारत में सिन्धिया के आधीन सूबों पर आक्रमण कर अलीगढ़, दिल्ली और आगरा के परगनों पर अधिकार कर लिया, तथा नवम्बर १, १८०३ ई० को राजस्थान की उत्तर-पूर्वी सीमा पर लासवाड़ी के युद्ध-क्षेत्र में सिन्धिया की सेना को पूर्णतया पराजित किया। राजस्थान में सिन्धिया का प्रभाव और महत्त्व कम करने, तथा सिन्धिया एवं अंग्रेज़ों के राज्यों के बीच अंग्रेज़ों के आश्रित देशी राज्यों की एक रोक स्थापित करने के लिए अंग्रेज़ गवर्नर-जनरल लार्ड वेलेज़्ली ने इस

सीमान्त के राजपूत एवं जाट राजाओं के साथ संरक्षण की संधियाँ करने का निश्चय किया था । सिन्धिया के आधिपत्य से छुटकारा पाने के लिये जोधपुर और जयपुर के राजाओं ने पहिले भी कई बार अंग्रेज़ों के साथ सन्धि करने के लिये अत्यधिक आग्रह किया था । जयपुर राज्य तथा दिल्ली के प्रदेश में पड़ने वाले राव राजा प्रतापसिंह द्वारा स्थापित माचेड़ी (अलवर) के राज्य को भी छोड़ा नहीं जा सकता था । एवं लासवाड़ी की विजय के बाद लार्ड लेक ने इन तीनों राज्यों के साथ सन्धियाँ कर लीं (नवम्बर-दिसम्बर, १८०३ ई०), और यों राजस्थान पर होने वाले अंग्रेज़ों के भावी आधिपत्य की प्रारम्भिक छाया प्रथम बार राजस्थान पर पड़ी। परन्तु जोधपुर के प्रतिनिधि द्वारा की गई सन्धि को मानसिंह ने स्वीकार नहीं किया और उसने एक सर्वथा दूसरी ही सन्धि का प्रस्ताव किया । पुनः मानसिंह ने अंग्रेज़ों के विरोधी होलकर की सहायता भी की, जिससे जोधनुर राज्य के साथ की गई इस सन्धि को मई, १८०४ ई० में अंग्रेज़ों ने भी रद कर दिया ।

परन्तु मेवाड़ का राज्य तब अंग्रेज़ी राज्य की सीमा से बहुत दूर था, तथा सिन्धिया को ख़िराज़ देने वाले आधीन राज्यों में मेवाड़ राज्य की भी गणना की जाती थी, एवं मेवाड़ को अपने संरक्षण में लेने की अंग्रेज़ों ने भी तब नहीं सोची । अतएव सिन्धिया और भोंसले को दक्षिण में अंग्रेज़ों के साथ जूझता छोड़ जब यशवन्तराव उत्तरी भारत को लौटा तब दिसम्बर, १८०३ ई० में वह पुनः उदयपुर जा पहुँचा और महाराणा एवं सरदारों से लाखों रुपये वसूल किये। तब फरवरी, १८०४ ई० के अन्त तक वह अजमेर के पास जा धमका और दो माह तक उसी नगर के आस-पास मंडराता रहा, एवं कई बार जयपुर राज्य की सीमा में भी लूट-मार की ।

फरवरी, १८०४ ई० के अन्त तक दक्षिण में सिन्धिया और भोंसले ने आत्म-समर्पण कर अंग्रेज़ों के साथ सन्धियाँ कर ली थीं। अब होलकर को दबाने के लिए वेलेज़ली ने अप्रेल, १८०४ ई० में लार्ड लेक को आदेश दिया। यशवन्तराव को राजस्थान से खदेड़ बाहर करने को लार्ड लेक स्वयं ससैन्य जयपुर होता हुआ दक्षिण में रामपुर (अलीगढ़) की ओर बढ़ा। अंग्रेज़ी सेना की इस चढ़ाई का विवरण सुन कर यशवन्तराव ने अपने बाल-बच्चों को महाराजा मानसिंह की सुरक्षा में जोधपुर भेज दिया और वह स्वयं तेज़ी से कोटा की ओर लौट पड़ा। मई १६ को रामपुर (अलीगढ़) पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया; तब यशवन्तराव को पुनः उत्तर न लौटने देने के लिए वहाँ मानसन को ससैन्य छोड़ कर लार्ड लेक तो वापस कानपुर को लौट गया और मानसन बिना सोचे-समझे चम्बल नदी पार कर हिंगलाजगढ़ से भी आगे तक दक्षिण में बढ़ता ही चला गया। सुअवसर देख कर वापस उत्तर की ओर लौटते हुए मानसन एवं उसकी सेना की यशवन्तराव ने जो दुर्दशा की उसका सुज्ञात विवरण यहाँ दुहराना आवश्यक नहीं। बरसात में भीगता-भागता मानसन अपने बाकी बचे सैनिकों के साथ कोटा, बूंदी और रामपुर (अलीगढ़) होता हुआ हिण्डोन-बयाना की राह किसी तरह अगस्त ३१, १८०४ ई० को आगरा पहुँचा। उसका पीछा करता यशवन्तराव कोटा आया, वहाँ से तीन लाख रुपया वसूल किये, और तब उसने भी बूंदी होते हुए ससैन्य मथुरा की राह ली, तथा कुछ ही सप्ताह में वह राजस्थान छोड़ कर ब्रज-प्रदेश में चला गया। अगले छः माह तक वहाँ तथा उसके उत्तर-पूर्व के प्रदेश में लार्ड लेक के साथ उसकी निरन्तर कशमकश होती रही।

दौलतराव अब भी सिवनी-सागर की ओर था, तथा यशवन्तराव

के भी यों राजस्थान से चले जाने के कारण वहाँ कोई ७-८ माह तक बहुत-कुछ शान्ति बनी रही। किन्तु मई, १८०५ ई० के प्रारम्भ होते-होते पुनः परिस्थिति बदल गई। सबलगढ़ के महत्त्वपूर्ण किन्तु सवथा परिणाम-विहीन मरहठा सम्मेलन से दौलतराव एवं यशवन्तराव दोनों साथ-साथ ही ससैन्य राजस्थान को लौटे और हाड़ौती में होते हुए जून माह के अन्तिम सप्ताह के लगभग वे अजमेर परगने में जा पहुँचे। इस समय दोनों ही मरहठा राजाओं की दशा अच्छी न थी। अंग्रेज़ों के साथ हुए पिछले युद्धों में हुई उनकी पराजयों से उनके महत्त्व तथा गौरव को गहरी ठेस लगी थी। पेरों, आदि सारे प्रमुख युरोपीय सेनानायकों के चले जाने से सिंधिया की सैनिक शक्ति भी अत्यधिक घट गई थी। अंग्रेज़ों के साथ हुई सन्धि के फलस्वरूप यमुना के पूर्व तथा गोहद के उत्तर का सारा प्रदेश सिन्धिया के अधिकार से निकल चुका था। उधर यशवन्तराव के पास तो राज्य एवं सम्पत्ति दोनों ही नहीं रहे थे। अतएव अपनी आर्थिक आवश्यक्ताओं को पूरी करने के लिए राजस्थान के राज्यों में लूट-मार करने तथा वहाँ से रुपया वसूल करने के अतिरिक्त उसके लिए दूसरा कोई उपाय रह ही नहीं गया था।

उधर जयपुर राज्य के साथ की गई सन्धि से लाभ उठा कर अंग्रेज़ों ने जयपुर में अपना राजनैतिक प्रतिनिधि (रेज़ीडेण्ट) नियुक्त किया। रामपुर (अलीगढ़) पर तब भी अंग्रेज़ों का अधिकार था; अब उसके आस-पास के लाखेरी से लेकर टोंक तक के सारे प्रदेश पर भी अधिकार कर एक बड़ी अंग्रेज़ी सेना ने टोंक तथा रामपुर (अलीगढ़) में पड़ाव डाल दिया। सिन्धिया और होलकर को राजस्थान की ओर लौटते देख, उनके आधिपत्य से छुटकारा पाने के लिए उत्सुक महाराणा भीमसिंह ने भी मई मास में अंग्रेज़ों के साथ

सन्धि का प्रस्ताव लेकर अपना दूत लार्ड लेक के पास मथुरा भेजा। परन्तु तब मेवाड़ को सिन्धिया के आधीन राज्य मान कर उसके साथ सन्धि करने के इस प्रस्ताव को अंग्रेज़ों ने अस्वीकार कर दिया। सिन्धिया और होलकर के साथ सीधा समझौता करने के लिए भी महाराणा भीमसिंह ने अपने दूत उनके पास भेजे। जुलाई माह के प्रारम्भ में दौलतराव ने पुनः अम्बाजी इंगले को अपना प्रधान मन्त्री नियुक्त किया, और सम्भवतः उसके बाद ही यशवन्तराव होलकर ने दौलतराव का साथ छोड़ कुछ दूरी पर अपना अलग पड़ाव डाला। अब अम्बाजी ने प्रस्ताव किया कि होलकर और सिन्धिया मेवाड़ राज्य को आपस में बाँट लें। किस प्रकार मेवाड़ के प्रतिनिधियों ने कूटनीति द्वारा होलकर को अपने पक्ष में कर इस संकटपूर्ण समय प्रस्तावित बँटवारे को रोका और मेवाड़ के अस्तित्व को बनाए रखा, इसका टाड ने बड़ा ही भावपूर्ण सुन्दर वर्णन लिखा है। अंग्रेज़ों के साथ मैत्री के लिए मेवाड़ द्वारा किये गए प्रयत्नों का पूरा-पूरा पता लग जाने पर भी यशवन्तराव का यह विशेष आग्रह बना रहा कि सिन्धिया मेवाड़ में अत्याचार न करे। अतएव मेवाड़ के विरुद्ध सेना भेजने की पूरी तैयारियाँ हो जाने पर भी जब तक यशवन्तराव अजमेर के आस-पास रहा इस सेना का प्रस्थान रुका ही रहा। किन्तु अगस्त मास में यशवन्तराव ने अपने बाल-बच्चों को पुनः जोधपुर भेजा, तथा सितम्बर, १८०५ ई० के प्रारम्भ में अजमेर से रवाना होकर वह साँभर की ओर बढ़ा और शेखावाटी तथा अलवर राज्य के नीमराणा परगने में होता हुआ अक्तूबर माह में राजस्थान से पंजाब की ओर चला गया।

भारत के देशी राज्यों के प्रति अंग्रेज़ों की नीति के प्रश्न पर इंगलैण्ड के अधिकारियों के साथ उसका मत-भेद हो जाने के कारण

त्याग-पत्र देकर जुलाई ३०, १८०५ ई० को लार्ड वेलेज़्ली गवर्नर-जनरल के पद से अलग हो गया। अब सिन्धिया और होलकर के साथ विशेष रूपेण मित्रतापूर्वक बर्ताव करने का अंग्रेज़ों ने निश्चय किया, जिसके फलस्वरूप राजस्थान के राजपूत राज्यों के प्रति भी अंग्रेज़ों की नीति पूर्णतया बदल गई। नवम्बर २२, १८०५ ई० को दौलतराव के साथ अंग्रेज़ों की एक नई सन्धि हुई, जिसके अनुसार जोधपुर, उदयपुर, कोटा, आदि मालवा, मेवाड़ एवं मारवाड़ में स्थित सिन्धिया को कर देने वाले राज्यों के साथ किसी भी प्रकार की सन्धि नहीं करने का अंग्रेज़ों ने वादा किया। उधर लार्ड लेक द्वारा पंजाब में भी पीछा किया जाने पर विवश होकर जब यशवन्तराव होलकर को अंग्रेज़ों के साथ सन्धि करनी पड़ी (दिसम्बर २४, १८०५ ई०), तब अंग्रेज़ों ने उसके साथ भी ऐसा ही वादा किया तथा टोंक, रामपुर (अलीगढ़) और लाखेरी के आस-पास का जो प्रदेश उनके अधिकार में था, वह भी सारा वापस होलकर को लौटा दिया। लार्ड लेक के अत्यधिक आग्रह करने पर भी न तो बूंदी राज्य को अंग्रेज़ों ने अपने संरक्षण में लिया, और न जयपुर राज्य के साथ की गई पारस्परिक सहायता की सन्धि को ही निबाहा। परन्तु बहुत चाह कर भी पूरे सोच-विचार के बाद माचेड़ी (अलवर) राज्य के साथ की गई सन्धि का अन्त नहीं करने का ही निश्चय किया गया। राजस्थान के बाकी रहे सारे राजपूत राज्यों के भविष्य को यों सिन्धिया और होलकर के ही भरोसे छोड़ देने का परिणाम यह हुआ कि राजस्थान में भयंकर अराजकता फैल गई और कुछ ही वर्षों में सारा राजस्थान उजाड़-सा होकर पूर्णतया बरबाद हो गया।

और राजस्थान के इस विनाश को अधिक सर्व-व्यापी एवं परिपूर्ण बनाने के लिए वहाँ के विभिन्न राज्यों में भी अनेकानेक

नये कारण समय-समय पर उठते जाते थे। सबसे पहिला ऐसा जो प्रश्न उठा, वह था जोधपुर राज्य के उत्तराधिकार का। पोकरण के ठाकुर सवाईसिंह ने प्रारम्भ में ही मानसिंह को जोधपुर की राज-गद्दी पर बैठाने का विरोध किया था। अतएव स्वर्गीय भीमसिंह के मरणोपरान्त उसके पुत्र उत्पन्न होने का जब संवाद फैला, तब सवाई-सिंह ने भी उस बालक का पक्ष लिया और तथा-कथित पुत्र धौंकलसिंह को शेखावाटी के खेतड़ी नामक ठिकाने में ले जाने में सहायता दी। इधर मानसिंह का स्वभाव रूखा तथा उग्र था; वह धूर्त तथा अत्याचारी था एवं अपने विरोधियों से बदला लेने की प्रवृत्ति उसमें बहुत ही प्रबल थी, जिससे उसके विरोधी सरदारों एवं कर्मचारियों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही जाती थी। अब वे सब मिल कर धौंकलसिंह के पक्ष को सबल बनाने और राजनैतिक परिस्थितियों से लाभ उठा कर धौंकलसिंह को जोधपुर की राज-गद्दी पर बैठाने के लिए लगातार प्रयत्न करते ही रहे, जिससे युगों बाद भी जोधपुर राज्य की यह उलझन नहीं सुलझ पाई थी।

इसके साथ ही दूसरी जो समस्या राजस्थान में उठी, वह थी उदयपुर के महाराणा भीमसिंह की पुत्री कृष्णाकुमारी के विवाह की, जिसके कारण आगामी पाँच वर्ष तक समूचे राजस्थान में निरन्तर पारस्परिक विरोध उठता ही रहा तथा वहाँ घोर अशान्ति बनी रही। जोधपुर के तत्कालीन शासक भीमसिंह के साथ कृष्णाकुमारी की सगाई होने की बात-चीत सन् १७९८ ई० में हुई थी। भीमसिंह की मृत्यु के बाद जयपुर के नए शासक सवाई जगतसिंह के साथ कृष्णा-कुमारी की सगाई करने का निश्चय सन् १८०५ ई० की ग्रीष्म ऋतु के लगभग किया गया। जोधपुर के नए शासक मानसिंह ने महाराणा भीमसिंह के इस निश्चय को अपने राजघराने के लिए सर्वथा अपमान-

कारक समझा, जिससे कृष्णाकुमारी के विवाह के इस प्रश्न को लेकर अब जयपुर, जोधपुर और उदयपुर राज्यों में उत्कट विरोध उत्पन्न हो गया, एवं भयंकर आपसी कशमकश प्रारम्भ हुई, जिसमें सवाई-सिंह, आदि धौंकलसिंह के पक्ष वालों ने जयपुर राज्य का साथ दिया। यों मानसिंह का पक्ष अत्यधिक निर्बल हो गया ।

कृष्णाकुमारी के साथ उसकी सगाई होने का निश्चय होते ही जगतसिंह उदयपुर राज्य पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने को उत्सुक हो उठा, और सन् १८०५ ई० की वर्षा ऋतु में उसने अपनी सेना का एक बड़ा दल उदयपुर भेज दिया। सितम्बर, १८०५ ई० में होलकर के पंजाब की ओर चले जाने पर भी दौलतराव तो मेवाड़ में ही ठहरा रहा था। उसने राजपूत राज्यों की आपसी कशमकश से पूरा लाभ उठाया। जोधपुर-जयपुर के इस झगड़े के बीच-बिचाव करने के वादे पर जोधपुर राज्य से अपना बाकी रहा पिछला ख़िराज वसूल कर लिया, जयपुर राज्य से भी रुपया प्राप्त किया, तथा अन्त में उदयपुर से जयपुर की सेना को निकाल बाहर करने के मिस से उसने अप्रेल, १८०६ ई० के तीसरे सप्ताह में ससैन्य उदयपुर पर चढ़ाई कर दी। अप्रेल २५ को देबारी घाटी के युद्ध में मेवाड़ की पराजय होने पर महाराणा ने आत्म-समर्पण कर दिया। मई ७ को एकलिंगजी के मन्दिर में महाराणा के साथ दौलतराव की भेंट हुई। इन्हीं दिनों एक बार तो दौलतराव स्वयं कृष्णाकुमारी के साथ विवाह करने को लालायित हो गया था और तदर्थ यत्किंचित् विफल प्रयत्न भी उसने किया। अन्त में जयपुर की सेना को महाराणा ने बिदा कर दिया। मेवाड़ राज्य तथा वहाँ के सरदारों से रुपया वसूल करने के लिए जग्गू बापू को ससैन्य वहाँ छोड़ कर दौलतराव स्वयं जून, १८०६ ई० के प्रारम्भ में उदयपुर के पास से चल पड़ा और

चित्तोड़, हमीरगढ़ तथा बेगूँ की ओर चक्कर लगाता जुलाई के अन्त में राजस्थान छोड़ कर मालवा जा पहुँचा। पूरे ढाई वर्ष बाद सन् १८०९ ई० के प्रारम्भ में ही वह पुनः राजस्थान को लौटा। दौलतराव की इच्छा न होते हुए भी उसकी अनुपस्थिति में अजमेर की सूबेदारी इस बार बालाराव इंगले को ही देना पड़ी।

कृष्णाकुमारी के सगाई के प्रश्न को लेकर फरवरी, १८०६ ई० में जयपुर और जोधपुर दोनों ही ओर से युद्ध की तैयारी होने लगी। किन्तु इन्हीं दिनों मानसिंह के मित्र यशवन्तराव होलकर के पंजाव से राजस्थान को लौटने की सूचना प्राप्त होने पर जयपुर का विरोध भी कुछ घटा, तथा बीच-बिचाव होने पर मार्च मास के अन्त में दोनों राजाओं में मेल हो गया और यह भी तय हुआ कि उनमें से कोई भी कृष्णाकुमारी के साथ विवाह नहीं करेगा। यों इस बार तो आपसी युद्ध की संभावना टल गई।

पंजाब से लौटता हुआ यशवन्तराव होलकर अप्रेल के अन्त में जयपुर नगर के पास तक जा पहुँचा और ख़िराज की मांग की। जयपुर राज्य में लूट-मार करने के बाद अन्त में वह पुष्कर आया और चार माह तक वहीं ठहरा रहा। जोधपुर का मानसिंह भी इन्हीं दिनों पुष्कर से पास ही गाँव नांद नामक स्थान में पड़ाव डाले हुए था; यदा-कदा दोनों मिलते रहते थे, परन्तु फिर भी मानसिंह सिंधिया की इच्छानुसार उदयपुर के कर में हिस्सा न बँटाने के लिए होलकर को राज़ी नहीं कर सका। जयपुर राज्य से निश्चित रुपया वसूल करने के बाद अक्तूबर माह में यशवन्तराव पुष्कर से चला पड़ा, और साथ ही मानसिंह भी मेड़ता को लौट गया।

छः माह पहिले किये अपने वादे को भुला कर इसी माह में सवाई जगतसिंह ने कृष्णाकुमारी के साथ अपने विवाह की बात-चीत

पुनः प्रारम्भ कर दी । अपने पक्ष को सबल बनाने के लिए उसने यशवन्तराव के साहसी साथी एवं वीर सेनानायक अमीर ख़ाँ को भी अपने पक्ष में कर लिया । मानसिंह के विरुद्ध धौंकलसिंह के पक्ष को सहायता देने के लिए बीकानेर का शासक सूरतसिंह भी ससैन्य आकर सवाई जगतसिंह की ओर मिल गया । पुष्कर से रवाना हो कर भी यशवन्तराव कई माह तक अजमेर, शाहपुरा और किशनगढ़ के प्रदेश में ही चक्कर काटता रहा । मानसिंह ने उससे सहायता चाही, परन्तु जयपुर राज्य से कई लाख रुपया लेकर इस भावी युद्ध में निष्पक्ष रहने का यशवन्तराव निश्चय कर चुका था, एवं उसने मानसिंह को कोई सहायता न दी और स्वयं भी मार्च, १८०७ ई० के प्रारम्भ में कोटा की ओर चल पड़ा । मार्च १४ को परबतसर की घाटी के सामने गींगोली नामक गाँव के पास दोनों सेनाओं की मुठभेड़ हुई, किन्तु युद्ध प्रारम्भ होते ही मानसिंह के पक्ष के बहुत से सरदार विश्वासघात कर शत्रु से मिल गए, जिससे मानसिंह को अपने विश्वस्त सैनिकों के साथ युद्ध-क्षेत्र छोड़ना पड़ा । वह मेड़ता होता हुआ जोधपुर पहुँचा। उसका पीछा करते हुए सवाईसिंह, सवाई जगतसिंह और सूरतसिंह आदि ने वहाँ पहुँच कर जोधपुर का घेरा डाला (मार्च ३०)। पूरे साढ़े पाँच माह तक चल कर भी अन्त में यह घेरा पूर्णतया विफल ही रहा । जोधपुर के कई विरोधी सरदार तब तक फिर मानसिंह के पक्षपाती हो गए थे; वे इन आक्रमणकारियों का भरसक विरोध करने लगे । सवाई जगतसिंह के पक्ष की मदद कर उससे समुचित द्रव्य वसूल करने के लिए सिन्धिया ने अम्बाजी इंगले को ससैन्य राजस्थान भेजा था । जून ७ को वह जोधपुर पहुँचा । धौंकलसिंह और मानसिंह में जोधपुर राज्य बाँट कर इस झगड़े को निपटाने का उसने प्रस्ताव भी किया, किन्तु बँटवारे के ब्यौरे के बारे में दोनों दलों

का मतैक्य न होने के कारण यह प्रयत्न विफल हुआ। और तब अम्बाजी और उसके अन्य साथी सिन्धिया के सेनानायकों में आपसी अनबन हो गई जिससे वे कोई भी सवाई जगतसिंह की सहायता न कर सके। अम्बाजी के कारण ही अमीर ख़ाँ ने सवाई जगतसिंह का साथ छोड़ कर मानसिंह का पक्ष ले लिया। आवश्यक द्रव्य के अभाव के कारण भी घेरा चलाने में अनेकों कठिनाइयाँ आ रही थीं। अमीर ख़ाँ ने जयपुर राज्य में लूट-मार प्रारम्भ कर दी। मानसिंह साहसपूर्वक जोधपुर के किले में अडिग डटा ही रहा, एवं अन्त में वहाँ का घेरा लगाने वाले सारे राजा तथा ठाकुर सितम्बर १४, १८०७ ई० की रात तक आप ही वापस अपने-अपने घरों को लौट गए और यों दूसरे दिन इस घेरे का अनायास अन्त हो गया। धौंकल-सिंह को लेकर सवाईसिंह तथा उसके अन्य साथी नागोर पहुँचे, जो तब भी उनके ही अधिकार में था।

सिन्धिया के विभिन्न सेनानायकों के निरन्तर आपसी झगड़ों के कारण राजस्थान में उसका प्रभाव दिनोंदिन घटता जा रहा था। बापूजी सिन्धिया अब भी धौंकलसिंह का पक्ष लेकर नागोर में था। मानसिंह के विरोधियों का उन्मूलन करने का निश्चय कर अमीर ख़ाँ ने पहिले तो बापूजी को धौंकलसिंह का साथ छोड़ देने को राज़ी किया (फरवरी, १८०८ ई०), और तब अमीर ख़ाँ ने विश्वासघात कर मार्च २५, १८०८ ई० के दिन सवाईसिंह तथा उसके अन्य साथी सरदारों को मूँडवा में मरवा डाला। धौंकलसिंह को लेकर उसके बाकी बचे समर्थक बीकानेर राज्य में जा पहुँचे, एवं नागोर पर अमीर ख़ाँ ने अधिकार कर लिया (मार्च ३१)। इस प्रकार मारवाड़ राज्य के इस सारे भाग पर मानसिंह का आधिपत्य हो गया।

इस समय राजस्थान के राज्यों में से सिन्धिया की शक्ति का

प्रभाव बहुत-कुछ उठ गया था, जिससे अपनी सहायतार्थ सिन्धिया की सेना को लाते समय (फरवरी, १८०७ ई० में) किए गए वादे के अनुसार ही अब माँग करने पर भी सवाई जगतसिंह और उसके मन्त्री उसमें से एक कोड़ी भी देने को तैयार न थे। यही रुपया वसूल करने के लिए बापूजी सिन्धिया ने जयपुर राज्य पर चढ़ाई कर वहाँ की सेना को जून, १८०८ ई० के अन्त में पूर्णतया पराजित किया तथा उसके बाद भी लूणेरा, बीजवाड़ा, नवाई, आदि कई किले उसने जीते, परन्तु राजस्थान में तब नियुक्त दौलतराव के सेना-नायकों की पारस्परिक फूट तथा उन्हीं के सैनिकों के निरन्तर विद्रोहों के कारण इन सारी विजयों से भी विशेष लाभ नहीं हुआ। नवम्बर माह के अन्त में सवाई जगतसिंह ने सन्धि के लिए दौलतराव के पास अपने दूत भेजने का निश्चय किया, तब कहीं बापूजी सिन्धिया, आदि के इस आक्रमण का अन्त हुआ और समझौते की बात-चीत धीरे धीरे चलने लगी।

मारवाड़ से निकल कर भी धौंकलसिंह के पक्ष वाले मानसिंह को पदच्युत करने के लिए निरन्तर प्रयत्न कर रहे थे। सवाईसिंह के पुत्र सेना के साथ जुलाई, १८०८ ई० में बीकानेर राज्य से चल कर फलौदी पहुँचे तथा वहाँ जोधपुर राज्य के एक सैनिक-दल को पराजित भी किया। बीकानेर राज्य द्वारा होने वाले उसके इस निरन्तर विरोध का अन्त करने के लिए बरसात समाप्त होते ही बीकानेर राज्य पर चढ़ाई करने के लिए मानसिंह ने एक बड़ी सेना वहाँ भेज दी। सूरतसिंह ने अपने राज्य की सीमा पर उसका सामना किया, परन्तु युद्ध में हार कर उसे पीछे हटना पड़ा। मारवाड़ की सेना ने आगे बढ़ कर बीकानेर के किले को जा घेरा। लगभग दो माह तक यह घेरा लस्टम-पस्टम

चलता रहा, तब अन्त में सूरतसिंह ने सन्धि कर ली, फलौदी का परगना वापस मारवाड़ को लौटा दिया तथा अन्य शर्तों के साथ ही भविष्य में मानसिंह का ही साथ देने का उसने वादा किया। तब तो विवश होकर धौंकलसिंह को शेखावाटी चला जाना पड़ा। इसके कोई तीन माह बाद सवाईसिंह के दोनों पुत्रों ने भी क्षमा-प्रार्थना कर मानसिंह की आधीनता स्वीकार कर ली और वे पुनः पोकरण को लौट गए। धौंकलसिंह का साथ देने को कोई भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं रह गया था, एवं उसका पक्ष बहुत ही निर्बल हो गया, तथापि अवसर मिलने पर मानसिंह से बदला लेने के लिए उसके विरोधी समय समय पर धौंकलसिंह के राज्याधिकार के प्रश्न को पुनः खड़ा करने से चूकते न थे। किन्तु आगे चल कर कभी भी पुनः ऐसा अवसर नहीं आया जब मानसिंह को पदच्युत कर धौंकलसिंह को जोधपुर की राज-गद्दी पर बैठाया जा सकता।

सन् १८०७ ई० में राजस्थान से वापस लौट कर यशवन्तराव होलकर मालवा में भानपुर पहुँचा, और वहीं अगले वर्ष अक्तूबर माह के लगभग वह पागल हो गया। उसकी हालत निरन्तर बिगड़ती ही गई एवं तीन वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई (अक्तूबर २७, १८११ ई०)। यशवन्तराव का पंच-वर्षीय अनौरस पुत्र मल्हारराव उसका उत्तराधिकारी बना। ऐसी कठिन परिस्थिति में होलकर राजघराने की प्रतिष्ठा को बनाए रखना और राज्य का कारोबार ठीक तरह चलाए जाना भी दुस्साध्य हो गया। यशवन्तराव के पागल हो जाने के बाद एवं मल्हारराव की अल्प-वयस्कता में भी होलकर राजघराने से सम्बद्ध सेनानायक दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में घूमघाम कर कभी कभी कुछ रुपया वसूल कर लेते थे, परन्तु उनमें से कोई भी ऐसा शक्तिशाली नहीं था कि वह स्वतन्त्र रूपेण राजस्थान

में होलकर राजघराने की सत्ता को पूर्णतया अक्षुण्ण बनाए रख सकता। यशवन्तराव का अनन्य साथी तथा प्रधान सेनापति अमीर ख़ाँ प्रारम्भ से ही सदैव अर्ध-स्वतंत्र रहा था। अब तो वह पूर्णतया स्वाधीन हो गया। होलकर राजघराने एवं राज्य का शासन-प्रबन्ध बहुत-कुछ उसकी ही देख-रेख में उसके कहे अनुसार चलता था, और वहाँ अपने इस प्रभाव को ज्यों का त्यों बनाए रखने को वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता था। समय समय पर वह होलकर राजघराने की सहायता भी करता था, और राजस्थान के सुदूर राज्यों से अपनी माँग के साथ ही वह होलकर घराने को दिया जाने वाला ख़िराज भी उनसे बराबर वसूल करता रहता था। अमीर ख़ाँ पर अब कोई भी दबाव या रोक नहीं रह गई थी, एवं अधिकाधिक महत्त्वाकांक्षी और धनलोलुप होने के साथ ही वह बहुत ही नृशंस तथा अत्याचारी भी हो गया था। नागपुर की ओर से वापस लौट कर मार्च, १८१० ई० में अमीर ख़ाँ पुनः राजस्थान पहुँचा तथा पूरे सात वर्ष तक वह समूचे राजस्थान को रौंदता रहा। मरहठों के हाथों रही-सही राजस्थान की बरबादी को अमीर ख़ाँ के सैनिकों तथा उसके अन्य साथी पिण्डारियों के दलों ने पूरा किया, जिससे सारे ही राजस्थानी राज्य अपने स्थायित्व, शान्ति तथा समृद्धि के लिए लालायित हो उठे, और अंग्रेज़ों का संरक्षण प्राप्त करने के लिए वे निरन्तर प्रार्थना करने लगे। अतएव जब अंग्रेज़ों ने अपनी नीति बदली, तब राजस्थान पर भी अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में उन्हें न कोई देरी ही लगी और न उन्हें किसी कठिनाई का सामना ही करना पड़ा।

और ऐसे समय जब राजस्थान के अन्य सारे राज्यों में सर्वत्र सर्वनाश का हाहाकार हो रहा था, जब आन्तरिक युद्धों एवं बाहरी आक्रमणों के फलस्वरूप उनमें सर्वत्र घोर अशान्ति छाई हुई थी, और

जब आमदनी तथा समृद्धि के साथ ही साथ उन राज्यों की सीमाएँ भी निरन्तर घटती ही जा रही थीं, तब राजस्थान की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर एक ऐसा भी राज्य था, जहाँ सैकड़ों कोसों तक हरे-भरे खेत लहलहाते थे, जहाँ आन्तरिक कलह बहुत-कुछ मिट चुका था, तथा बाहरी आक्रमणकारी एवं पिण्डारी भी जिस ओर जाते और जहाँ उपद्रव मचाते झिझकते थे, और जहाँ की आमदनी तथा समृद्धि के साथ ही साथ जिस राज्य की सीमाएँ भी यदा-कदा बढ़ती ही जाती थीं। यह राज्य था वीर योद्धा हाड़ों का कोटा राज्य एवं उस अराजकतापूर्ण काल में इन अनपेक्षित विशेषताओं के लिए सारा श्रेय था वहाँ के सर्वे-सर्वा प्रधान मन्त्री झाला ज़ालिमसिंह को। छत्रधारी शासक न होते हुए भी उसने अर्ध शताब्दी से भी अधिक समय तक कोटा राज्य पर एकाधिपत्य-पूर्ण शासन किया। अपने समय का यह विलक्षण पुरुष समूचे राजस्थान में सर्वथा एकाकी था। वह एक वीर योद्धा, सुयोग्य शासक, चतुर कूटनीतिज्ञ तथा अपने राज्य का परम हितैषी था। होलकर और सिन्धिया, मरहठे और अंग्रेज़, राजपूत एवं पिण्डारी, सारे ही परस्पर-विरोधी दलों के साथ उसका समान मित्रतापूर्ण व्यवहार था। सब ही उसकी बुद्धिमत्ता, राजनैतिक कौशल तथा अनुभवपूर्ण धूर्तता का लोहा मानते थे, और उसके सहयोग एवं मैत्री के इच्छुक रहते थे। राजकीय मामलों में उसकी सलाह लेने या अपने आपसी झगड़ों में उसको मध्यस्थ बनाने के लिए दूर दूर के राज्यों तक में उसे आदरपूर्वक आमन्त्रित किया जाता था।

मेवाड़ राज्य के मामलों में उसकी विशेष दिलचस्पी थी; वहाँ अपना प्रभाव बढ़ाने एवं अपनी उस पश्चिमी सीमा पर लगे हुए मेवाड़ के परगनों को अपने अधिकार में करने के लिए भी वह बहुत

ही उत्सुक रहता था। जहाजपुर का किला और परगना पहिले ही उसके अधिकार में आ चुके थे। सुअवसर देख-देख कर उसके आस-पास के अन्य परगनों को भी धीरे धीरे उसने अपने अधिकार में कर लिया। राजस्थान पर अंग्रेजों का आधिपत्य होने के बाद कर्नल टाड ने ज़ालिमसिंह को बाध्य किया कि ये सारे परगने वह मेवाड़ राज्य को वापस लौटा दे (सन् १८१९ ई०)। उन दारिद्र्य-पूर्ण दुर्दिनों में अपना तथा अपने राजघराने का निजी दैनिक व्यय चलाने के लिए भी महाराणा भीमसिंह को पूरे पन्द्रह वर्ष से अधिक समय तक एकमात्र ज़ालिमसिंह की ही आर्थिक सहायता पर निर्भर रहना पड़ा था, जिससे ज़ालिमसिंह के अनुचित आग्रह को भी अस्वीकार करना महाराणा के लिए सर्वथा असम्भव था। अतएव महाराणा के इस बढ़ते हुए ऋण-भार से लाभ उठा कर ज़ालिमसिंह ने मांडलगढ़ के किले को भी अपने आधीन करने का सन् १८११ ई० में प्रयत्न किया था, जो वहाँ के किलेदार के दृढ़तापूर्ण विरोध से ही विफल हो सका।

दौलतराव की कठिनाइयाँ निरन्तर बढ़ती ही जा रही थीं। राजस्थान के राजा उसके अधिकारियों की उपेक्षा करते थे और उन राज्यों पर चढ़े हुए उसके ख़िराज का कुछ भी रुपया वसूल नहीं हो रहा था। अतएव दौलतराव का राजस्थान की ओर आना अनिवार्य हो गया। जनवरी, १८०९ ई० के अन्त में वह हाड़ौती पहुँचा तथा वहाँ से पश्चिम की ओर चला। जयपुर राज्य के लेन-देन का मामला अभी तक तय नहीं हुआ था, एवं सिन्धिया के सेनानायक जयपुर राज्य में लूट-मार करने लगे, तथा सिन्धिया की राह में पड़ने वाले दूनी के किले को भी घेर लिया गया। परन्तु दो माह के घेरे के बाद भी यह किला नहीं लिया जा सका। अन्त में जयपुर राज्य

की ओर से प्रस्ताव हुआ कि सारा मामला तय कर लिया जावे, तब तो दौलतराव ने सहर्ष समझौता कर लिया और जयपुर राज्य से १५ लाख रुपया पाने का वादा लेकर मई १४, १८०९ ई० को वह वहाँ से मेवाड़ की ओर चल पड़ा।

सन् १८०६ ई० की बरसात में मेवाड़ से दौलतराव के चले जाने के बाद उस राज्य की ओर किसी ने भी विशेष ध्यान नहीं दिया था। कृष्णाकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर चलने वाले ये युद्ध तथा सारे झगड़े मेवाड़ से बाहर ही होते रहे थे, तथापि मेवाड़ की हालत दिनोंदिन बिगड़ती जा रही थी। महाराणा की निजी सेना सर्वथा नगण्य और उसकी व्यक्तिगत तथा शासकीय सत्ता केवल नाम-मात्र की ही थी। मेवाड़ के बड़े-बड़े सरदार स्वाधीन बन बैठे थे, और राज्य भर में शासन-व्यवस्था नाम-मात्र को भी नहीं रह गई थी। विरोधी मरहठे सरदार, विद्रोही सेनानायक तथा पिण्डारियों के दल, सब ही के लिए, मेवाड़ सर्व-श्रेष्ठ आश्रय एवं समुचित निर्वाह का सुगम स्थान बन गया था। सर्जेराव घाड़गे, अम्बाजी इंगले, आदि ने अपने कठिनाईपूर्ण दिन मेवाड़ में ही लूट-पाट कर या वहाँ यत्र-तत्र रुपया वसूल कर के बिताये थे। मरहठे सेनानायकों का वहाँ सर्वत्र दौर-दौरा था। जलाए हुए गाँव, विनष्ट खेती-बाड़ियाँ, त्रस्त अत्याचार-पीड़ित ग्राम-निवासी, आदि बरबादी के चिह्न महीनों तक उन सेनानायकों के उस ओर से निकलने के सुस्पष्ट प्रमाण देते थे।

पूरे तीन वर्ष बाद पुनः वहाँ पहुँच कर दौलतराव ने सन् १८०९ ई० के पिछले छः माह मेवाड़ के उत्तर-पूर्वी प्रदेश एवं शाहपुरा के आस-पास ही बिताए, तथापि वह वहाँ अपने आधिपत्य को सुदृढ़ नहीं बना सका। जनवरी, १८१० ई० के अन्तिम दिनों में वह अजमेर पहुँचा और दस दिन तक वहाँ ठहर कर वापस बूंदी की

ओर लौट पड़ा। राह में कुछ सप्ताह तक उनियारा में ठहर कर उसने पिछली सन्धि के अनुसार किये गये वादे का रुपया जयपुर राज्य से वसूल करने का समुचित प्रबन्ध किया और मई माह समाप्त होते-होते वह चम्बल पार कर मालवा में श्योपुर के पास जा पहुँचा।

कृष्णाकुमारी के विवाह के प्रश्न को लेकर जोधपुर के मानसिंह और जयपुर के जगतसिंह में चलने वाला विरोध अब तक शान्त हो चुका था, एवं सन् १८१० ई० के प्रारम्भिक महीनों में उनके बीच एक सन्धि भी हो गई थी। तथापि दोनों ही नरेश कृष्णाकुमारी के साथ विवाह के लिए बहुत ही उत्सुक थे। सवाई जगतसिंह का आग्रह तो अत्यधिक था और महाराणा भी तदर्थ पूर्णतया तत्पर था; किन्तु इसकी संभावना भी मानसिंह के मित्र एवं समर्थक अमीर ख़ाँ को अतीव अरुचिकर थी। अतएव जुलाई, १८१० ई० में उदयपुर पहुँच कर जब अमीर ख़ाँ ने महाराणा भीमसिंह को सलाह दी कि इस निरन्तर होने वाले आपसी झगड़े का अन्त कर देने के लिए तत्काल कृष्णाकुमारी का वध कर दिया जाना चाहिये, तब उसकी इस सलाह की उपेक्षा करना महाराणा के लिए संभव नहीं था। और तब जो कुछ भी उदयपुर के उन राजमहलों में हुआ उसका टाड और मालकम ने बहुत ही करुणापूर्ण वर्णन लिखा है। उस निरपराध राजपूत कन्या की इस शोचनीय मृत्यु का वह अभिशाप तब से मेवाड़ के राजघराने को सताता रहा है। भीमसिंह का वंश समूल नष्ट हुआ और उसके सारे उत्तराधिकारियों की तत्सम्बन्धी व्यथा एवं कथा सुज्ञात है।

दौलतराव के राज्य तथा अन्य आधीन प्रदेशों का सारा शासन-संगठन पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो चुका था। सर्वत्र अराजकता एवं अव्यवस्था का दौर-दौरा था। उसकी आय निरन्तर घटती जा रही थी।

राजस्थानी राज्य उसकी उपेक्षा करने लगे थे। सैनिकों का वेतन चुकाना तक एक कठिन समस्या बनती जा रही थी। अतएव उनमें उच्छृंखलता तथा अनुशासन-विहीनता अत्यधिक बढ़ गई थी, और विद्रोह कर देना उनके लिए नित्य-प्रति की बात हो गई थी। सुयोग्य कर्मठ विश्वसनीय अधिकारियों तथा साहसी वीर सेनानायकों के अभाव के कारण ही, सब कुछ जानते हुए भी, आर्थिक कठिनाइयों एंव सैनिक अशक्तता के विषम चक्कर में से यत्किंचित् भी उबरना दौलतराव के लिए सर्वथा असंभव हो गया था। ऐसी परिस्थिति में पिण्डारियों को अपने राज्य में नहीं घुसने देना या अमीर ख़ाँ तथा अन्य पिण्डारी सेनानायकों को राजस्थानी राज्यों से निकाल बाहर करना दौलतराव के बूते की बात नहीं रह गई थी। अमीर ख़ाँ के उपद्रवों तथा लूट-मार की शिकायत करके दौलतराव ने स्वयं कई बार उसके विरुद्ध अंग्रेज़ों से सहायता प्राप्त करने का असफल प्रयत्न किया था। अतएव मई, १८१० ई० में राजस्थान से लौटने के बाद वहाँ पुनः जाने का उसे साहस नहीं हुआ। उसके विभिन्न सेनानायक राजस्थानी राज्यों पर जो कुछ भी उसका आधिपत्य बनाए रख सके, या वहाँ से यदा-कदा वसूल हो जो कुछ भी थोड़ा-बहुत रुपया उसे मिल जाता, उनसे ही दौलतराव को संतोष करना पड़ता था।

कृष्णाकुमारी की हत्या के कुछ ही समय बाद अमीर ख़ाँ तो जयपुर की ओर चल दिया, और मेवाड़ से रुपया वसूल करने तथा वहाँ के अपने परगनों की देख-भाल का उत्तरदायित्व उसने अपने सहकारी सेनानायक जमशेद ख़ाँ को सौंप दिया, जिसकी इन वर्षों की सख़्तियों को मेवाड़-निवासी युगों तक नहीं भूल सके। उधर दौलतराव ने मेवाड़ का शासन-प्रबन्ध बापू सिन्धिया को सौंपा था, एवं सन् १८११ ई० के प्रारम्भिक महीनों में वह ससैन्य मेवाड़

पहुँचा, जिससे मेवाड़ की रही-सही आमदनी को हथियाने के लिए जमशेद खाँ के साथ ही दौलतराव सिन्धिया के दूसरे सेनानायक जसवन्तराव भाऊ से भी उसकी कशमकश चलने लगी। मेवाड़ की आमदनी के बँटवारे सम्बन्धी एक समझौता हो जाने पर भी सन् १८१२-३ ई० में पड़ने वाले अकालों के कारण वहाँ से यथेष्ट द्रव्य वसूल करना सर्वथा असम्भव हो गया और मेवाड़ के कई सरदारों, किसानों तथा महाजनों को बरसों तक अजमेर में कैद रखने के बाद भी मेवाड़ से समुचित रुपया वसूल करने में बापू सिन्धिया को कोई सफलता नहीं मिली ।

बापू सिन्धिया और जमशेद खाँ के ये अत्याचार असहनीय हो उठे, तब सन् १८१५ ई० के प्रारम्भिक महीनों में महाराणा भीमसिंह ने अजीतसिंह चूण्डावत को दौलतराव के पास ग्वालियर भेज कर इन अत्याचारों का अन्त करवाने के लिए प्रार्थना करवाई । परन्तु महाराणा की सहायता करने में बापू सिन्धिया को किसी भी प्रकार असन्तुष्ट करने के लिए दौलतराव तैयार नहीं था, एवं कोई आठ-दस माह तक ग्वालियर ठहरने के बाद फरवरी, १८१६ ई० में अजीतसिंह विफल मनोरथ ही वहाँ से वापस लौटा । उधर मेवाड़ में परिस्थिति अधिकाधिक बिगड़ती जा रही थी । महाराणा के राज-दरबार में चूण्डावतों का प्रभाव पुनः बढ़ गया था, और अक्तूबर, १८१५ ई० में उन्होंने प्रधान मंत्री सतीदास तथा उसके भतीजे जयचंद गाँधी की हत्या करवा दी । उत्तरी राजस्थान में अमीर खाँ के बढ़ते हुए आधिपत्य को रोकने के लिए बापू सिन्धिया स्वयं वहाँ प्रयत्नशील था, एवं अवसर पाकर जसवन्तराव भाऊ ने मेवाड़ में अपना प्रभाव बढ़ा लिया, तथा अब जमशेद खाँ के साथ उसकी कशमकश चली । उधर मरहठों के प्रति मेवाड़ के राजपूत सरदारों की विरोधपूर्ण

भावना किसी भी प्रकार घटी न थी, एवं मेवाड़ पर अंग्रेज़ों का आधिपत्य हुआ तब तक मरहठे सेनानायक, राजपूत सरदारों और पिण्डारी लुटेरों के इन पारस्परिक झगड़ों से मेवाड़ का पूर्ण सर्वनाश हो चुका था।

मेवाड़ की तरह जयपुर राज्य की राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थिति भी सर्वथा शोचनीय ही थी। कृष्णाकुमारी के लिए अतीव लालायित रहने वाले जयपुर के तत्कालीन शासक सवाई जगतसिंह को राग-रंग तथा ऐश्वर्य-विलास से अवकाश ही नहीं मिलता था कि शासन-कार्य की ओर वह ध्यान दे सके। अपनी प्रेयसी वारांगना रसकपूर को अधिकाधिक आदर प्रदान करने, निरन्तर उसका महत्त्व बढ़ाने तथा नित्य नई भेंटें दे कर उसे प्रसन्न रखने में ही उसका सारा समय बीतता था। राज्य का शासन-संगठन अत्यधिक अव्यवस्थित तथा विशृंखलित होता जा रहा था। जयपुर राज्य से ख़िराज के लिए अमीर ख़ाँ की माँग निरन्तर बनी रहती थी, और उसे वसूल करते रहने के लिए अमीर ख़ाँ ने अपने सहकारी सेनानायक मुहम्मद शाह ख़ाँ को ससैन्य जयपुर राज्य में रख छोड़ा था। उस राज्य के मन्त्री-मण्डल में जल्दी-जल्दी होने वाले परिवर्तनों के कारण अमीर ख़ाँ को भी ख़िराज की रकम के लिये जयपुर राज्य के साथ बारंबार नया समझौता करना पड़ता था। अमीर ख़ाँ की शक्ति अब बहुत बढ़ गई थी। सन् १८१२ ई० में जब दूनी के चाँदसिंह ने मुहम्मद शाह ख़ाँ को पराजित कर टोंक के पास अमीरगढ़ के किले में उसे जा घेरा, तब अमीर ख़ाँ स्वयं वहाँ पहुँचा और सवाई जगतसिंह को बाध्य कर जुलाई, १८१३ ई० में उसने चाँदसिंह को मन्त्री के पद से च्युत करवाया। इसके कुछ ही माह बाद जयपुर एवं जोधपुर के राजाओं के विवाह के अवसर पर अमीर ख़ाँ भी जब इस उत्सव में

सम्मिलित हुआ, तब उसकी इच्छा न होते हुए भी सवाई जगतसिंह ने विवश हो कर अमीर ख़ाँ को अपने साथ उसी गद्दी पर बैठाया, तथा उसके साथ एक छत्रधारी शासक का-सा बर्ताव करना पड़ा (सितम्बर, १८१३ ई०)।

पिछले कई वर्षों की मित्रता के नाते भी जोधपुर राज्य से रुपया वसूल करने के मामले में अमीर ख़ाँ मानसिंह के साथ किसी प्रकार की रियायत नहीं करता था। कभी मुहम्मद शाह ख़ाँ को वहाँ भेजता था और कभी वह स्वयं भी ससैन्य जोधपुर जा पहुँचता था। अमीर ख़ाँ के लिए आवश्यक द्रव्य की प्राप्ति ही एकमात्र उद्देश्य था, एवं सन् १८१५ ई० में जब उसे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानसिंह के प्रधान मन्त्री सिंघवी इन्द्रराज तथा प्रमुख सलाहकार आयस देवनाथ से उसे समुचित द्रव्य नहीं प्राप्त हो सकेगा, तब मानसिंह के विरोधियों से मिल कर, जिनमें मानसिंह का एकमात्र पुत्र छत्रसिंह भी सम्मिलित था, उसके इन दोनों कर्मचारियो का वध करवा देने में भी अमीर ख़ाँ को कोई हिचकिचाहट नहीं हुई (अक्तूबर १०, १८१५ ई०)। इस हत्या-काण्ड से मानसिंह को इतना दुःख हुआ कि उसने राज्य-कार्य करना और बाहर आना-जाना भी छोड़ दिया। अमीर ख़ाँ तो जयपुर की ओर चला गया, और जोधपुर राज्य का नया प्रधान मन्त्री सिंघवी गुलराज वहाँ के कुछ प्रमुख सरदारों की सलाह के अनुसार राज्य का शासन चलाने लगा। परन्तु मानसिंह के विरोधियों का बल निरन्तर बढ़ता जा रहा था। अप्रेल ४, १८१७ ई० को उन्होंने गुलराज को भी मरवा डाला; तब तो मानसिंह ने किसी भी प्रकार का विरोध बढ़ाना सर्वथा अनुचित समझा, एवं इच्छा न रहते भी उसने स्वयं ही अपने पुत्र छत्रसिंह को युवराज-पद पर

आसीन कर राज्य का सारा शासन-कार्य उसे सौंप दिया (अप्रेल १९, १८१७ ई०), तथा स्वयं एकान्त-वास करने लगा।

जयपुर राज्य के साथ सन् १८०३ ई० में की गई सन्धि का तब दो वर्ष बाद अन्त करने के समय से ही अपनी उस कार्यवाही के औचित्य एवं आवश्यकता का प्रश्न सदैव अंग्रेज़ अधिकारियों के सम्मुख उठता रहा था। जयपुर राज्य के साथ पुनः नई सन्धि करने के लिए सन् १८१४ ई० के बाद प्रस्ताव होने लगे थे, परन्तु अप्रेल, १८१६ ई० में जाकर ही कहीं जयपुर राज्य को अमीर ख़ाँ के आक्रमणों से बचाने का निश्चय किया गया, और दिल्ली में नियुक्त अंग्रेज़ अधिकारी चार्ल्स मेटकाफ़ को आदेश मिला कि तदर्थ जयपुर राज्य के साथ नई सन्धि कर ली जावे। उधर जयपुर राज्य के मन्त्री-मण्डल में अपनी इच्छानुसार परिवर्तन करवाने के लिए सवाई जगतसिंह को बाध्य करने के हेतु इन्हीं दिनों अमीर ख़ाँ ने जयपुर नगर को जा घेरा था और उस पर गोलाबारी भी कर रहा था। अतएव विवश होकर सवाई जगतसिंह ने अमीर ख़ाँ के साथ ही साथ अंग्रेज़ों से भी सन्धि की बात-चीत शुरू कर दी, परन्तु अमीर ख़ाँ के साथ समझौता हो जाने के कारण जयपुर नगर का घेरा उठा कर जब वह वहाँ से चल दिया (जुलाई, १८१६ ई०), तब अंग्रेज़ों के साथ प्रस्तावित सन्धि की प्रायः सारी शर्तें तय हो जाने पर भी जयपुर राज्य की ओर से कुछ नई माँगें पेश की गईं, जिससे इस सन्धि-वार्ता का अगस्त माह के प्रारम्भ में ही अन्त हो गया।

परन्तु भारत में अंग्रेज़ी राज्य के तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने पिण्डारियों का अन्त करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था, और उसी उद्देश्य से उसने एक बहुत ही विस्तृत आयोजन बना कर दिसम्बर, १८१६ ई० में तैयार किया, जो अगले वर्ष वर्षा ऋतु

समाप्त होने के बाद ही कार्यरूप में परिणत किया जा सका। होलकर और सिन्धिया के साथ नई सन्धियाँ कर, राजस्थान और मालवा के राज्यों के साथ अंग्रेज़ों के सन्धि न करने की जो शर्तें उनके साथ की गई पिछली सन्धियों में थीं, उनका अन्त करने का निश्चय हुआ। राजस्थान के राज्यों के साथ ऐसी नई सन्धियाँ करने का कार्य-भार चार्ल्स मेटकाफ़ को ही सौंपा गया। पिण्डारियों के सारे ही दलों को चारों ओर से घेर कर सर्वदा के लिए उनका अन्त कर देने, तथा इस आयोजन का विरोध करने वाले शासकों या सेनानायकों को धमका कर दबाने या उनका भी दमन करने के लिए विशेष रूपेण सैनिक आयोजन किया गया। अक्तूबर १६, १८१७ ई० को ये सेनाएँ अपने-अपने केन्द्रों से पिण्डारियों का दमन करने के लिए निश्चित आयोजन के अनुसार चल पड़ीं। सिंधिया और होलकर की पूर्वानुमति प्राप्त किये बिना ही राजस्थान के राज्यों को अपने संरक्षण में लेकर उनके साथ समुचित सन्धियाँ करने का अपना निश्चय लार्ड हेस्टिंग्ज़ ने किया। समय को पहिचान कर बरसों के अपने कठोर श्रम से प्राप्त अपने अधिकृत प्रदेशों को एक स्वाधीन राज्य के रूप में संगठित कर उसे राजनैतिक स्थायित्व देने के लिए अमीर ख़ाँ भी लालायित हो उठा। इस बार राजस्थान में सबसे पहिले अंग्रेजी संरक्षण स्वीकार कर उसने होलकर घराने के प्रति अपनी नाम-मात्र की अधीनता का अन्त किया, तथा पिण्डारी-लुटेरों का वह नेता अब राजस्थान का एक सुप्रतिष्ठित नवाब बन गया।

पिण्डारियों का दमन करने में अंग्रेज़ों की सेनाओं की पूरी-पूरी सहायता करने तथा अंग्रेजों के साथ सन्धि कर उनका संरक्षण प्राप्त करने के लिए मेटकाफ़ ने राजस्थान के सारे ही राज्यों को आमन्त्रित किया। दिल्ली में उसके साथ रहने वाले विभिन्न

राजस्थानी राज्यों के वकीलों के साथ तदर्थ बात-चीत प्रारम्भ हुई। राजस्थानी राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए नवम्बर ५, १८१७ ई० को ही दौलतराव सिन्धिया ने अपनी स्वीकृति दे दी थी। परन्तु होलकर राजघराने के अधिकारियों से यही स्वीकृति प्राप्त करने के लिए महिदपुर के घमासान युद्ध में उन्हें पूर्णतया पराजित करना पड़ा था (दिसम्बर २१, १८१७ ई०)। करौली राज्य के साथ नवम्बर में ही सन्धि की जा चुकी थी। दिसम्बर २६, १८१७ ई० को कोटा राज्य के साथ अंग्रेज़ों ने सन्धि कर ली, और तब एक-एक कर राजस्थान के अन्य सारे राज्यों को भी मेटकाफ़ ने अंग्रेज़ी संरक्षण में ले लिया।

पिण्डारियों का दमन कर उन्हें राजस्थान से निकाल बाहर करने के लिए निश्चित आयोजन के अनुसार अंग्रेज़ों की अनेकों सेनाएँ विभिन्न दिशाओं से चल कर पूर्वी एवं दक्षिणी राजस्थान में पहुँचीं। अमीर ख़ाँ ने अंग्रेज़ों की पूरी-पूरी सहायता की और सन् १८१८ ई० के प्रथम चार-पाँच माह बीतते-बीतते राजस्थान से पिण्डारियों का नामोनिशान ही मिट गया। जसवन्तराव भाऊ जैसे उनके सहायक मरहठा सेनानायकों को भी राजस्थान से निकाल बाहर किया। और यों पिण्डारियों का दमन करते समय अंग्रेज़ों ने बिना किसी कठिनाई के समूचे राजस्थान पर एकबारगी ही अपना पूर्ण एकाधिपत्य स्थापित कर लिया। अब राजस्थान में सर्वत्र शान्ति छा गई, तथा पूर्व-आधुनिक राजस्थान के इस अराजकतापूर्ण काल का भी अन्त हुआ।

राजस्थान पर अपना पूर्ण आधिपत्य स्थापित करके भी मरहठे उसे स्थायी नहीं बना सके थे। महादजी की मृत्यु के बाद से ही राजस्थान पर मरहठों का प्रभुत्व क्षीण होने लगा था, और सन्

१८०३ ई० में युरोपीय सेनानायकों के चले जाने के बाद तो मरहठों की सत्ता की यह निर्बलता अत्यधिक सुस्पष्ट हो गई थी। द बाँय, पेरों तथा अन्य युरोपीय सेनानायकों की शिक्षा, अनुशासन एवं संचालन के फलस्वरूप राजपूत राज्यों की तुलना में मरहठों की सेनाओं को जो विशेष शक्ति तब प्राप्त हुई थी, वह अब रह नहीं गई थी। किन्तु विभिन्न मरहठे सेनानायकों के पारस्परिक झगड़ों, होलकर घराने की विलीन होती हुई सत्ता एवं राजस्थान से दौलतराव की दीर्घ-कालीन अनुपस्थितियों से भी राजस्थान के राजपूत राज्य लाभ नहीं उठा सके। मरहठे शासकों एवं उनके शासन की इन कमज़ोरियों और राजपूत राजाओं की इस असमर्थता से पूरा-पूरा लाभ उठाया पिण्डारी दलों के विभिन्न सेनानायकों ने। द्वितीय अंग्रेज़-मरहठा युद्ध तथा चारों ओर निरन्तर अपना आधिपत्य बढ़ाने की अंग्रेज़ों की नीति के फलस्वरूप सन् १८०५ ई० के बाद मरहठे शासकों के निजी राज्यों की सीमाएँ संकुचित हो गई थीं और साथ ही रुपया एकत्र करने का उनका क्षेत्र भी अत्यधिक सीमित हो गया था। इस संकीर्ण दायरे में पिण्डारियों तथा अमीर ख़ाँ जैसे अर्ध-स्वतन्त्र सेनानायकों की बढ़ती हुई सत्ता ने सिन्धिया की कठिनाइयों को और भी अधिक उलझा दिया था। अब राजस्थान तथा वहाँ के राज्य और ठिकाने निरन्तर बढ़ती हुई अराजकता, बरबादी, दारिद्र्य एवं आक्रमणकारियों की माँगें पूरी करने की असमर्थता के विषम चक्कर में पड़ गये। सन् १८०३-०४ ई० में राजस्थान के राज्यों के साथ सन्धियाँ कर अंग्रेज़ों ने जिस संभावना की ओर सुस्पष्ट संकेत किया था, उसकी पूर्ण उपेक्षा कर सिन्धिया तथा उसके अधिकारियों ने अक्षम्य अदूरदर्शिता का परिचय दिया। अतएव सन् १८१७ ई० के अन्त में जब लार्ड

हेस्टिंग्ज़ अपने सर्व-व्यापी आयोजन को कार्यरूप में परिणत करने लगा तब उसी के आदेशानुसार नये सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर करने तथा, परोक्ष रूपेण ही क्यों न हो, अपनी सत्ता को छिन्न-भिन्न होते बेबस देखते रहने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा दौलतराव के लिए नहीं रह गया था ।

परन्तु राजस्थान की परिस्थिति तो और भी अधिक शोचनीय हो उठी थी । वहाँ राजा से लेकर रंक तक का सम्पूर्ण तथा सर्वतोमुखी पतन हुआ था । सर्वत्र निर्जीवता एवं निष्क्रियता बढ़ती जा रही थी । यूरोपीय सेनानायकों द्वारा सुशिक्षित सैनिकों की शक्ति का अनुभव कर वैसे सेनानायक और सैनिक नौकर रखने के लिए कुछ राजा अवश्य प्रयत्नशील हुए, परन्तु इन जन्म-जात सैनिकों एवं योद्धाओं को यह भी नहीं सूझी कि स्वयं ही इस पद्धति को सीख कर अपने-अपने राज्यों की इस महत्त्वपूर्ण कमी को पूरा करें । विभिन्न मरहठे सेनानायकों को आपस में लड़ा कर ही ये राजपूत राज्य अपना काम निकालते रहे थे , परन्तु पिण्डारियों का दौर-दौरा बढ़ने के बाद यह उपाय भी नहीं चल सका । राजस्थान के राज्य कभी भी सम्पत्तिशाली नहीं रहे थे, और अब तो उनका दारिद्र्य चरम सीमा को पहुँच गया । आपसी फूट, आन्तरिक विरोध एवं पिण्डारियों की लूट-मार ने परिस्थिति को अधिक विषम ही बना दिया । एक दयनीय विवशता राजस्थान के समूचे जीवन में भर गई थी । यद्यपि द्वितीय अंग्रेज़-मरहठा युद्ध के समय राजस्थानी राज्यों के साथ की गई कई एक सन्धियों का अंग्रेज़ों ने तब ही अन्त कर दिया था, तथापि राजस्थान के राजाओं को उनसे पूरी आशा बनी रही । अंग्रेज़ ही उन्हें अपने एकमात्र त्राता देख पड़े, एवं उनका संरक्षण प्राप्त करने के लिए वे अंग्रेज़ों से निरन्तर याचना करते ही रहे । राजनैतिक पतन के

उस गहरे गह्वर में पड़े राजस्थान के राजा और रंक सब ही चारणों द्वारा लिखी राजस्थान की विगत ऐतिहासिक कीर्ति-गाथाओं को सुन-सुन कर ही संतोष कर लेते थे और स्वयं को भुलावा देते रहे थे; उस शोचनीय परिस्थिति से उबरने के लिए तब भी कोई प्रयत्न सोचने का किसी को ख़याल तक न था।

राजस्थान में अयोग्य शासकों की परम्परा अक्षुण्ण चल रही थी। प्रदेश की बढ़ती हुई बरबादी एवं दरिद्रता के कारण साधारण नागरिक का दैनिक जीवन भी निस्तेज एवं विषादपूर्ण बनता जा रहा था। भयंकर अराजकता एवं निरन्तर होने वाले उलट-फेरों के कारण सरदारों के साथ राजाओं की स्थिति भी सदैव डांवाडोल ही रहती थी। परिस्थिति-जन्य इस चिन्तापूर्ण आकुलता को भुलाने के लिए ही राजा और रंक सब ही समान रूप से ऐश्वर्य-विलास की ओर अनायास आकर्षित होते थे। भौतिक जीवन के इन कठोर सत्यों को भुलाने के लिए नित्य नए उत्सवों का आयोजन होता था, आडम्बरपूर्ण जलसों की तड़क-भड़क देख पड़ती थी, और नाच-गान, राग-रंग और ऐश्वर्य-विलास का समाँ बाँधने का निरन्तर प्रयत्न होता रहता था। नैतिक अनाचार बढ़ता जा रहा था। कभी भी न समाप्त होने वाले गृह-युद्धों के साथ ही यह असीम व्यभिचार का भी युग था। सवाई जगतसिंह के 'रावले' में चलने वाले ऐश्वर्य-विलास की अविश्वसनीय किन्तु सच्ची बीभत्सपूर्ण कहानियाँ सारे उत्तरी भारत के कौतूहल की सामग्री बन गईं थीं, और तत्कालीन हस्त-लिखित 'अखबारों' में दुहराई जा कर वे कलकत्ता, पूना तथा हैदराबाद जैसे सुदूर नगरों तक फैलती थीं, जिससे राजस्थान के राजाओं की प्रतिष्ठा और उनके राजनैतिक एवं सामाजिक महत्त्व को गहरी ठेस लगी। यह नैतिक पतन राजस्थान के लिए बहुत ही घातक हुआ, और अब तक राजस्थान

की रक्षा एवं नेतृत्व करने वाली वह राजपूत जाति अज्ञानांधकार में सुप्त इस पाप-पंक में डूब कर युगों के लिए पूर्णतया निश्चेष्ठ एवं निर्जीव हो गई ।

इस काल में भी साहित्य तथा काव्य को राजस्थान में राज्याश्रय प्राप्त होता रहा । जयपुर का सवाई प्रतापसिंह, जोधपुर का मानसिंह एवं बूंदी का विष्णुसिंह, तीनों ही स्वयं काव्य-रचना करते थे। उनके आश्रय में रह कर अनेकों सुकवि काव्य-रचना में ही अपना सारा समय लगाते थे । ब्रज भाषा के सुविख्यात कवि पद्माकर ने भी राजस्थान के विभिन्न राज-दरबारों में कई वर्ष बिताए । परन्तु तत्कालीन राजस्थान के कवियों के जीवन एवं काव्य में कभी भी एकरूपता नहीं हो पाई थी । उनकी भावनाओं तथा प्रेरणा में पारस्परिक सामञ्जस्य-विहीनता उनके काव्य में भी स्पष्ट रूपेण झलकती है । भक्ति रस की कविता भी युग-धर्म के प्रभाव से अछूती नहीं रह सकी, और उसमें भी ईश्वरीय प्रेम तथा श्रीकृष्ण की लीला के अन्तर्गत शृंगार रस की गहरी पुट आ ही जाती थी । इन कवियों के काव्य में प्रायः तीव्र अनुभूति का अभाव ही रहा, अतएव इस काल की सर्व-श्रेष्ठ रचना समझी जाने का श्रेय मंछाराम के 'रघुनाथ-रूपक गीताँ रो' तथा किशन आढ़ा के 'रघुवर-जस-प्रकाश' नामक दो रीति-ग्रन्थों को ही प्राप्त हुआ ।

इस समय तक राजस्थानी चित्रकला से मुग़ल शैली का प्रभाव पूर्णतया विलीन हो चुका था, जिससे इस काल के चित्रों में राजस्थानी शैली का विशुद्ध पूर्ण रूप देख पड़ने लगा । तत्कालीन युग के राग-रंग और ऐश्वर्य-विलास-प्रधान प्रवृत्ति का प्रतिबिम्ब तब के चित्रों में भी सुस्पष्ट देख पड़ता है । रास लीला तथा राधा-कृष्ण सम्बन्धी धार्मिक चित्रों में भी मानवीय कामुकता का ही चित्रण होता था ।

परम्परागत रूढ़ि के अनुसार बने इन चित्रों में पूरी-पूरी राजकीय तड़क-भड़क एवं अत्यधिक अलंकार-पूर्णता ही पाई जाती थी। ईसा की १९ वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही राजस्थानी शैली पर बने हुए चित्रों में भाव-चित्रण के इस छिछलेपन के साथ अत्यधिक निर्जीवता भी आने लगी, जिससे बड़ी ही तेज़ी से इस चित्र-शैली का ह्रास होने लगा। उधर जोधपुर में चित्र-शैली की प्रचलित रूढ़ियों से विपरीत नित्य नए वैषम्यपूर्ण प्रयोग किये जाने लगे, जिससे वहाँ की कला में परम्परागत विकास की एकता ही नष्ट हो गई। राजस्थान के चित्रकारों को इस काल में पर्याप्त प्रोत्साहन मिला था, किन्तु वहाँ के राज-दरबारों एवं कला-प्रेमियों की बढ़ती हुई दरिद्रता के कारण चित्रकारों की भी आर्थिक स्थिति विशेष सुधर न सकी।

मुग़लों के एकाधिपत्य को चुनौती देकर तब दुर्गादास तथा राणा राजसिंह के नेतृत्व में जिस राजस्थान ने सफलतापूर्वक उस प्रचण्ड विद्रोह का प्रारम्भ किया था, उसी राजस्थान को इस अराजकतापूर्ण काल के अन्त में पुनः विदेशियों के हाथों यों आत्म-समर्पण करना पड़ा। मरहठे सेनानायकों के निरन्तर आर्थिक शोषण से बचने तथा पिण्डारियों के सर्वनाशकारी उपद्रवों का अन्त करने के लिए राजस्थानी राज्यों ने उत्सुकतापूर्वक सहर्ष अंग्रेज़ों का संरक्षण स्वीकार किया। एक शताब्दी से अधिक काल तक निरन्तर चलती रहने वाली इस भयंकर अराजकता ने राजपूत राजघरानों को जड़ से हिला दिया था; उनका दारिद्र्य चरम दयनीय सीमा को पहुँच चुका था। जन्म-जात योद्धा राजपूतों का सारा समाज ही पूर्णरूपेण पतित हो चुका था। क्षात्र-धर्म से च्युत होकर वे अपनी कर्तव्य-बुद्धि भी खो बैठे थे। अज्ञान को अपनाने में ही उन्होंने अपना पूर्ण हित समझा,

और घोर नैतिक अनाचार में ही उन्होंने स्वर्गीय चिरन्तन सुख का अनुभव किया। कुलांगनाओं का तिरस्कार कर कुलटाओं द्वारा उनका अपमान करवाने में ही उन्होंने अपने पुरुषत्व की पराकाष्ठा की। और उसी राजपूत समाज के वे सुप्रतिष्ठित नेता, उन राज्यों के वे नरेश, अपने राज्यों को स्थायित्व प्रदान करने तथा अपने व्यक्तिगत शान्ति-सुख के हेतु साँगा और प्रताप, मालदेव और दुर्गादास, सवाई जयसिंह, झाला अज्जा और हाड़ा उम्मेदसिंह के वे वंशज, अपने प्यारे देश की स्वाधीनता की बलि देने में वे यत्किंचित् भी नहीं हिचके। पराधीनता को सहर्ष अपना कर उसीमें उन्होंने अपना परम कल्याण देखा। और 'धणियाँ ऊभां' तथा उनके 'जोताँ-जोताँ' जब राजस्थान के राजपूत राजाओं की धरती चली गई, और वहाँ के किसी भी हिन्दू या मुसलमान ने अपने वंश-परम्परागत राजपूती-धर्म को नहीं निबाहा तब तो कविराजा बाँकीदास को विवश होकर कहना ही पड़ा :–

"पुरजोधाँण उदैपुर जैपुर,
पहु थाँरा खूटा परियाँण।
आँके गई आवसी आँके,
बाँके आसल किया बखाँण॥"

परन्तु उस समय क्या बाँकीदास ने कभी स्वप्न में भी यह सोचा था कि तब ही वे सारे राज-वंश एक प्रकार से सर्वदा के लिए नष्ट हो गए थे, तथा तब गई वह धरती पुनः वापस आने की न थी ? और भारत के पुनः स्वाधीन होते ही, पूर्णतया स्वच्छन्द रहने को सदैव उत्सुक राजस्थान तथा अपने विभिन्न व्यक्तिगत स्थायित्व के लिए सर्वदा चिंतित रहने एवं तदर्थ सतत प्रयत्न करने वाले वहाँ के उन राजपूत

राज्यों को उस समय किये गए उस भयंकर पाप तथा अन्य जघन्य अनाचारों का विशेष रूपेण पूर्ण प्रायश्चित करना होगा।....अब राजस्थान अखिल भारतीय गण-तंत्र का एक अविभाज्य अंग बना और उन राजस्थानी राजपूत राज्यों का विलयीकरण होकर वे सारे ऐतिहासिक राजपूत राजघराने राजस्थान के साधारण जन-समाज में समा गए।

३

अंग्रेज़ी साम्राज्य के अन्तर्गत राजस्थान— राजनैतिक एकता की पुनर्स्थापना, राज्यों में नवीन शासन-संगठन, भारतीय राजनीति एवं राजस्थान, तथा अन्य नई प्रवृत्तियाँ

(१८१९-१९४७ ई०)

पिण्डारियों के विरुद्ध शीघ्र ही प्रारम्भ होने वाले युद्ध को लेकर जब अंग्रेज़ों का दूत, सुप्रसिद्ध टाड, नवम्बर, १८१७ ई० में रावटा के पड़ाव पर ज़ालिमसिंह झाला को सब तरह से आश्वासन देने लगा कि भारत के मध्य भाग में पूर्ण शान्ति स्थापित करना ही उस युद्ध का एकमात्र उद्देश्य था, तथा उसके द्वारा अंग्रेज़ अपना साम्राज्य बढ़ाना नहीं चाहते थे, तब तो उस दृष्टि-हीन किन्तु अनुभवी कूटनीतिज्ञ मन्त्री से रहा न गया।

"आप जो कुछ भी कह रहे हैं, उस पर स्वयं आप भी पूर्णतया विश्वास नहीं करते हैं यह तो मैं नहीं कह सकता हूँ, परन्तु बूढ़े ज़ालिम की इस बात को याद रखना कि वह दिन दूर नहीं है, जब सारे हिन्दुस्तान में एक ही सिक्का चलेगा।"

और उसकी यह भविष्यवाणी राजस्थान में तो एक ही वर्ष में पूरी हो गई। सन् १८१८ ई० के अन्त तक सिरोही राज्य को छोड़ कर सारे राजस्थानी राज्यों के साथ अंग्रेज़ों की संधियाँ हो चुकी थीं।

सिन्धिया के साथ की गई सन्धि के अनुसार अजमेर का परगना भी जुलाई, १८१८ ई० में अंग्रेज़ अधिकारियों को सौंपा जा चुका था। सन् १८१९ ई० के प्रारम्भ तक सारे राजस्थान पर अंग्रेज़ों का राजनैतिक आधिपत्य स्थापित हो गया, और सन् १९४७ ई० में भारत के स्वाधीन होने तक वह अक्षुण्ण बना रहा। अंग्रेज़ों का आधिपत्य स्थापित होने से पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति के साथ राजस्थान का प्रथम बार पूर्ण लगाव स्थापित हुआ। यह सम्बन्ध कितना गहरा तथा आगे चल कर उसका प्रभाव कितना क्रान्तिकारी होगा, सन्धियाँ करते समय संभवतः किसी को भी यह बात नहीं सूझी थी। अब विदेशी सत्ता, संस्कृति तथा विचार-धारा का प्रभाव धीरे-धीरे राजस्थान पर पड़ने लगा और यों वहाँ एक नवीन प्रगति का प्रारम्भ हुआ, जिससे आगे चल कर राजस्थान की राजनैतिक तथा शासन-सम्बन्धी बातों के साथ ही साथ वहाँ के धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक, आदि क्षेत्रों में भी एक अनपेक्षित क्रान्ति के चिह्न अधिकाधिक सुस्पष्ट दिखाई देने लगे। इस क्रमिक विकास की अपनी-अपनी विभिन्न विशेषताओं के आधार पर ही इन १२८ वर्षों का राजस्थान का इतिहास तीन प्रधान विभागों में विभक्त किया जा सकता है :–

(१) सहयोग काल (१८१९–१८५८ ई०);
(२) संगठन काल (१८५८–१९०६ ई०);
तथा (३) युगान्तर काल (१९०६–१९४७ ई०)।

१. सहयोग काल (१८१९–१८५८ ई०).

इन पिछले दो वर्षों में की गई सन्धियों द्वारा विभिन्न राज्यों को अपने आश्रय में लेकर अंग्रेज़ों ने उनके साथ सहयोग स्थापित

किया। इन सन्धियों की इस प्रमुख विशेषता के आधार पर ही इस प्रथम विभाग को 'सहयोग काल' कहा है। इस समय तक सारे भारत में अंग्रेज़ों का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, एवं ऐसी संधियों में पहिले के समान अब भी 'पारस्परिक सख्य-भाव, चिरकालीन मैत्री तथा अन्योन्य कर्त्तव्यों' की चर्चा करना सर्वथा असामयिक हो गया। अपने आश्रय में लेने के कारण उन राज्यों तथा वहाँ के राजघरानों की रक्षा करना अब अंग्रेजों का कर्त्तव्य था। साथ ही अंग्रेज़ों के साथ सहयोग स्थापित करने के बाद उन राज्यों का राजनैतिक सम्बन्ध एकमात्र अंग्रेज़ों के ही साथ रह गया। अपने पड़ोसी राजस्थानी राज्यों के साथ भी अब वे किसी प्रकार का राजनैतिक सम्बन्ध या मैत्री भी नहीं रख सकते थे। अपने आपसी झगड़ों के निपटारे के लिए भी उन्हें अंग्रेज़ों के पास ही जाना पड़ता था। अंग्रेज़ों ने यों राजस्थान के प्रत्येक राज्य को दूसरे से पूर्णतया पृथक कर दिया। इस प्रकार के आश्रित-सहयोग के क्षेत्र की ठीक-ठीक सीमाओं को ले कर राज्यों और अंग्रेज़ अधिकारियों में कई बार मत-भेद हुआ, किन्तु हर बार 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत ही चरितार्थ हुई और अंग्रेज़ों ने अपने निश्चित निर्णय का ही पालन करवाया।

इस बार राजस्थान क केवल बड़े-बड़े प्रमुख राज्यों के साथ ही सन्धि करके अंग्रेज़ों ने संतोष नहीं किया। वहाँ के छोटे-बड़े सारे स्वाधीन राज्यों को अपने आश्रय में ले कर यों उदयपुर के साथ ही साथ शाहपुरा के राज्य को भी उन्होंने राजस्थान के राज्यों की सूची में सम्मिलित किया। कुशलगढ़ के समान अर्ध-स्वतन्त्र तथा अनेक राज्यों के साथ सम्बद्ध ठिकानों से भी उन्होंने सीधा सम्बन्ध स्थापित किया। राजस्थान के अनेकानेक राज्यों में वहाँ के आधीन जागीरदार

अपने राजा की शक्ति-हीनता तथा विगत-कालीन अराजकता से लाभ उठा कर बहुत-कुछ स्वाधीन तथा अतीव उद्दण्ड हो गए थे। राजस्थान का यह राजनैतिक पुनर्संगठन करते समय इन निरंकुश जागीरदारों की शक्ति को घटा कर उन्हें अपने-अपने राज्यों की अधीनता पुनः स्वीकार करवाने के लिए अंग्रेज़ अधिकारी जागीरदारों तथा उनके शासक-राज्यों के बीच मध्यस्थ बने। यों टाड ने उदयपुर के महाराणा और वहाँ के सरदारों का पारस्परिक संबन्ध स्थिर करने के लिए मई, १८१८ ई० में एक कौल-नामा तैयार करवाया, जिसके अनुसार सन् १७६६ ई० के बाद उनके द्वारा अनुचित रूपेण दबाई हुई मेवाड़ राज्य की सारी ज़मीन राज्य को वापस लौटाने का सरदारों ने वादा किया और साथ ही राज्य के प्रति सरदारों की आवश्यक सेवाओं और अनिवार्य कर्तव्यों का भी खुलासा किया गया। इसी प्रकार सर डेविड आक्टरलोनी की मध्यस्थता के फलस्वरूप मई, १८१९ ई० में जयपुर राज्य के सरदारों ने भी वैसा ही एक समझौता स्वीकार किया। अनुचित तौर से दबाई हुई राज्य की ज़मीन लौटाई गई। इन समझौतों तथा कौल-नामों का पूरी तरह पालन करवाने का उत्तरदायित्व अंग्रेज़ों ने अपने ऊपर लिया। विभिन्न राज्यों के सरदारों के अधिकारों तथा उनकी जागीरों, आदि को लेकर अब आगे जो झगड़े चले उनको सरलतापूर्वक निबटाना कठिन हो गया। उदयपुर में तो एक के बाद दूसरा यों अनेकों कौल-नामें तैयार किये गए और इस प्रकार सरदारों में आपसी मन-मुटाव एवं भीतरी षड्यन्त्र निरन्तर चलते रहे। आपसी बीच-बिचाव कर उसके फलस्वरूप होने वाले विभिन्न समझौतों का पालन करवाने का उत्तरदायित्व लेने की अंग्रेज़ों की इस नीति के कारण राजस्थान के राज्यों की आन्तरिक स्वाधीनता, उनके राजनैतिक महत्त्व तथा सैकड़ों वर्ष

पुराने उनके गौरव को गहरी ठेस लगी, एवं इन राज्यों का शासन-संगठन कभी भी पूरी तरह सुदृढ़ नहीं होने पाया ।

तत्कालीन राजनैतिक वस्तु-स्थिति को स्थायित्व प्रदान करने की नीति से ही प्रेरित होकर अंग्रेज़ों ने सन्धियाँ करते समय तथा उसके बाद के इन प्रारम्भिक वर्षों में कई एक ऐसे निश्चय किये, जिनसे आगे चल कर अनेकों वैधानिक और राजनैतिक उलझनें उठ खड़ी हुईं । सन् १८१७ ई० में कोटा राज्य के साथ सन्धि करते समय प्रधान सन्धि के साथ ही साथ एक अलग विशिष्ट धारा द्वारा अंग्रेज़ों ने तब ही यह निश्चित कर दिया था कि महाराव उम्मेदसिंह और उसके उत्तराधिकारी केवल नाम-मात्र को कोटा के शासक रहेंगे, एवं राज्य की सारी शासन-सत्ता कोटा के तत्कालीन सर्वे-सर्वा प्रधान मन्त्री राज राणा ज़ालिमसिंह और उसके वंश-परंपरागत उत्तराधिकारियों के हाथ में रहेगी। इसी प्रकार सन् १८२३ ई० में सिरोही राज्य के साथ सन्धि करते समय वहाँ के पदच्युत शासक राव उदयभान के जीवन-काल में उसके छोटे भाई तथा सर्व-सम्मति से नियुक्त सिरोही के शासक राव शिवसिंह को वहाँ का राव-रीजेण्ट एवं उदयभान की मृत्यु के बाद वहाँ का शासक–उत्तराधिकारी नहीं–मानना स्वीकार किया । सिरोही राज्य का यह सौभाग्य ही था कि उदयभान निस्सन्तान ही मरा और शिवसिंह के मरने के बाद उसके लड़के के सिरोही की गद्दी पर बैठने में कोई बाधा उत्पन्न नहीं हुई । परन्तु कोटा की उस उलझन को सुलझाने में पूरे बीस वर्ष लगे । महाराव किशोरसिंह को बरसों तक मारा-मारा घूमना पड़ा, सैकड़ों हाड़ा राजपूतों का संहार हुआ, ऊपरी दिखावे के लिए अनेकों बार वर्षों तक नाटकीय व्यवहार चलता रहा, और अंत में झाला राज राणा के विरुद्ध राज्य भर में सार्वजनिक विद्रोह होने की संभावना सुस्पष्ट

देख पड़ने पर ही सन् १८३८ ई० में कोटा राज्य का बटवारा हुआ तथा ज़ालिमसिंह के पौत्र मदनसिंह को कोटा राज्य के सत्रह परगने देकर झालावाड़ नामक एक सर्वथा नवीन और स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की गई। तब जाकर कहीं कोटा का महाराव बाकी रहे कोटा राज्य का पूर्णाधिकार-प्राप्त शासक बन पाया।

पिण्डारियों का पूर्ण दमन हो चुका था, उनके सुप्रसिद्ध नेता अमीर ख़ाँ को अंग्रेज़ों ने टोंक के स्वाधीन राज्य का स्वतन्त्र शासक मान लिया था और उसके साथी सैनिकों का दल पूरी तरह बिखर चुका था, एवं अब राजस्थान में पहिले की-सी आन्तरिक अराजकता नहीं रही थी। अंग्रेज़ों के साथ सन्धियाँ हो जाने पर राजस्थानी राज्यों को उनका प्रश्रय प्राप्त हुआ, जिससे अब बाह्य आक्रमणों का उन्हें कोई भी डर न रहा। फिर भी अगले कई युगों तक इन राज्यों की आर्थिक परिस्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। कई एक राज्यों के पुराने कर्ज़ों का सुविधाजनक फैसला हो चुका था। तथापि अंग्रेज़ों को दिये जाने वाले वार्षिक ख़िराज का भार भी ये राज्य सहन नहीं कर सके। ख़िराज की पूरी-पूरी रकम ठीक समय पर नहीं दिए जाने एवं बहुत अधिक रकम बाकी रह जाने के कारण ही सन् १८२३ ई० में उदयपुर का राज्य-प्रबन्ध अंग्रेज़ों ने पुनः अपने हाथ में ले लिया। ख़िराज की पूरी रकम नियत समय पर ही वसूल करने के लिए अंग्रेज़ अधिकारी पूरी-पूरी सख़्ती बरतते थे, जो अब राजाओं को बहुत ही अप्रिय एवं दुःख-प्रद जान पड़ती थी। कुछ वर्षों तक अंग्रेज़ों के आधिपत्य का अच्छी तरह अनुभव कर अब कई एक राजस्थानी नरेशों के हृदयों में अंग्रेज़ों के प्रति विरोध की भावना उठने लगी। सन् १८२४ ई० में अंग्रेज़ ब्रह्मा के प्रथम युद्ध में उलझ गये थे, जिससे तब भारत में अधिक

सेना नहीं रह गई थी। साथ ही इस युद्ध के प्रारम्भ में अंग्रेज़ों को जिन विफलताओं का सामना करना पड़ा, उनका विवरण बहुत ही अतिशयोक्तिपूर्ण रूप में भारत में जब ज्ञात हुआ तब तो ये विरोधी नरेश निकट भविष्य में ही राजस्थान से अंग्रेज़ों की सत्ता को उखाड़ फेंकने का स्वप्न देखने लगे। इसी आशा से प्रेरित होकर अलवर के महाराजा बनेंसिह ने अंग्रेज़ अधिकारियों के आदेशों की पूर्ण उपेक्षा की। किन्तु ये सुखद स्वप्न चिरस्थायी नहीं हो पाए, और जनवरी, १८२६ ई० में जब भारत भर में अजेय समझे जाने वाले भरतपुर के सुदृढ़ दुर्ग को अंग्रेज़ों ने जीत लिया तब तो उनकी आशाएँ पूर्णतया विनष्ट हो गईं। किन्तु नियत समय पर ख़िराज की पूरी रकम वसूल होने में निरन्तर कठिनाई होती ही रहती थी। अंग्रेज़ों को विवश होकर समय-समय पर चढ़े हुए ख़िराज का नया फैसला करना पड़ता था। जयपुर राज्य के नाम बाकी रहे ऐसे ४६ लाख रुपयों के अदा होने की कोई भी संभावना न देख कर सन् १८४२ ई० में अंग्रेज़ों को ये सब रुपये माफ़ कर देना पड़े। इसी अवसर पर जयपुर राज्य से प्रति वर्ष वसूल होने वाली रकम भी आठ लाख से घटा कर आधी कर दी गई। उदयपुर से वसूल होने वाली रकम में भी चार वर्ष बाद कुछ रियायत कर वह दो लाख रुपया कलदार वार्षिक निश्चय कर दी गई। क़रौली, बाँसवाड़ा, आदि राज्यों के साथ भी ऐसी रियायतें समय-समय पर की गईं।

राजस्थानी राज्यों के साथ की गईं सब सन्धियों में अंग्रेज़ों ने यह बात सुस्पष्ट रूपेण स्वीकार कर ली थी कि अपने आन्तरिक मामलों में उनके शासक सर्वथा स्वाधीन रहेंगे और उन राज्यों के भीतरी प्रबन्ध में अंग्रेज़ किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे। किन्तु तत्कालीन राजनैतिक एवं आर्थिक आवश्यकताओं के फलस्वरूप

इन सन्धियों के होते ही अनेकानेक प्रमुख राज्यों के आन्तरिक मामलों में भी अंग्रेज़ों को तत्काल हस्तक्षेप करना पड़ा । मेवाड़ की बिगड़ी हुई दशा को सुधारने में महाराणा भीमसिंह को असमर्थ देख कर टाड ने सन् १८१८ ई० में उदयपुर राज्य का सारा शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया और तीन वर्ष तक मेवाड़ पर वही शासन करता रहा । जयपुर में महाराजा जगतसिंह के अन्तिम दिनों में राजस्थान के प्रमुख अंग्रेज़ अधिकारी सर डेविड आक्टरलोनी ने अपनी पसन्द के व्यक्ति को वहाँ का प्रधान मन्त्री नियुक्त किया (१८१८ ई०), और जगतसिंह की मृत्यु के बाद जब उसका नव-जात शिशु जयसिंह गद्दी पर बैठा, तब जयपुर राज्य-शासन की गति-विधि को निरन्तर देखते रहने तथा समय-समय पर शासन-प्रबन्ध में आवश्यक हस्तक्षेप करने के लिए सन् १८२१ ई० में वहाँ एक स्थायी अंग्रेज़ रेज़ीडेण्ट नियुक्त किया गया, जिसने कुछ ही वर्ष बाद राज-माता को बाध्य किया कि वह अपने कृपा-पात्र झूँथाराम को जयपुर से निकाल बाहर करे । कोटा और बूंदी में वहाँ के नए शासक, किशोरसिंह तथा रामसिंह, का राज्याभिषेक टाड ने अंग्रेज़ सरकार की ओर से क्रमशः १८२० ई० एवं १८२१ ई० में किया था। जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने जब अपने विरोधी सरदारों, आदि की जागीरें ज़ब्त कर लीं, तब अंग्रेज़ अधिकारियों ने ही बीच-बिचाव कर सन् १८२४ ई० में वे ज़ब्त जागीरें वापस देने के लिए उसे विवश किया । शासन के लिए सर्वथा अयोग्य होने के कारण डूंगरपुर के महारावल जसवन्तसिंह को १८२५ ई० में पदच्युत किया गया ।

इसके कुछ ही समय बाद हस्तक्षेप करने की यह नीति पलट दी गई । इन राज्यों से समय पर ख़िराज की निश्चित रकम वसूल

करने तथा उन्हें आपस में लड़ने न देने के लिए आवश्यक हस्तक्षेप को छोड़ कर दूसरी सारी आन्तरिक बातों में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई। उत्तरी भारत का दौरा करता हुआ फरवरी, १८३२ ई० में लार्ड बेण्टिंक अजमेर आया, और उससे मिलने के लिए सारे प्रमुख राजस्थानी नरेशों को अजमेर आमन्त्रित किया गया। अंग्रेज़ी गवर्नर-जनरल का राजस्थान में यह पहला दरबार था। मुग़ल सम्राटों के दरबारों में जाने का विचार तक न करने वाले उदयपुर के महाराणाओं का तत्कालीन उत्तराधिकारी जवानसिंह भी अंग्रेज़ अधिकारियों के फुसलाने पर उत्सुकतापूर्वक अजमेर जा पहुँचा। जयपुर, बूंदी, आदि राज्यों के नरेश भी इस दरबार में आए थे, किन्तु बहाना बना कर जोधपुर का महाराजा मानसिंह अजमेर नहीं आया। अजमेर आये हुए नरेशोंसे मेल-मिलाप बढ़ा कर उनके प्रति अंग्रेज़ सरकार की पूर्ण मैत्री का उन्हें आश्वासन देने का बेण्टिंक ने यों प्रयत्न किया।

किन्तु राजस्थानी राज्यों के आन्तरिक या शासकीय मामलों में पूर्णतया तटस्थ रहने की नीति का अक्षरशः पालन होना कदापि संभव नहीं था। भारत पर पूर्ण एकाधिपत्य करके भी ईस्ट इण्डिया कम्पनी अपने व्यापारिक हितों को ही सब से अधिक महत्त्व देती थी। नमक और अफ़ीम के व्यापार पर अपना एकाधिकार बनाये रखने की अंग्रेज़ों की नीति में तब भी कोई विशेष फेरफार नहीं हुए थे। अपने अधिकृत भारतीय प्रदेशों में नमक को मँहगा बनाए रखने के लिये राजस्थान में बनने वाले नमक के उत्पादन या उसके मूल्य पर कड़ा नियंत्रण करना आवश्यक हो गया। एवं साँभर से तैयार किये गये नमक पर समुचित नमक-कर वसूल करने के लिये राजस्थान के चारों ओर के अंग्रेज़ी प्रदेश में चौकियों का

घेरा डाल दिया गया, जिससे राजस्थान के इस अतीव लाभ-प्रद उद्योग-धंधे को गहरा धक्का लगा। राजस्थान में नमक के उत्पादन पर यत्किचित् भी सीधा नियन्त्रण कर सकना तब अंग्रेज़ों के लिये संभव नहीं हो सका, एवं तदर्थ प्रारम्भ किये गये सारे प्रयत्न छोड़ देने पड़े।

राजस्थान में अफ़ीम की खेती और वहाँ पैदा होने वाले अफ़ीम के व्यापार के नियन्त्रण की समस्या और भी अधिक उलझी हुई थी। प्रान्त में शान्ति स्थापित होने के बाद मेवाड़ और मालवा के सीमान्त वाले दक्षिण-पूर्वी राजस्थानी प्रदेश में अफ़ीम की खेती बहुतायत से होने लगी थी। भारतीय अंग्रेज़ी प्रान्तों में अफ़ीम की पैदावार तथा उसके व्यापार पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ही एकाधिकार था, एवं इन राजस्थानी राज्यों में पैदा हुए इस अफ़ीम से बंगाल, आदि अंग्रेज़ों द्वारा अधिकृत प्रदेशों में उत्पन्न अफ़ीम के व्यापार को धक्का लगना अवश्यम्भावी था। पुनः चीन के साथ चलने वाले कम्पनी के अफ़ीम के एकाधिकारपूर्ण व्यापार को भी इससे परोक्ष रूपेण गहरा आघात पहुँचता था। अतएव उसके अत्यावश्यक नियन्त्रण के लिये अंग्रेज़ों ने बारी-बारी से अनेकों उपाय किये, किन्तु किसी से भी इच्छित उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकी। एक बार तो उन राजस्थानी राज्यों में अफ़ीम की खेती पूर्णतया बंद कर देने के लिये भी वहाँ के नरेशों से समझौते किये गये। नीति सम्बन्धी निरन्तर होने वाले इन परिवर्तनों से इस प्रदेश के किसानों, व्यापारियों और राज्यों की बहुत हानि हुई तथा यहाँ के व्यापार को भी धक्का लगा, जिससे राजस्थान के इन भागों में बहुत असंतोष उत्पन्न हो गया था। अन्त में इन राज्यों से अफ़ीम को सीधा बम्बई ले जाने वाले व्यापारियों को निश्चित फीस पर

आवश्यक आज्ञापत्र (लायसेंस) देने का तरीका सन् १८३० ई० में प्रचलित किया गया, जिससे बहुत-कुछ नियंत्रण के साथ ही अंग्रेज़ों को पर्याप्त आमदनी भी होने लगी। राजस्थान के बदलते हुए व्यापार-मार्गों की नई दिशाएँ निश्चित करने में अफ़ीम के व्यापार सम्बन्धी इस नए प्रबन्ध का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। पश्चिमी राजस्थान की सुसमृद्ध बस्तियों का व्यापारिक महत्त्व दिनोंदिन नष्ट हो रहा था, तथा राजस्थान के सुविख्यात 'मारवाड़ी' व्यापारी बम्बई, बंगाल, आदि सुदूरस्थ प्रदेशों के नये व्यापार-केन्द्रों की ओर अधिकाधिक आकर्षित होने लगे, जिससे राजस्थान के भीतरी व्यापार और वहाँ के उद्योग-धंधों की निरन्तर अवनति ही होती गई।

देशी राज्यों में हस्तक्षेप नहीं करने की बेंण्टिक की नीति का उसके शासन-काल में भी पूरी तरह पालन नहीं किया जा सका। पड़ोसी राज्यों और अंग्रेज़ी इलाके पर होने वाले आक्रमणों को रोकने तथा अपनी मन-चाही शर्तें उससे स्वीकार करवाने के हेतु मानसिंह के विरुद्ध जोधपुर भेजने के लिए सन् १८३४ ई० की बरसात में अंग्रेज़ों को नसीराबाद में एक बड़ी सेना एकत्रित करनी पड़ी। पिछले पन्द्रह वर्षों से जयपुर के राज्य-प्रबन्ध में निरन्तर बनी रहने वाली पूर्ण अव्यवस्था जब वहाँ के नव-युवा शासक जयसिंह की अकाल मृत्यु के बाद असहनीय हो गई, तथा उसके कुछ ही माह बाद जब जयपुर में दिन-दहाड़े उपद्रवियों ने अंग्रेज़ अधिकारियों पर आक्रमण किया, तब तो जयपुर के शासन-प्रबन्ध में पूर्ण हस्तक्षेप करना अंग्रेज़ों के लिए अनिवार्य हो गया। जयपुर राज्य भर के उपद्रवियों का कठोरता के साथ दमन कर रेज़ीडेण्ट की देख-रेख में उसके आदेशानुसार राज्य-शासन चलाने को राज्य में एक काउन्सिल

स्थापित की गई। अब जयपुर राज्य के इतिहास में एक नए उन्नति-पूर्ण अध्याय का प्रारम्भ हुआ। इसके चार वर्ष ही बाद जोधपुर में भी परिस्थिति विकट हो जाने के कारण वहाँ सैनिक कार्यवाही करना अत्यावश्यक हो गया। अपने सरदारों के साथ महाराजा मानसिंह के निरन्तर चलने वाले झगड़ों के साथ ही इस समय वहाँ के शासन-प्रबन्ध पर नाथों का पूर्ण आधिपत्य हो जाने से एक नई उलझन उत्पन्न हो गई थी। जोधपुर राज्य में बढ़ती हुई अराजकता को रोकने के लिए अंग्रेज़ी सेना जोधपुर भेजी गई और मानसिंह को व्यक्तिगत रूपेण एक विशिष्ट समझौता स्वीकार करना पड़ा, जिसके द्वारा जोधपुर में शान्ति तथा सुशासन स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। इसी समय से जोधपुर में भी एक स्थायी अंग्रेज़ अधिकारी की नियुक्ति की जाने लगी।

राजस्थान के विभिन्न राज्यों का शासन-प्रबन्ध इस समय भी प्राचीन जागीरदारी प्रथा के आधार पर सैनिक ढाँचे पर ही बना हुआ था। बाह्य आक्रमणों का अब डर नहीं रहा था, तथापि विभिन्न राज्यों में तब भी पूर्ण आन्तरिक शान्ति नहीं स्थापित हो पाई थी। राजस्थान भर में यत्र-तत्र जंगली जातियाँ तथा अराजकता-कारक उपद्रवी लूट-खसोट करते रहते थे। इन्हें दबाने के लिए भी समय-समय पर अंग्रेज़ी सेनाएँ भेजी गईं। अजमेर परगने के दक्षिण-पश्चिम में मेरवाड़े के प्रदेश को दबाने में उसे दो वर्ष लगे (१८१९-२१) और उसके भावी शासन के लिए अंग्रेज़ों ने अपनी ही देख-रेख में विशेष प्रबन्ध किया। मेवाड़ के दक्षिणी तथा दक्षिण-पश्चिमी भाग में भीलों का उपद्रव बहुत बढ़ गया था, एवं वहाँ भी अंग्रेज़ी सेना को उचित कार्यवाही करनी पड़ी, और कई वर्षों के निरन्तर प्रयत्नों के बाद भी जब भीलों का ठीक प्रबन्ध नहीं हो सका

तब अंग्रेज़ सेनानायकों की कमान में भीलों की ही सेना संगठित कर उस प्रदेश की शान्ति बनाए रखने का काम सन् १८४१ ई० में उसे ही सौंपा गया। शेखावाटी में तथा बीकानेर राज्य के उधर वाले पड़ोसी प्रदेश में निरन्तर होने वाली लूट-मार और उपद्रव को दबाने के लिए सन् १८३४ ई० में अंग्रेज़ी सेना भेजी गई, तथा इस अराजकता को पूर्णतया मिटाने के हेतु कुछ वर्ष के लिए शेखावाटी में भी एक विशेष सेना संगठित की गई। वहाँ की अराजकता दूर करने में जोधपुर राज्य की असमर्थता को देख कर ही सन् १८३६ ई० में मालानी के आस-पास के सारे प्रदेश को अंग्रेज़ अधिकारियों ने अपने अधिकार में ले लिया।

किन्तु उद्दण्ड निरंकुश जागीरदारों तथा सरदारों को दबा कर उन्हें पूर्णतया राज्य की सत्ता के आधीन करने में राजस्थानी नरेशों को आवश्यक सफलता नहीं मिली। ये राज्य इतने शक्तिशाली नहीं थे कि बिना किसी की सहायता के उन्हें सरलतापूर्वक दबा सकते। पुनः जागीरदारों एवं उनके शासक की इस अनबन को राज्य का आन्तरिक मामला ही समझा गया, अतएव तदर्थ नरेशों को अंग्रेज़ों की ओर से कोई भी सैनिक सहायता नहीं दी गई। कई बार तो अंग्रेज़ों की बीच-बिचाव की नीति तथा उनके अनेक अधिकारों की अक्षुण्णता के लिये अंग्रेज़ों द्वारा दिए गए आश्वासनों से भी नई उलझनें पैदा हो जाती थीं। सन् १८२७ ई० में अन्य पड़ोसी राज्यों के विरोधी राजाओं तथा वहाँ के सरदारों की गुप्त सहायता प्राप्त कर जब जोधपुर के विद्रोही सरदार महाराजा मानसिंह के पुराने प्रतिद्वन्द्वी, महाराजा भीमसिंह के बनावटी पुत्र, धौंकलसिंह को जोधपुर की गद्दी पर बैठाने का षड्यन्त्र कर तदर्थ जोधपुर की ओर ससैन्य बढ़ने लगे और इन आक्रमणकारियों के विरुद्ध मानसिंह ने जब अंग्रेज़ों से

सहायता चाही, तब इस सम्बन्ध में अंग्रेज़ों ने अपनी जो नीति निश्चित की थी वह विशेष रूपेण उल्लेखनीय है। "यदि विद्रोह इतना सार्वजनिक हो कि उससे अधिकांश सरदारों तथा सर्वसाधारण जनता की उक्त महाराजा को पदच्युत करने की इच्छा सुस्पष्ट हो जावे, तब तो एक ऐसे शासक को, जिसने अपने बर्ताव तथा कार्यवाही द्वारा अपने प्रति अपनी प्रजा के विश्वास, सहयोग तथा राजनिष्ठा को सर्वथा गँवा दिया है, बलपूर्वक जोधपुर की राज-गद्दी पर बिठाए रखने का कोई भी कारण नहीं रह जाता है। नरेशों से यह आशा की जाती है कि वे अपनी प्रजा को ठीक तरह संभाल कर पूर्णतया नियन्त्रण में रखें। यदि वे अपनी प्रजा को अपने विरुद्ध विद्रोह करने के लिए बाध्य कर दें, तब तो अपने कर्मों का फल भुगतने के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिये।" अंग्रेज़ों के बीच-बिचाव से धौंकलसिंह के आक्रमण का डर तो आगे न रहा, परन्तु विद्रोही सरदारों की शक्ति किसी भी प्रकार कम नहीं हुई। ऐसी ही आपसी कशमकश के कारण किशनगढ़ के महाराजा कल्याणसिंह को अन्त में गद्दी छोड़नी ही पड़ी। सरदारों की निरंकुशता को कम करने में अंग्रेज़ों का पूर्ण सहयोग राजस्थानी नरेशों को कभी भी प्राप्त नहीं हुआ। इन राज्यों के शासन में अन्त तक पाई जाने वाली स्वभावगत सामर्थ्य-विहीनता का यही एकमात्र रहस्यपूर्ण आन्तरिक कारण रहा है।

राजस्थानी राज्यों का शासन-प्रबन्ध पूर्णतया अव्यवस्थित था। निरन्तर बनी रहने वाली अराजकता के फलस्वरूप उनका सदियों पुराना शासन-संगठन बिलकुल ही टूट चुका था। उसको सुधारने में अंग्रेजों ने कोई भी दिलचस्पी नहीं ली। पिछली शताब्दी में राजस्थान ने कोई भी ऐसा सुयोग्य प्रतिभावान् शासक नहीं उत्पन्न किया जो नवीन परिस्थितियों के अनुकूल इन राज्यों के लिए उपयुक्त सुदृढ़

शासन-संगठन का नया ढाँचा निर्माण कर देता। इन राज्यों में एक बड़ी सेना रखना अब भी अनिवार्य था, जिसमें राज्य की आय का बहुत बड़ा भाग व्यय हो जाता था। बाह्य आक्रमणों का अब डर नहीं रहा; राज्य के भीतरी मामलों में अंग्रेज़ों का हस्तक्षेप नहीं होता था, विभिन्न राजधानियों में रेज़ीडेण्ट जा पहुँचे थे, एवं अब इन नरेशों में न तो शासन-कार्य सम्बन्धी कोई नवीन प्रेरणा ही उत्पन्न होती थी, और न वे अपने पद के सच्चे उत्तरदायित्व को पूरी तरह समझते ही थे। राजस्थानी नरेश राग-रंग में पूरी तरह डूब गये और उनके राज-दरबारों का पूर्ण नैतिक पतन हुआ। राज्य की आय का बहुत-सा भाग नरेशों के विलास, आमोद-प्रमोद तथा उनके कृपा-पात्रों पर ही व्यय हो जाता था। राज-दरबारों में छल-कपट तथा आन्तरिक षड्यन्त्र चलते ही रहते थे। प्रायः सारे ही राज्यों की दशा बहुत ही शोचनीय हो गई थी। उनका भविष्य निराशापूर्ण देख पड़ने लगा था। भारत में अन्यत्र निस्संतान मरने वाले राजाओं के राज्य एक-एक कर ज़ब्त हो रहे थे। यह राजस्थान का सौभाग्य ही था कि अवसर मिलने पर भी अंग्रेज़ों ने करौली को अपने राज्य में नहीं मिलाया, तथा पूरे डेढ़ वर्ष के सोच-विचार के बाद मृत महाराजा के निकटस्थ हक़दार मदनपाल को १८५४ ई० में करौली की राज-गद्दी पर बिठाया।

राजनैतिक आधिपत्य स्थापित करके अब उच्चाधिकारी अंग्रेज़ भारत के साथ ही साथ राजस्थान पर भी सांस्कृतिक विजय प्राप्त करने को उत्सुक हो उठे थे। पाश्चात्य ज्ञान तथा विज्ञान की उत्कृष्टता प्रमाणित करने, एवं यूरोपीय विचार-धारा से ठीक तरह अवगत होने के लिए उन्हें समुत्सुक बनाने के उद्देश्य से भी सन् १८३३ ई० के लगभग लार्ड बेंटिक ने पृथ्वी के नक़शे वाले बड़े

बड़े सुन्दर ग्लोब, सुचित्रित मान-चित्रावलियाँ (एटलसें), दूरबीनें, अणुवीक्षण यन्त्र, आदि के साथ विज्ञान सम्बन्धी कई अंग्रेज़ी पुस्तकें राजस्थान के कुछ नरेशों के पास उपहार-स्वरूप भेजीं। नरेशों के साथ होने वाला पत्र-व्यवहार फ़ारसी भाषा के बदले भविष्य में अंग्रेज़ी भाषा में करने का प्रस्ताव किया गया। कोटा और जैसलमेर के नरेशों ने तदर्थ अपने लिए अंग्रेज़ सैक्रेटरी भी नियत किये। कोटा में तो अंग्रेज़ी भाषा पढ़ाने के लिए राज्य की ओर से सन् १८३५ ई० के लगभग एक विशेष कक्षा भी खोली गई।

किन्तु इस समय राजस्थान में प्रजा की शिक्षा के लिए राज्यों की ओर से कोई भी प्रबन्ध नहीं था। राजघरानों में तो प्रायः शिक्षा को किसी भी प्रकार का कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था। कस्बों और शहरों में पुरानी पद्धति की पाठशालाएँ और मक़तब चल रहे थे, परन्तु उनसे प्रधानतया ब्राह्मण, बनिये और राज्य-शासन से सम्बद्ध कर्मचारी-वर्ग वाले इने-गिने व्यक्ति ही लाभ उठाते थे। अंग्रेज़ी को उच्च शिक्षा का माध्यम बना कर भारत में नए ढंग से शिक्षा देने की नीति अंग्रेज़ों ने सन् १८३५ ई० में अंगीकार की, और तदनन्तर राजस्थान में यत्र-तत्र नियुक्त अंग्रेज़ अधिकारी इस नवीन शिक्षा नीति को उन राज्यों में भी कार्यरूप में परिणत करवाने के लिए प्रयत्नशील हुए। अजमेर, अलवर और जयपुर में क्रमशः स्कूल खोले गए, जिनमें अंग्रेज़ी पढ़ाने का भी आयोजन किया गया। अजमेर के स्कूल में सन् १८५१ ई० से हायस्कूल की परीक्षा तक की पढ़ाई होने लगी। तथापि नरेशों ने शिक्षा की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया, और प्रजा ने भी ज्ञान-प्राप्ति के लिए अधिक उत्सुकता प्रगट नहीं की।

राजस्थान के लिए यह एक विषम संक्रान्ति काल था। पाश्चात्य

सभ्यता के इस निकटतम सम्पर्क से राजस्थान की सदियों पुरानी संस्कृति को गहरी ठेस लगी थी। प्राचीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक आदर्श भी थोथे एवं निस्सार प्रमाणित होते देख पड़ने लगे थे। वंश-परम्परागत राजपूती वीरता और सैनिक क्षमता निरर्थक प्रतीत हो रही थी। सारा प्रान्तीय जीवन ही उथल-पुथल हो रहा था और प्रत्येक बात का सापेक्षिक महत्त्व इतनी तेज़ी से बदल रहा था कि उससे बड़े-बड़े समझदारों की भी बुद्धि चकरा जाती थी। अपने अयोग्य स्वार्थी कृपा-पात्रों से घिरे हुए नरेश असहाय और विवशता से ऐश्वर्य-विलास में डूबे, अपनी पराधीनता के कठोर सत्य को भूल कर उनकी राजनैतिक श्रेष्ठता तथा गौरव का ढोंग रचने वाले ऊपरी दिखावे को ही पूरा महत्त्व दे रहे थे। अंग्रेज़ों के साथ पूर्ण सहयोग करना ही उनका एकमात्र कर्त्तव्य माना जाने लगा था। टाड की प्रशंसा ने तो सारी राजपूत जाति को और भी भयंकर भुलावे में डाल दिया, तथा वे राजपूत नरेश अपने पूर्वजों की महत्ता के ही आधार पर अपना व्यक्तिगत महत्त्व भी आँकने लगे। साहित्य-क्षेत्र में महाकवि सूर्यमल का एकछत्र शासन था। राजस्थान के इस घोर पतन को देख कर उसकी आत्मा रोती थी, एवं वह राग-रंग में डूबा हुआ विगत-कालीन गौरव के स्मरण में ही आत्मतुष्टि का अनुभव करता था। पाण्डित्य से पूर्ण इस महाकवि की कविता सर्व-साधारण की वस्तु नहीं बन सकी, और उसके अनुयायी कवियों ने उसकी भावना और अनुभूति को भुला कर उसके पाण्डित्यपूर्ण शब्द-कौशल तथा वागाडम्बर को ही अपनाने का प्रयत्न किया। सारे राजस्थान में इस समय अज्ञान का घोर अन्धकार छाया हुआ था। अंग्रेज़ों के आधिपत्य ने जनता के हृदय में अपने नरेशों के प्रति अगाध विश्वास को जड़ से हिला दिया था। नरेशों के बढ़ते हुए अत्याचारों और सरदारों के

निरन्तर विद्रोहों ने प्रजा के लिए कई एक नई उलझनें पैदा कर दी थीं। समुचित नेताओं के अभाव में जनता पूर्णतया किंकर्तव्यविमूढ़ हो गई थी। अपनी विवशता का अनुभव कर उसके जीवन में असीम निराशा घर कर गई। वह राजनीति से पूर्णतया उदासीन हो गई। और समझ में न आ सकने वाली पाश्चात्य विज्ञान की अविश्वसनीय करामातें देखने और सुनने के बाद तो राजस्थान की पराजित आत्मा ने अंग्रेज़ों की सर्व-व्यापी श्रेष्ठता को नत-मस्तक होकर स्वीकार कर लिया तथा उनके आधिपत्य को परमपिता की देन के स्वरूप में सिर-माथे चढ़ाया। यही कारण था कि सन् १८५७ ई० में उत्तरी भारत में जब विप्लव की आँधी उठी और सारे राजस्थान में यत्र-तत्र फैली हुई भारतीय सेना ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया, तब राजस्थान की जनता को भी उनका साथ देने की न सूझी और न उसको साहस ही हुआ। मूक तटस्थ दर्शक बन कर उसने उनकी कार्यवाही को देखा, और जब यह विप्लव पूर्णतया दबा दिया गया तब उसे भी एक अनिवार्य अवश्यम्भावी वस्तु समझा। बूंदी के महाराव रामसिंह के अतिरिक्त अन्य राजस्थानी नरेशों ने इस विप्लव को दबाने में अंग्रेज़ों का पूरी तरह साथ दिया था। इस बाढ़ के प्रबल प्रवाह को रोकने में देशी राज्यों ने बाँध का काम दिया और इस आँधी का सामना करते समय देशी नरेश अंग्रेज़ी सत्ता के लिये बलवर्धक प्रमाणित हुए।

२. संगठन काल (१८५८—१९०६ ई०)

सन् सत्तावन के विप्लव के अन्त के साथ ही सहयोग काल भी समाप्त हो गया। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के आधिपत्य को

समाप्त कर अब इङ्गलैण्ड की साम्राज्ञी विक्टोरिया के नाम से वहाँ का मन्त्री-मण्डल भारत पर सीधा शासन करने लगा। इस शासन-परिवर्तन के बाद भारत का गवर्नर-जनरल वाइसराय (साम्राज्ञी का प्रतिनिधि) भी कहलाने लगा। भारत का शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में लेने के अवसर पर साम्राज्ञी की ओर से की गई घोषणा द्वारा नरेशों के साथ ईस्ट इण्डिया कम्पनी की सन्धियों का आगे भी पालन करने तथा भविष्य में किसी भी देशी राज्य को ज़ब्त कर अंग्रेज़ी राज्य में न मिलाने का उन्हें सुस्पष्ट आश्वासन दिया गया। भारतीय अंग्रेज़ी राज्य के इस शासन-परिवर्तन के फलस्वरूप कानूनी तथा वैधानिक दृष्टि से देशी राज्यों के साथ अंग्रेज़ों के अब तक के सम्बन्ध में तत्काल ही कोई भी परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु राजनैतिक व्यवहार, आदि पर परोक्ष रूपेण इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। साम्राज्ञी के प्रति देशी नरेशों की स्वाभाविक भक्ति तथा परंपरागत आदर की भावना से लाभ उठा कर अंग्रेज़ों ने धीरे-धीरे बड़ी ही चतुराई के साथ इन अर्ध-स्वतन्त्र राज्यों को पूर्णतया अंग्रेज़ी राज्य के आधिपत्य में ले लिया। मुग़ल साम्राज्य की आधीनता में वे राज्य अनेकों शताब्दियाँ बिता चुके थे, एवं अंग्रेज़ साम्राज्ञी का आधिपत्य स्वीकार करने में इन नरेशों को प्रारम्भ से ही कोई हिचक नहीं हुई। इंगलैण्ड के शासक के प्रति भारतीय नरेशों की सद्यःस्थापित राज्य-निष्ठा के फलस्वरूप अब भारत में अंग्रेज़ी राज्य सामन्तशाही के एक सर्वथा नए ढाँचे में ढलने लगा। भारतीय राजनीति में इस नए परिवर्तन की विवेचना करते हुए भारत के पहिले वाइसराय लार्ड केनिंग के कहा,—"आज भारत में इंगलैण्ड के राज-मुकुट का पूर्ण आधिपत्य तथा एकछत्र शासन हो गया है, और अपने आधीन भारतीय राजाओं तथा सामन्तों के साथ अब प्रथम बार उसका सीधा सम्बन्ध स्थापित हुआ है।

इंगलैण्ड के अधीश्वर के पूर्ण आधिपत्य की यह यथार्थता इस समय ही पहली बार स्थापित हो सकी है। भारतीय नरेश अब उसे अनुभव ही नहीं करते हैं, किन्तु उसे सहर्ष स्वीकार भी करते हैं।"

अब अंग्रेज़ देशी राज्यों के प्रति एक दुहरी नीति बरतने लगे। देशी राज्यों में वहाँ के नरेशों के शासन को चिरस्थायी बना कर उन राज्यों के अस्तित्व को सदैव बनाए रखने का उन्होंने निश्चय किया। इसी नीति का पालन करते हुए सन् १८६२ ई० में राजस्थान के सारे ही राजाओं को सनदें दी गईं जिनके द्वारा उन नरेशों तथा उनके उत्तराधिकारियों के निस्संतान होने पर गोद लेने का उनका अधिकार मान लिया गया। नरेशों को यह जान कर बहुत सन्तोष हुआ कि उनके राज्यों के ज़ब्त होने की अब कोई आशंका नहीं रह गई थी। उन्होंने उन सनदों को अधिक ध्यानपूर्वक नहीं देखा, वर्ना उन्हें स्पष्ट ज्ञात हो जाता कि उनके राज्यों के चिरस्थायी बनाए जाने की एकमात्र शर्त यही थी कि उन राज्यों के राजघराने अंग्रेज़ बादशाह के राज-भक्त रहें तथा भारत में अंग्रेज़ी राज्य के प्रति अपनी सन्धि, समझौते, आदि के अनुसार अपना कर्तव्य पूरी तरह निबाहते रहें।

विभिन्न राज्यों के शासन-प्रबन्ध में आवश्यक्तानुसार हस्तक्षेप कर वहाँ किसी प्रकार की अव्य वस्था तथा कुशासन उत्पन्न नहो ने देने की नीति भी अंग्रेज़ों ने अब अपनाई। सहयोग काल में भी अंग्रेज़ों ने यदा-कदा देशी राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया था। उस काल के पिछले वर्षों में राजस्थान में यत्र-तत्र अनेकानेक अंग्रेज़ अधिकारी नियुक्त हो चुके थे, और धीरे-धीरे उनकी सत्ता बहुत बढ़ गई थी। अब तो सुशासन के बहाने अनेकों युक्तियों द्वारा राज्यों के निजी नगण्य मामलों में भी उन्होंने

अपना हस्तक्षेप बढ़ाया । ऐसे अवसर पर स्थानीय अंग्रेज़ अधिकारी की इच्छा या सलाह ही सर्व-मान्य होती थी । देशी राज्यों के साथ होने वाले राजनैतिक व्यवहार में इस प्रकार अनेकों नए तरीके चल निकले, जो अनुकरणीय उदाहरणों के रूप में कुछ समय बाद सर्व-मान्य हो गए । इन नए राजनैतिक व्यवहारों (पोलिटिकल प्रेक्टिस) से राज्यों के संधियों द्वारा स्वीकृत तथा निश्चित अधिकारों पर निरन्तर आघात पहुँचते रहे और यों वहाँ के नरेशों की आन्तरिक सत्ता धीरे-धीरे कम ही होती गई ।

समय समय पर होने वाले नरेशों के दरबारों के अवसर पर वाइसरायों ने अब उन्हें विभिन्न विषय सम्बन्धी उपदेश देना प्रारम्भ किया । सर जान लारेन्स ने स्त्री-शिक्षा के समर्थन तथा बाल-कन्या-मारक प्रथा के विरोध के साथ ही साथ राज्य-शासनों को आधुनिक ढंग पर पुनर्संगठित करने की आवश्यक्ता पर भी ज़ोर दिया । अक्तूबर, १८७० ई० में लार्ड मेयो ने अजमेर में एक बड़ा दरबार किया, तब उसने वहाँ एकत्रित राजस्थानी नरेशों से कहा:— "अपनी प्रजा के प्रति न्याय और दया का बर्ताव करो । हम आपसे यह नहीं पूछते हैं कि आप हमारे लिए क्या भेंट लाए हैं, परन्तु यह अवश्य जानना चाहते हैं कि आपके हाथ (अपनी प्रजा पर किये गए) अन्यायों से कलुषित तो नहीं हैं । अपनी बहुमूल्य से बहुमूल्य भेंटों द्वारा भी आप किसी प्रकार अंग्रेज़ों की कृपा नहीं प्राप्त कर सकते हैं ।.....अपने राज्य में आप अपनी प्रजा के प्रति जो बर्ताव करते हैं उसीसे आपके बारे में हम अपनी सम्मति निश्चित करते हैं ।.......यदि हम आपके स्वत्वों और विशेषाधिकारों को स्वीकार करते हैं तो आपके लिए यह अत्यावश्यक हो जाता है कि आप भी अपने आधीन प्रजा के स्वत्वों और विशेषाधिकारों

का पूरी तरह पालन करें। यदि हम आपकी सत्ता की सहायता करते हैं तो उसके बदले में हम आपके शासन को सुव्यवस्थित और अच्छा देखना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि सारे राजस्थान में शान्ति बनी रहे और वहाँ सर्वत्र न्यायपूर्ण शासन हो; वहाँ हर व्यक्ति की निजी सम्पत्ति सुरक्षित रहे; प्रत्येक यात्री बिना किसी भय या आशंका के वहाँ सर्वत्र आ-जा सके; सारे किसानों और व्यापारियों को उनकी खेती अथवा व्यापार से पूरा-पूरा लाभ पहुँच सके; आप वहाँ नई सड़कें बनवावें और सिंचाई के लिए नहरें, कूएँ, आदि बनवावें, जिनसे प्रजा की हालत सुधर जावे और आपके राज्यों की आमदनी भी बढ़े; शिक्षा के प्रचार तथा रोगियों की सेवा-शुश्रूषा के लिए आप उचित प्रबन्ध करें।........आप विश्वास रखें कि और किसी के नहीं आपके ही भले के लिए यह सब करने के लिए आग्रहपूर्वक आपसे यह अनुरोध किया जा रहा है।"

और उस समय तक जयपुर राज्य को छोड़ कर प्रायः अन्य सारे राजस्थानी राज्यों की शासन-व्यवस्था सचमुच ही शोचनीय थी। आन्तरिक अशान्ति यदा-कदा उत्पन्न हो ही जाती थी। पुलिस के कर्तव्यों की ओर वहाँ कोई ध्यान नहीं दिया जाता था, और न पुलिस की कोई व्यवस्था ही थी। इन सारे कार्यों का उत्तरदायित्व प्रायः राज्य की सेना पर ही रहता था। न्याय-शासन की व्यवस्था बहुत ही कठोर तथा तात्कालिक थी। इन राज्यों में न तो निश्चित कानून ही थे और न विभिन्न अदालतों का क्रमबद्ध संगठन ही था। न्यायालयों में विभिन्न मुकद्दमों का कोई लिखित ब्यौरा भी नहीं तैयार किया जाता था। ऐसे मामलों में अन्तिम निर्णय राज्य के नरेश के सामने ही होता था और अपना आखरी हुक्म देते समय न्याय के किन्हीं भी निश्चित सिद्धान्तों पर ध्यान देना उक्त नरेश के लिए

आवश्यक नहीं था। क़ैदियों को रखने के लिए राज्यों में जेलों का कोई भी ठीक प्रबन्ध नहीं था। क़ैदियों के स्वास्थ्य तथा उनके अनुशासन की ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया जाता था। जोधपुर राज्य में तो क़ैद की अवधि में उनकी खुराक का खर्चा भी सन् १८८४ ई० तक क़ैदियों से ही वसूल होता था। राज्यों का माली प्रबन्ध भी बहुत ही अविकसित तथा पूर्णतया अव्यवस्थित था। न लगान की रकमें निश्चित थीं और न उसकी अवधि ही नियत की जाती थी। उपज का ही हिस्सा लगान के रूप में वसूल किया जाता था। गाँव के गाँव इजारे या ठेके पर दे दिये जाते थे। सायर, आबकारी तथा सिंचाई, आदि के कोई विभिन्न महक्मे भी नहीं थे। सायर की वसूली भी ठेके पर दी जाती थी। प्रजा की शिक्षा या रोगियों की दवा-दारू का राज्य की ओर से कोई भी विशेष प्रबन्ध नहीं किया जाता था।

जयपुर राज्य में अवश्य सन् १८३५ ई० के बाद शासन-प्रबन्ध की ओर ध्यान दिया गया था। सन् १८५१ ई० में वहाँ के नव-युवा महाराजा रामसिंह को शासन-सम्बन्धी पूर्णाधिकार प्राप्त हुए, और तब उनकी देख-रेख में राज्य ने अभूतपूर्व उन्नति की। राज्य के शासन-प्रबन्ध को सुसंगठित कर उसमें आवश्यक आधुनिकता लाने का प्रयत्न किया गया। सन १८६६ ई० में जयपुर में कला-कौशल का विद्यालय खोला गया, और एक सार्वजनिक पुस्तकालय तथा वाचनालय की वहाँ स्थापना हुई। सन् १८७३ ई० में जयपुर में एक कालेज खोला गया और तीन वर्ष बाद एक अजायबघर की नींव रखी गई। जयपुर शहर के निवासियों के लिए पानी तथा रोशनी की सुविधा के लिए पानी के नल तथा गेस की बत्तियाँ लगाने का क्रमशः १८७५ ई० और १८७८ ई० में प्रबन्ध किया गया।

अंग्रेज़ अधिकारियों के निरन्तर कहने-सुनने तथा दबाव के फलस्वरूप अब राजस्थान के अन्य राज्यों में भी शासन-सुधार के लिए प्रयत्न होने लगे। डाकुओं को दबा कर शान्ति स्थापित करने तथा यात्रियों की सुरक्षा के लिए विशेष प्रयत्न किये गए। न्याय-शासन के लिए आवश्यक विभिन्न क्रमबद्ध अदालतों की स्थापना की गई। नए ढंग की जेलें बनाई जाकर वहाँ की शासन-व्यवस्था में सुधार किये गए। अंग्रेज़ों के भारतीय प्रान्तों में प्रचलित नए-नए फ़ौजदारी और दीवानी कानूनों को वहाँ के लिए आवश्यक परिवर्तनों के साथ राजस्थानी राज्यों में भी लागू किया गया। माली शासन-प्रबन्ध को सुधारने के लिए भी आयोजन किये गए। साधारण कष्ट-प्रद कर माफ कर दिये गए। सन् १८७८ ई० में मेवाड़ में पैमाइश तथा बन्दोबस्त का काम प्रारम्भ किया गया। इसके बाद राजस्थान के अन्य राज्यों में पैमाइश तथा बन्दोबस्त करवाने का आयोजन हुआ। विभिन्न राज्यों में अब शिक्षा और दवा-दारू की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा और धीरे-धीरे वहाँ स्कूल और अस्पताल खोले जाने लगे।

इन सुधारों द्वारा राजस्थानी राज्यों के शासन-प्रबन्धों को क्रमशः भारतीय अंग्रेज़ी प्रान्तों के आदर्श पर संगठित करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ हुए। तथापि यदा-कदा कई एक राज्यों के आन्तरिक मामलों में विशेष रूप से हस्तक्षेप करना अंग्रेज़ अधिकारियों के लिए अत्यावश्यक हो जाता था। टोंक राज्य के आधीन लावा नामक ठिकाने के राजपूत जागीरदार के काका की हत्या में टोंक के नवाब मुहम्मद अली ख़ाँ का हाथ होने के कारण सन् १८६७ ई० में उक्त नवाब को गद्दी से उतार कर उसके अल्प-वयस्क लड़के को नवाब बनाया। महाराजा तख़्तसिंह के गद्दी पर बैठने के समय से ही जोधपुर राज्य

का शासन-प्रबन्ध अधिकाधिक अव्यवस्थित होता जा रहा था। पुनः तख़्तसिंह और उसके सरदारों में लगातार कशमकश चल रही थी। बढ़ते-बढ़ते सन् १८६८ ई० में दोनों ओर से गृह-युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। तब अंग्रेज़ अधिकारियों ने तख़्तसिंह को एक समझौता स्वीकार करने के लिए बाध्य किया, जिसके अनुसार राज्य के शासन का कार्य मन्त्रियों की एक कांउसिल को सौंप दिया और सरदारों के साथ निरन्तर चलने वाले झगड़ों का भी कुछ फैसला किया गया। जोधपुर राज्य के जालोर परगने में निरन्तर अराजकता फैली रहती थी, जिसे दूर करने के लिए सन् १८७१ ई० में कुछ वर्षों के लिए इस परगने का शासन-प्रबन्ध अंग्रेज़ अधिकारियों ने अपने हाथ में ले लिया। अलवर में भी वहाँ के महाराजा शिवदानसिंह के शासन-काल में राज्य का प्रबन्ध अव्यवस्थित हो गया था, और उसके मुसलमान मन्त्रियों के विरुद्ध तीव्र विरोध उठ खड़ा हुआ। सन् १८७० ई० में अंग्रेज अधिकारियों को हस्तक्षेप करना पड़ा। शिवदानसिंह के सारे शासन-अधिकार ले लिये गये और उसकी मृत्यु तक वहाँ का शासन-प्रबन्ध अंग्रेज़ अधिकारियों द्वारा नियुक्त एक काउन्सिल के हाथ में रहा।

राजस्थान के राजघरानों तथा सरदारों में यों भी शिक्षा की उपेक्षा की जाती थी, और अंग्रेज़ी भाषा सीखने के लिए तो कोई विशेष उत्सुकता हो ही नहीं सकती थी। अंग्रेज़ों और राजस्थानी नरेशों के बीच एक बड़ी सांस्कृतिक खाई विद्यमान थी। अंग्रेज़ों ने अनुभव किया कि जहाँ तक राजस्थान के भावी शासकों तथा वहाँ के नवयुवा जागीरदारों को नवीन ढंग से शिक्षा नहीं दी जावेगी, इस सांस्कृतिक विभिन्नता का अन्त नहीं किया जा सकेगा। साधारण पाठशालाओं में पढ़ना राजघरानों के बच्चों के लिए एक अनहोनी

बात समझी जाती थी। अतएव सन् १८७० ई० में अजमेर के दरबार में लार्ड मेयो ने प्रस्ताव किया कि राजस्थान के राजा-महाराजाओं, प्रमुख ठाकुरों तथा उनके भाई-बेटों की शिक्षा के लिए अजमेर में एक विशिष्ट विद्यालय की स्थापना की जावे। भारतीय अंग्रेज़ी सरकार की ओर से पूरी-पूरी सहायता एवं सहयोग दिया गया, जिससे सन् १८७५ ई० में अजमेर में मेयो कालेज खोला गया। यों राजस्थान के भावी नरेशों, सरदारों तथा उनके भाई-बेटों को इस नवीन शिक्षा द्वारा, रूप-रंग तथा वंशपरम्परा से भारतीय होते हुए भी रुचि, विद्या-बुद्धि, तर्क शैली, रहन-सहन तथा आचार-विचार में सर्वथा अंग्रेज़ बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया। अंग्रेज़ी राज्य में अटल विश्वास, अंग्रेज़ बादशाह के प्रति अगाध भक्ति तथा सारी अंग्रेज़ी एवं पाश्चात्य बातों में असीम श्रृद्धा इन छात्रों में निरन्तर भरी जाने लगीं। उन्हें अब मानसिक गुलामी के अदृष्ट परन्तु अतीव सुदृढ़ पाशों में भी बाँधा जाने लगा। अंग्रेज़ी साहित्य तथा अन्य विषयों की जो शिक्षा मेयो कालेज में दी जाती थी वह इतनी कम एवं बहुत ही प्रारम्भिक होती थी कि उससे वहाँ के छात्रों में किसी भी प्रकार का विचार-स्वातन्त्र्य तथा नूतन राजनैतिक भावनाओं का उत्पन्न होना एक सर्वथा असम्भव बात थी। इसी कारण जहाँ पाश्चात्य शिक्षा और विचार-धारा के संसर्ग तथा प्रभाव से भारत की सर्व-साधारण जनता में नव-चेतनता, पुनर्जाग्रति तथा स्वातन्त्र्य-प्रेम की एक नई लहर-सी आ गई, वहाँ मेयो कालेज के इन राजस्थानी छात्रों पर इसका प्रभाव सर्वथा विपरीत हुआ, और राजस्थान के इस उच्च-वर्गीय समाज में राष्ट्रीय भावनाओं तथा समुन्नत नवजीवन की स्फूर्ति के अंकुर नहीं फूटने पाए। प्रारम्भ में जब तक सदियों पुराने संस्कार तथा प्राचीन रूढिबद्ध परम्परागत प्रवृत्तियों का कुछ भी

प्रभाव बाकी रहा, मेयो कालेज के छात्रों में नवीन सभ्यता तथा प्राचीन संस्कारों का एक अनहोना अटपटा मिश्रण देख पड़ता रहा, और ईसा की बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ होने के बाद तो वे अंग्रेज़ी राज्य तथा पाश्चात्य सभ्यता के अन्ध-भक्त एवं परम-निष्ठ अनुयायी बन गए। बीकानेर का महाराजा गंगासिंह, आदि कुछ इन-गिने व्यक्ति अपवाद के रूप में इस कठोर अप्रिय सत्य को पूर्णतया प्रमाणित करते हैं।

सन् सत्तावन के बाद ही राजस्थानी राज्यों में एक नई सामूहिक एकता उत्पन्न होने लगी थी, जिसे अंग्रेज़ अधिकारियों ने बहुत-कुछ बढ़ावा दिया। अब धीरे धीरे विभिन्न राज्यों में समानता उत्पन्न करने के साथ ही साथ उनके पारस्परिक मामलों को सुव्यवस्थित रूपेण निपटाने का आयोजन किया जाने लगा। दूसरे राज्यों के निवासी यात्रियों के साथ होने वाले तथा किसी भी एक राज्य द्वारा नहीं निपटाये जा सकने वाले अपराधों की तत्परतापूर्वक जाँच-पड़ताल कर शीघ्र ही उनके बारे में उचित कार्यवाही करने के लिए सन् १८४४ ई० में अंग्रेज़ अधिकारियों ने राजस्थान में स्थान-स्थान पर वकीलों की अदालतें स्थापित की थीं। राजस्थान की दक्षिण-पश्चिमी सीमाओं पर अनेकों राज्यों में फैले हुए भील और गिरासियों के मामलों को निपटाने के लिए सरहदी अदालतों का भी विशेष रूपेण आयोजन किया गया था। अब भयंकर अपराधों के अभियुक्तों की अदला-बदली के लिए समझौते किये जाने लगे और सन् १८६७ ई० के बाद अगले चार वर्षों में अंग्रेज़ों ने सारे ही राजस्थानी राज्यों के साथ अपराधी-समर्पण सम्बन्धी संधियाँ कर लीं। विभिन्न राज्यों में समय-समय पर उठने वाले सीमा सम्बन्धी झगड़ों को निपटाने के लिए भी विशेष नियम बनाए गए।

अपने शासन-काल में अंग्रेज़ों ने समूचे भारत को जिस तरह से संगठित किया उससे भारत की राष्ट्रीय एकता को एक मूर्त स्वरूप प्राप्त होता गया। उनके इन्हीं प्रयत्नों के फलस्वरूप वही राजस्थान जो तब तक भारत का एक दुर्गम तथा उपेक्षणीय विभाग समझा जाता था, अब भारत का एक महत्त्वपूर्ण अविभाज्य अंग बन गया। राजस्थानी राज्यों को भी इस भारतीय संगठन में जकड़ देने एवं वहाँ भी अंग्रेज़ों का पूर्ण आधिपत्य स्थापित करने के लिए इस संगठन-काल के प्रारम्भ से ही पूरे-पूरे प्रयत्न किये जाने लगे। अंग्रेज़ों के इन प्रयत्नों से राज्यों के अधिकारों पर बहुत आघात पहुँचा, परन्तु यों राजस्थान के साथ भारत का इतना गहरा आर्थिक सम्बन्ध स्थापित हो गया कि आगे चल कर जब राजनैतिक कारणों से उसे तोड़ना चाहा तब भरसक प्रयत्न किये जाने पर भी वह नहीं टूट सका।

पहिले-पहल राजस्थान में पक्की सड़कें बनवाने का आयोजन किया गया। सन् १८६५ ई० में प्रारम्भ कर पूरे दस वर्षों में आगरा से जयपुर और अजमेर होती हुई (पालनपुर राज्य में) दीसा तक की तथा नसीराबाद से चित्तोड़ हो कर नीमच जाने वाली सड़कें बनीं। इसी समय राजस्थान में रेलवे निकालने के भी प्रस्ताव होने लगे। राह में पड़ने वाले सारे राजस्थानी राज्यों से आवश्यक धरती तथा तत्सम्बन्धी सारे अधिकार बिना कुछ भी व्यय के प्राप्त करने के लिए नियमानुसार लिखा-पढ़ी किये बगैर ही सन् १८६५-६ ई० में अंग्रेज़ों ने उन राज्यों से आवश्यक समझौते कर लिए थे; किन्तु रेल की पटड़ी बिछाने का काम सन् १८७४ ई० से पहिले आरम्भ नहीं हो सका। अगले आठ वर्षों में अहमदाबाद को अजमेर, जयपुर और आगरा से इस छोटी रेलवे लाइन द्वारा मिला दिया। बाँदीकुई से

एक लाइन अलवर होती हुई दिल्ली भी जा पहुँची । एक दूसरी छोटी लाइन द्वारा चित्तोड़ और नीमच की राह अजमेर को मालवा से भी सम्बद्ध किया गया । इन रेलवे लाइनों का राजस्थान पर सर्व-व्यापी प्रभाव पड़ा । यातायात और व्यापार की बड़ी सुविधा हो गई । अकाल के समय तो वे बहुत लाभ-प्रद प्रमाणित हुईं । किन्तु आर्थिक दृष्टि से रेलों का प्रारम्भिक परिणाम प्रान्त की जनता और वहाँ के व्यापार के लिए अहितकर ही हुआ । यात्रा और माल-असबाब ढोने के साधन प्रस्तुत करने वाले लाखों लोगों को अब कमाई या निर्वाह के लिये कोई भी साधन नहीं रह गया । विदेशी माल की आमद से राजस्थान के सारे स्थानीय उद्योग-धंधे एक-एक कर नष्ट होने सगे । प्रान्त में नये उद्योग-धंधों के खुलने की तब संभावना भी नहीं थी, एवं जनता में बेकारी बढ़ने लगी । आगरा-अजमेर-अहमदाबाद के पुराने व्यापार-मार्ग पर स्थित सारी सुसमृद्ध बस्तियों का व्यापारिक महत्त्व नगण्य हो गया और वे धीरे-धीरे उजड़ने लगीं । यों प्रान्त के आर्थिक जीवन का सारा संतुलन ही बिगड़ गया, जिसकी हानिकारक प्रतिक्रिया का दुष्परिणाम वहाँ की जनता के दैनिक जीवन एवं नैतिकता पर भी पूर्ण रूप से पड़ा। धार्मिक आचार-विचार पर भी रेलों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा और राजस्थानी समाज के सांस्कृतिक ढाँचे में भी धीरे धीरे क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे।

राजस्थान में साँभर झील से तैयार किये गये नमक के मूल्य पर अपने अधिकृत प्रान्तों में पूर्ण नियन्त्रण करने के लिये आवश्यक चौकियों की लम्बी श्रेणी का जो घेरा अंग्रेज़ों ने अपने प्रदेशों में डाला था, उसमें बहुत अधिक रुपया व्यय हो जाता था, उससे कई राजनैतिक उलझनें भी उठ खड़ी होती थीं, और फिर भी उनसे

सम्पूर्ण उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती थी। इन सारी समस्याओं को अपने लिये सुविधापूर्ण ढंग से हल करने के हेतु अब अंग्रेज कोई नया समुचित उपाय करने को उत्सुक हो उठे। साँभर झील और उसके आस-पास वाले प्रदेश को सीधा अपने एकाधिपत्य में लाने के उनके प्रयत्न पहिले ही विफल हो चुके थे, अतएव अब उन्होंने वहाँ नमक बनाने के उन सब कारखानों का पूरा पट्टा अपने नाम करवाने का निश्चय किया। अतएव आवश्यक दबाव डाल कर सन् १८६९-७० ई० में लार्ड मेयो ने जयपुर तथा जोधपुर राज्यों से अलग-अलग सन्धियाँ कीं, और साँभर झील के खारे पानी से नमक बनाने का सारा कारोबार अंग्रेज़ सरकार ने अपनी इच्छा-पर्यन्त समय के लिये अपने अधिकार में ले लिया। इस उद्योग में किसी भी प्रकार की कमी या हानि न हो इसी उद्देश्य से उस झील से लगे हुए रूपनगर ज़िले वाले अपने इलाके में सिंचाई के लिए भी बाँध न बाँधने तथा कूएँ नहीं खोदने देने के लिए अंग्रेज़ों ने सन् १९०० ई० में किशनगढ़ राज्य को बाध्य किया। राजस्थान में अन्यत्र भी व्यापार के लिए नमक न बनाने तथा बाहर से आने वाले नमक पर कोई चुंगी या राहदारी वसूल नहीं करने के लिए भी सन् १८७९ ई० तथा सन् १८८२ ई० में वहाँ के सारे राज्यों के साथ नमक-सन्धियाँ की गई।

सारे भारत के साथ ही साथ राजस्थान में भी वहाँ के राज्यों को लेकर अंग्रेज़ अधिकारी एक सामन्तशाही ढाँचा निर्माण कर रहे थे। इंगलैण्ड की साम्राज्ञी के नेतृत्व में 'स्टार ऑफ़ इण्डिया' (सितारे-हिन्द) आर्डर की स्थापना सन् १८६१ ई० में की गई, और तत्सम्बन्धी विभिन्न ख़िताब तथा उनके उपयुक्त पदक भारतीय नरेशों को दिये जाने लगे। राजस्थान के सारे नरेशों की भी अब क्रमबद्ध सूची बनाई गई। विभिन्न राज्यों तथा राजघरानों का

सापेक्षिक महत्त्व निश्चित कर उनकी बैठक का क्रम तथा प्रत्येक राज्य के शासक की तोप-सलामी की संख्या जून, १८६७ ई० में नियत की गई। विभिन्न नरेशों के प्रति अंग्रेज़ी सरकार की प्रसन्नता या अप्रसन्नता अब इन्हीं ऊपरी बातों से प्रदर्शित की जाती थी। अप्रसन्नता का भाजन बनने पर कोटा के महाराव रामसिंह, जोधपुर के महाराजा तख़तसिंह एवं सन् १८६७ ई० की घटना के बाद टोंक के राजघराने की भी तोप-सलामियाँ घटा दी गई थीं। प्रसन्न हो कर तो उन्होंने कई एक नरेशों या उनके राजघरानों की तोप-सलामियाँ बढ़ाईं। एवं अब इन सब बातों को लेकर विभिन्न नरेशों तथा राज्यों में तीव्र पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ हो गई। सन् १८७० ई० में लार्ड मेयो के अजमेर वाले दरबार में जोधपुर के महाराजा तख़तसिंह ने उदयपुर के महाराणा के नीचे बैठना अस्वीकार किया। पांच वर्ष बाद इंगलैण्ड के युवराज एडवर्ड (जो बाद में एडवर्ड सप्तम के नाम से सम्राट् बना) का स्वागत करने के लिए, जब बम्बई में भारत के प्रमुख नरेश एकत्रित हुए थे, तब उदयपुर के महाराणा ने निज़ाम के सिवाय किसी दूसरे नरेश के नीचे नहीं बैठने की बात पर अत्यधिक ज़ोर दिया, जिसके फलस्वरूप इसके बाद विभिन्न नरेशों को अपने-अपने प्रान्तों के दलों में बैठाने का नया तरीका अपनाया गया।

इस प्रकार इंगलैण्ड की साम्राज्ञी और भारतीय नरेशों में जो सर्वथा नए सम्बन्ध स्थापित हो रहे थे, उनका चरम विकास सन् १८७६ ई० में हुआ, जब इंगलैण्ड की साम्राज्ञी ने वहाँ की पार्लियामेंट के कानून के आधार पर 'भारत की साम्राज्ञी' (एम्प्रेस ऑफ़ इण्डिया – क़ैसर-इ-हिन्द) का नया ख़िताब स्वयं ग्रहण किया। इस महत्त्वपूर्ण घटना की घोषणा के लिये भारत के तत्कालीन वाइसराय

लार्ड लिटन ने जनवरी १, १८७७ ई० के दिन दिल्ली में एक बड़ा शाही दरबार किया। राजस्थान के सब प्रमुख नरेश उसमें सम्मिलित हुए, जिनमें उदयपुर का महाराणा सज्जनसिंह भी था। इसी अवसर पर बूंदी और जयपुर के नरेश 'साम्राज्ञी के सलाहकार' (काउंसिलर टू दी एम्प्रेस) नियुक्त किये गए। लार्ड लिटन ने प्रस्ताव किया था कि भारत में भी एक 'प्रीवी काउंसिल' स्थापित हो और साम्राज्ञी के ये सारे सलाहकार उसके सदस्य बनाए जावें, परन्तु यह प्रस्ताव इंगलैण्ड में स्वीकृत नहीं हुआ एवं उपर्युक्त नरेशों की यह नियुक्ति केवल आदरसूचक ही रह गई।

साम्राज्य तथा उसके अन्तर्गत आने वाले राज्यों में यह जो नया सामन्तशाही ढाँचा बन रहा था, उसके विकास तथा सुदृढ़ होने के साथ ही राज्यों पर अंग्रेज़ अधिकारियों की सत्ता भी आप ही आप बढ़ने लगी। भारतीय अंग्रेज़ी शासन के अन्य महकमों की ही तरह राज्यों की देख-रेख करने वाला वैदेशिक एवं राजनैतिक विभाग भी इस संगठन-काल के प्रारम्भिक युग में पुनर्संगठित किया गया था। विभिन्न भारतीय राज्यों के साथ की गई सारी सन्धियाँ भी संगृहीत की गईं और उनका विधिवत् अध्ययन किया जाने लगा। अपनी सार्व-भौम सत्ता के आधार पर अंग्रेज़ अधिकारी राज्यों के अनेकानेक आन्तरिक मामलों में भी हस्तक्षेप करने लगे। पुत्र-विहीन नरेश का उत्तराधिकारी चुनने तथा राज्य के प्रधान मन्त्री या अन्य महत्त्वपूर्ण पदाधिकारियों की नियुक्ति के लिए उनकी स्वीकृति लेना अत्यावश्यक हो गया। शासक की अल्प-वयस्कता के अवसर पर वहाँ के शासन को अपने नियन्त्रण में लेना भी उनका एक सर्व-मान्य अधिकार बन गया। विभिन्न राज्यों के साथ अंग्रेज़ों ने जो सम्बन्ध स्थापित किये थे उनमें यदा-कदा ही कोई समानता पाई जाती थी। पुनः वे सर्वाङ्गपूर्ण भी

नहीं थे। एवं अब एक निश्चित सुव्यस्थित प्रणाली के अनुसार ही इन सम्बन्धों को निर्धारित करने का प्रयत्न किया जाने लगा, जिसके फलस्वरूप सारी विभिन्न सन्धियों को साथ मिला कर सामूहिक रूप से ही उनका ठीक-ठीक अर्थ निश्चित करने की प्रवृति चल पड़ी। कुछ समय बाद तो देशी राज्यों तथा भारतीय अंग्रेज़ी राज्य के सम्बन्धों को लेकर तात्विक विवेचन तथा सैद्धान्तिक वाद-विवाद होने लगे, और अपने-अपने मतों का प्रतिपादन के लिए सर लुई टप्पर तथा सर ली वार्नर ने अपने विशिष्ट ग्रन्थों की रचना की।

राजस्थानी राज्यों की शासन-व्यवस्था में भी अनेकों सुधार होते जा रहे थे। अंग्रेज़ी प्रान्तों के ही समान उनमें भी पैमाइश की जा कर वहाँ नियमानुसार बन्दोबस्त किया जा रहा था, । शिक्षा के प्रचार की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा था, तथा कुछ राज्यों में विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध किया गया। अधिकाधिक अस्पताल खोले गए और जेलों को लिए नए मकान बनवा कर उनकी व्यवस्था भी सुधारी गई। प्रत्येक राज्य में अब पुलिस का अलग विभाग स्थापित किया जाने लगा। अनेकानेक आवश्यक नए कानून विभिन्न राज्यों में प्रचलित किये गए तथा वहाँ के न्यायालयों में भी उचित सुधार हुए। शहर की सफ़ाई, आदि का प्रबन्ध करने के हेतु राजस्थान में पहली बार जयपुर शहर के लिए सन् १८६८ ई० में एक म्यूनिसीपालिटी की स्थापना की गई थी। सन् १८८४ ई० के बाद अन्य राज्यों की राजधानियों में भी ऐसी ही म्यूनिसीपालिटियाँ खोलने का आयोजन किया गया। किन्तु इस मामले में तो राजस्थान बहुत ही पिछड़ा हुआ था। इन म्यूनिसीपालिटियों के ग़ैर-सरकारी सदस्य भी राज्यों द्वारा ही निर्वाचित किये जाते थे, और सही अर्थ में स्थानीय शासन सम्बन्धी कोई भी अधिकार इन म्यूनिसीपालिटियों

को नहीं प्राप्त थे। संगठन-काल के अन्त तक भी यही परिस्थिति बनी रही।

गद्दी पर बैठते ही जोधपुर के महाराजा जसवन्तसिंह ने अपने राज्य के शासन को सुधारने का भरसक प्रयत्न किया। बड़ी ही तत्परता के साथ वहाँ के डाकुओं का दमन किया गया, और उसके कड़े शासन के कारण ही राज्य में होने वाले गंभीर अपराधों की संख्या भी कम पड़ गई। सायर के महसूल की दरों में आवश्यक सुधार किए गए, तथा राज्य के माली शासन को सुसंगठित किया गया। अब खालसा इलाके में धरती का लगान निश्चित किया जाकर वह रुपयों में वसूल होने लगा। साधारण जनता की दवा-दारू का प्रबन्ध किया जाकर राज्य में अधिकाधिक अस्पताल खोले गए। उच्च शिक्षा प्रदान करने के लिए सन् १८९४ ई० में जोधपुर में जसवन्त कालेज की स्थापना हुई।

बीकानेर राज्य का शासन भी बहुत ही पिछड़ा हुआ था। वहाँ के महाराजा तथा उसके सरदारों में भी निरन्तर कशमकश चलती रहती थी, जिस कारण अंग्रेज़ अधिकारियों को अनेक बार वहाँ के शासन-प्रबन्ध में हस्तक्षेप भी करना पड़ा था। महाराजा डूँगरसिंह के शासन-काल (१८७२-१८८७ ई०) में शासन-सुधार के लिए कुछ प्रयत्न किये गए, परन्तु उनका परिणाम स्थायी नहीं हो सका। अतएव जब सात-वर्षीय महाराजा गंगासिंह सन् १८८७ ई० में बीकानेर का शासक बना, तब वहाँ का शासन अंग्रेज़ अधिकारियों की देख-रेख में चलने लगा और उनके ग्यारह वर्ष के कार्य-काल में बीकानेर राज्य का शासन-प्रबन्ध पूर्णतया सुव्यवस्थित हो गया। राज्य की आर्थिक परिस्थिति बहुत-कुछ सुधारी गई। माली शासन संगठित कर वहाँ का ठीक-ठीक बन्दोबस्त किया गया तथा घग्घर

नदी से नहरें निकाल कर सिंचाई द्वारा खेती बढ़ाने का आयोजन भी हुआ। दिसम्बर, १८९८ ई० में महाराजा गंगासिंह को पूर्ण राज्याधिकार प्राप्त हुए और यों बीकानेर राज्य के इतिहास का एक बहुत ही उज्ज्वल, यशस्वी तथा महत्त्वपूर्ण अध्याय प्रारम्भ हुआ।

भारतीय अंग्रेज़ी सरकार की आज्ञा लेकर सन् १८८९ ई० में जोधपुर तथा बीकानेर राज्यों ने अपनी सम्मिलित रेलवे बनाने का आयोजन किया। अहमदाबाद-अजमेर लाइन पर मारवाड़ जंकशन से चल कर एक ओर उन्होंने जोधपुर और बीकानेर को उत्तर में (पंजाब में) भटिण्डा से जा मिलाया। लूनी से एक दूसरी लाइन ने मारवाड़ को पश्चिम में सिंध से सम्बद्ध किया। मेड़ता से एक लाइन पूर्व में कुचामन रोड-फुलेरा तक जा पहुँची। यों कोई चौदह वर्षों में ही रेलवे लाइनें इन दोनों राज्यों में चारों ओर फैल गईं। मेवाड़ राज्य ने भी अपनी रेलवे बना कर सन् १८९५ ई० के बाद उदयपुर को चित्तोड़ से मिलाया। सन् १९०४ ई० के बाद जयपुर राज्य ने भी अपनी रेलवे लाइन बनाने का निश्चय किया।

भारतीय साम्राज्य के साथ राजस्थान का राजनैतिक एक्य बड़ी तेज़ी के साथ पूरा होने लगा। इन राज्यों सम्बन्धी वैदेशिक मामलों के सारे अधिकार प्रारम्भ में ही अंग्रेज़ों को सौंपे जा चुके थे, एवं विदेशों के लिए तो इन राजस्थानी राज्यों का आन्तरिक व्यक्तिगत विभिन्न अस्तित्व कोई अर्थ ही नहीं रखता था। एवं विदेश जाने पर इन राज्यों के निवासियों की देख-रेख तथा उनकी सुरक्षा का भार भी अंग्रेजों को ही उठाना पड़ता था। इसी प्रकार विदेशी राज्यों के साथ अंग्रेज़ों द्वारा की गई सन्धियों का इन राज्यों में भी पालन करवाने के लिए अंग्रेज़ों को वहाँ के नरेशों पर दबाव डालना पड़ता था। वैदेशिक मामलों में भारत की इस पूर्ण एकता को भारतीय नरेशों

ने भी स्वीकार किया, जिसका उनके अधिकारों पर परोक्ष रूपेण बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। सन् १८८४ ई० के बाद मध्य एशिया में रूसियों ने अफ़ग़ानिस्तान की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया और उनके इस बढ़ते हुए ख़तरे का सामना करने के लिए जब भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर अंग्रेज़ भारतीय सेना संगठित करने लगे, तब अंग्रेज़ों की सहायता करने के लिए भारत के अन्य नरेशों की तरह राजस्थान के भी कुछ नरेश उत्सुक हो उठे। इसी उद्देश्य से सन् १८८८ ई० में जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और अलवर के राज्यों में नई सेनाएँ संगठित की गईं, जो 'इम्पीरियल सर्विस ट्रुप्स' के नाम से कहलाईं। इन सेनाओं की शिक्षा अंग्रेज़ सेनानायकों की देख-रेख में होती थी, और उनके लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्र अंग्रेज़ सरकार की ओर से दिये जाते थे। इन सेनाओं का सारा व्यय तथा उनके लिए दिये गए अस्त्र-शस्त्र के मूल्य का भार भी राज्यों को ही उठाना पड़ता था। देशी राज्यों की सेनाओं के लिए उपयुक्त सेनानायक तैयार करने तथा नरेशों को भी सैनिक शिक्षा देने के लिए लार्ड कर्ज़न ने आगे चल कर 'इम्पीरियल केडेट कोअर' की स्थापना की थी।

भारत के साथ राजस्थान का आर्थिक एकीकरण भी निरन्तर अधिकाधिक बढ़ता जा रहा था। यद्यपि उदयपुर, जयपुर तथा अन्य कुछ छोटे राज्यों ने अपने-अपने राज्यों में अपनी निजी डाक-व्यवस्था को बनाए रखा था, सन् १८८० ई० तक प्रायः सारे ही राजस्थानी राज्यों में अंग्रेज़ सरकार के डाकख़ाने भी स्थापित होकर अपना काम बड़ी तत्परता के साथ करने लगे थे। सन् १८९० ई० तक प्रायः सारे ही राजस्थानी राज्यों ने अफ़ीम, आदि मादक द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य किसी भी माल पर राहदारी का कर न लगाने का भी निश्चय कर लिया था। रेल, तार और डाक के साथ ही यह सुविधा

पाकर अब राजस्थान का व्यापार बढ़ने लगा। किन्तु अब भी जो एक बड़ी कठिनाई सारे राजस्थान में विद्यमान थी, वह थी राजस्थान में अनेकों तरह के विभिन्न सिक्कों के एक साथ ही प्रचलन की। सारे प्रमुख राज्यों के अपने-अपने अलग सिक्के थे। अंग्रेज अपने सिक्कों को ही वैधानिक मुद्रा मानते थे, किन्तु साथ ही चाँदी के भाव पर दूसरे सिक्के भी चलते थे। परन्तु सन् १८७३ ई० के बाद चाँदी का भाव घटने और सोने का भाव बढ़ने लगा, जिससे चाँदी के रुपये की कीमत घटती गई। अपने रुपये की कीमत स्थायी बनाने के लिए सन् १८९३ ई० में भारतीय अंग्रेज़ सरकार ने अपनी टकसालों में निर्बाधित रूप से रुपये ढालना बन्द कर दिया। अब अंग्रेज़ी रुपये की दर कुछ बढ़ गई और वैदेशिक विनियम के लिये उसकी दर को एक शिलिंग चार पेंस पर ही स्थायी रखने का प्रयत्न होने लगा। किन्तु देश में अनेक टकसालों के होने से अंग्रेजों को अपने इन प्रयत्नों में बहुत कठिनाई होने लगी, एवं अब अंग्रेज़ अधिकारी विभिन्न नरेशों को अपनी-अपनी अलग टकसालें बन्द करने के लिए फुसलाने और दबाने लगे। देशी राज्यों के सिक्के की दर भी निरन्तर घटती जा रही थी, जिससे मुद्रांकन में उन्हें भी कोई विशेष लाभ नहीं रहा, एवं उदयपुर, बूंदी, जयपुर, आदि कुल सात राज्यों के सिवाय राजस्थान की सारी रियासतों ने सन् १९०५ ई० तक अपनी टकसालें बन्द कर दीं, और अंग्रेज़ों ने चाँदी के भाव पर उनकी टकसालों के सारे सिक्के मोल ले लिए। बाकी रहे राज्यों के सिक्कों का प्रचलन शीघ्र ही उनके विभिन्न राज्यों तक ही सीमित हो गया और कुछ वर्ष बाद उन्हें भी अपने ये सिक्के बन्द कर देने पड़े। बूंदी और उदयपुर राज्यों के सिक्के अवश्य सन् १९३५ ई० के बाद तक चलते रहे।

राजस्थान में अंग्रेज़ों का आधिपत्य अपनी पराकाष्ठा को पहुँच

रहा था। बीकानेर, कोटा, अलवर, आदि राज्यों में एक साथ ही नाबालिग़ी हो जाने से उन्हें अनेकानेक मामलों में बहुत-कुछ सुविधा हो गई। अब अंग्रेज़ अधिकारियों का विरोध करना भी एक कठिन अनहोनी बात हो गई। झालावाड़ के शासक द्वितीय ज़ालिमसिंह ने यह दुस्साहस किया था, जिसके फलस्वरूप उसे सन १८९६ ई० में राज-गद्दी से उतार दिया। उसके कोई उत्तराधिकारी नहीं था, एवं राज्य के भविष्य का प्रश्न उठने पर उसके दो टुकड़े कर दिये गए। चौमहल एवं पाटण-छावनी के परगनों को मिला कर एक छोटे परन्तु सर्वथा नए झालावाड़ राज्य की सृष्टि की गई और इतिहास-प्रसिद्ध प्रथम ज़ालिमसिंह झाला की स्मृति को बनाए रखने के उद्देश्य से उसी के सम्बन्धी के वंशज भवानीसिंह को इस नए राज्य का शासक बनाया। बाकी रहे परगने पुनः कोटा राज्य में मिला दिये गए। लार्ड कर्ज़न के शासन-काल (१८९९–१९०५ ई०) में तो अंग्रेज़ों का तेज-प्रताप चरम सीमा को पहुँच गया। उसने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया था — "राज-मुकुट का प्रभुत्व सर्वत्र नत-मस्तक होकर स्वीकार किया जा रहा है"। "हमारी नीति के फल-स्वरूप अब देशी नरेश साम्राज्य के शाही-संगठन के एक अखण्डात्मक अंग बन गए हैं।" देशी नरेश अपने-अपने राज्यों के शासन चलाने वाले भारतीय अंग्रेज़ी सरकार के वंशपरम्परागत शासक-प्रतिनिधि मात्र समझे जाने लगे, एवं 'जो अधिकार उन्हें सौंपे गए हैं, उनका दुरुपयोग न कर उनकी उपयुक्तता प्रमाणित करना' उनके लिए अत्यावश्यक हो गया। अन्य सरकारी अधिकारियों की तरह नरेशों को बाध्य किया गया कि भारतीय अंग्रेज़ी सरकार की पहिले आज्ञा प्राप्त किये बिना वे विदेश यात्रा के लिए रवाना न हों। जो सत्ता या अधिकार मुग़ल-सम्राटों को भी कभी प्राप्त नहीं हुए थे, उन्हें

बलात् ग्रहण कर अंग्रेज़ अधिकारी दृढ़तापूर्वक उनको काम में ले रहे थे ।

राजस्थान के नभ-मण्डल में इस समय अंग्रेज़ी साम्राज्य-रूपी सूर्य पूरे तेज और प्रताप के साथ देदीप्यमान हो रहा था । उसकी सत्तारूपी प्रखर किरणें सहन करने की शक्ति वहाँ किसी में न थी । किन्तु राजस्थान के सांस्कृतिक जीवन में तो इस समय विषम शिशिर-काल था । वहाँ सर्वत्र अनात्मविश्वास की गहरी बर्फ़ पड़ी हुई थी । सन् सत्तावन के विप्लव का अन्त हो जाने के बाद सर्व-साधारण जनता के साथ ही राजस्थानी नरेशों ने भी अंग्रेज़ों का सफलतापूर्वक विरोध कर सकने की आशा ही छोड़ दी । विजेताओं का प्रभुत्व तथा उनकी सभ्यता की महत्ता को स्वीकार कर वे उन्हीं का अन्धानुकरण करने लगे; मेयो कालेज की स्थापना द्वारा उनकी इस प्रवृत्ति को विशेष प्रोत्साहन दिया गया । विजेताओं और विजित के बीच की सांस्कृतिक खाई धीरे धीरे पटती जा रही थी । ईसा की १९वीं शताब्दी का अन्त होते-होते तो इन राजघरानों के कई एक प्रमुख व्यक्ति समुद्र पार कर इंगलैण्ड भी जा पहुँचे और वहाँ अपने गौरांग प्रभुओं की तड़क-भड़क, उनकी सत्ता तथा उनके विज्ञान और साहित्य ने उन्हें चकाचौंधित कर दिया । अंग्रेज़ी साम्राज्य की सेवा कर उनसे प्रशंसा तथा आदर प्राप्त करने में ही राजस्थानी नरेश अब गौरव का अनुभव करने लगे ।

इस समय राजस्थान में मृत्यु-काल की-सी नीरवता व्याप्त थी । पराधीनता और राजनैतिक विवशता का घना कुहरा उस पर सर्वत्र छाया हुआ था । ऐसे ज्योतिहीन अस्पष्ट वातावरण में निरन्तर जीवन बिता कर राजस्थान के नरेशों का ही नहीं वहाँ की जनता का भी दृष्टि-कोण पूर्णतया संकुचित और संकीर्ण हो गया । उनकी सारी

भावनाएँ अपने व्यक्तित्व से लेकर अपने राज्य तक ही अब सीमित थीं। टाड के सुप्रसिद्ध ग्रंथ में लिखी बातों का सुनासुनाया विवरण ही उन्हें आत्म-तुष्टि के मोह में मूर्छित कर देने को बहुत था। जाति, प्रान्त या देश के हित की भावनाएँ उनके लिए सर्वथा अज्ञात हो गईं। राजस्थान मृत-प्राय निश्चेष्ट पड़ा था। उसमें कहीं भी जीवन के चिह्न तक नहीं देख पड़ रहे थे। ऐसे समय वहाँ के नरेशों और सरदारों का असीम ऐश्वर्य-विलास प्रान्तीय जीवन में बीभत्सता ही उत्पन्न करता था। भारतीय पुनर्जाग्रिति का प्रमुख स्तम्भ उग्र दयानन्द राजस्थान के अनेकों प्रमुख राज्यों में घूम-घूम कर हिन्दू धर्म और समाज के सुधार की अलख जगाने का प्रयत्न करता फिरा, किन्तु वह भी वहाँ कुछ भी स्फूर्ति नहीं पैदा कर सका, उलटे राजस्थान का विष दयानन्द में व्याप्त हो गया और उसकी जान पर आ बनी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी राजस्थान के घोर निराशापूर्ण अंधकार में नवजीवन की ज्योति की रख तक प्रगट नहीं कर सका। राजस्थान के पुराने स्वतन्त्रता-प्रेमी वीरों की गाथाएँ सुदूर बंगाल में एक नए स्वाधीनता-यज्ञ की ज्वाला प्रज्वलित कर रही थीं, और यहाँ उन्ही वीरों की वह पूज्य मातृ-भूमि तथा उन्हीं के वे वंशज मोह-निद्रा में सुख-नींद पड़े गुलामी में जकड़े उसी के ऐश्वर्य-विलासों का भोग कर रहे थे।

किन्तु ठिठुरा कर निर्जीव बना देने वाली इस विषम विषाक्त रात्रि में भी राजस्थान के कुछ सपूत उसके उद्दात्त जीवन की परम्परा को न टूटने देने के लिए प्रबल प्रयत्न कर रहे थे। राजस्थान को अपने विगत गौरवपूर्ण भूतकाल का स्मरण दिलाने के लिए वे उसके इतिहास की ढूँढ-खोज करने लगे। अपने अन्तिम महाकवि सूर्यमल कृत ओजस्वी ऐतिहासिक महाकाव्य 'वंश भास्कर'

को उन्होंने छपवाया। सर्व-साधारण तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए राजस्थान में हिन्दी गद्य-लेखन की नई परंपरा प्रारंभ की और हिन्दी गद्य में ही राजस्थान के राज्यों का इतिहास लिखवाने का भी आयोजन किया जाने लगा। पुस्तकालयों की स्थापना कर देवी भारती का आह्वान करने लगे। सार्वजनिक नेताओं के अभाव में वहाँ की जनता अब भी अपने नरेशों का ही मुँह ताकती थी; उनकी रही-सही आशाएँ उन्हीं पर केन्द्रित थीं। किन्तु नरेशों में नेतृत्व के लिए अत्यावश्यक गुणों का अभाव ही था, जिससे राजस्थान-भक्तों की आशा की यह एकमात्र रेखा भी निरन्तर क्षीण होती जा रही थी। अन्तिम आशाहीन प्रयत्न के रूप में ही क्यों न हों, राजस्थान की कई हुतात्माएँ वहाँ सशस्त्र क्रान्ति की ज्वाला प्रज्वलित करने को तड़प रही थीं; किन्तु तब तक राजस्थान पर अंग्रेज़ों का पंजा इतना सुदृढ़तापूर्वक जम चुका था और वह निरन्तर इतना अधिक जकड़ता जा रहा था कि उनके साथ अपनी जान झौंकने वाले उन्हें वहाँ न मिले। किन्तु उनका यह निरन्तर बढ़ता हुआ रोष और विरोध अन्त में बारहठ केसरीसिंह की वाणी में फूट ही पड़ा; और महाराणा जवानसिंह, शंभूसिंह तथा सज्जनसिंह द्वारा स्वीकृत परंपरा के ही अनुसार उनके उत्तराधिकारी महाराणा फतेहसिंह ने लार्ड कर्ज़न के बुलावे पर सम्राट् एडवर्ड के राज्यारोहण के उपलक्ष में होने वाले दिल्ली-दरबार में सम्मिलित होना बहुत ही अनिच्छापूर्वक स्वीकार कर जब वह दिल्ली के लिए रवाना हुआ, तब तो बारहठ केसरीसिंह से रहा न गया; राजपूत नरेशों में प्रमुख पूज्य 'हिन्दुआ-सूरज' के भी उसने 'चेतावणी का चुंगट्या' ले ही लिया, और गरजती हुई हुँकार से उसने प्रताप और राजसिंह के उस वंशज से पूछा :—

"घण घलिया घमसाण, (तोइ) राण सदा रहिया निडर।
पेखतां फुरमाण, हलचल किम फतमल हुवै॥

*   *   *   *

नरियंद सह नजराण, झुक करसी सिरसी जिकाँ।
पसरेलो किम पाण, पाण छताँ थारो फत्ता॥"

उसने उसे सुझाया —

"देखे अंजस दीह, मुलकेलो मन ही मना।
दम्भी गढ़ दिल्लीह, सीस नमंता सीसवद॥"

और साथ ही उसे शिक्षा भी दी—

"मान मोद सीसोद! राजनीत बल राखणो।
(ई) गवरमिंट री गोद, फल मीठा दीठा फता?"

इस चेतावनी ने फतेहसिंह के सुप्त गौरव को जगा दिया। दिल्ली पहुँच कर भी वह दरबार में नहीं गया; वहाँ उसकी कुर्सी खाली ही रही। उस रिक्त स्थान को देख कर जहाँ लार्ड कर्ज़न ने गहरी निश्वासें लीं, वहीं उस खाली कुर्सी की गाथा ने सारे राजस्थान में नवीन आशा और स्फूर्ति की लहर दौड़ा दीं। सन् १९०३ ई० की इस अनपेक्षित अविश्वसनीय घटना का ठीक-ठीक ऐतिहासिक महत्त्व तथा राजनैतिक प्रभाव अब तक नहीं आँका गया है। तिलमिला देने वाली इस तीव्र उपेक्षा के बाद भी महाराणा फतेहसिंह को कुछ भी कहने-सुनने की लार्ड कर्ज़न को हिम्मत नहीं हुई, जिससे अंग्रेज़ों के कठोर शासन के विरुद्ध राजस्थानी नरेशों के हृदयों में अब धीरे धीरे प्रतिक्रिया की भावना उत्पन्न होने लगी, और वहाँ के साधारण जन-समाज में भी एक नूतन साहस का संचार हुआ। यहीं से राजस्थान में नव-

जीवन का प्रारम्भ होता है ।

३. युगान्तर काल (१९०६–१९४७ ई०)

लार्ड कर्ज़न के भारत से बिदा होने के साथ ही नरेशों के प्रति अंग्रेज़ों की नीति में भी एकबारगी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गया। लार्ड कर्ज़न के कठोर व्यवहार के कारण भारतीय नरेशों में बहुत असन्तोष पैदा हो गया था। लार्ड कर्ज़न की उग्र नीति के फलस्वरूप भारतीय अंग्रेज़ी प्रान्तों में भी राजनैतिक हलचल तथा तीव्र विरोध की लहर सी आ गई और सशस्त्र क्रान्ति करने वालों ने भी पुनः सिर उठाया। वहाँ का शिक्षित समाज भारत में अंग्रेज़ों के आधिपत्य तथा यहाँ शासन करने के उनके अधिकार की वैधता तक के बारे में प्रश्न पूछने लगा। ऐसे समय अंग्रेज़ों को भारतीय नरेश ही अपने एकमात्र मित्र और सहायक प्रतीत हुए। भारत के नये वाइसराय लार्ड मिण्टो ने राज्यों के आन्तरिक मामलों में अनावश्यक हस्तक्षेप करने तथा नरेशों पर अनुचित दबाव डालने की नीति त्याग दी। अंग्रेज़ों की विगत नीति के फलस्वरूप नरेशों को जिन-जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, एवं उनके सामने जो-जो नई समस्याएँ उठ रही थीं, उन्हें पूरी तरह समझ-बूझने का लार्ड मिण्टो ने भरसक प्रयत्न किया। विभिन्न राज्यों की अपनी-अपनी परिस्थितियों को पूरी तरह समझ कर सहानुभूति-पूर्ण ढंग से उनके मामलों को वह सुलझाने लगा। यों अब देशी नरेशों के प्रति विश्वास और सहयोग की नीति बरती जाने लगी। पुनः 'वाइसराय या गवर्नर की ही तरह प्रत्येक भारतीय नरेश को भी समूचे भारत की भलाई की चिन्ता होनी चाहिये' कथन की सत्यता

उसने स्वीकार की एवं अब वह भारतीय नरेशों के साथ अखिल भारतीय मामलों की विवेचना कर उनके सम्बन्ध में भी उनकी सलाह लेने लगा। अपने प्रति अंग्रेज़ों की नीति में यह परिवर्तन देख कर भारतीय नरेशों को बहुत सन्तोष एवं प्रसन्नता हुई। अखिल भारतीय मामलों में अपनी सलाह ली जाती देख कर उन्होंने अपने महत्त्व तथा विशेष गौरव का अनुभव किया। अतएव अन्य भारतीय नरेशों की ही तरह राजस्थानी नरेशों ने भी अंग्रेज़ सरकार के साथ पूर्ण सहयोग किया और जब सन् १९११ ई० में पुनः दिल्ली-दरबार का आयोजन होने लगा, तब उसे पूर्णरूपेण सफल बनाने के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किये। भारतीय इतिहास में प्रथम और अन्तिम बार इंगलैण्ड के नये बादशाह पंचम जार्ज ने दिल्ली में भारत-सम्राट् के पद पर आरूढ़ होकर अन्य भारतीय नरेशों के साथ ही राजस्थानी नरेशों का भी आत्म-समर्पण स्वीकार किया। परन्तु इस बार भी महाराणा फतेहसिंह ने अपनी टेक रख ली; दिल्ली में होकर भी न तो शाही जुलूस में वह सम्मिलित हुआ और न दरबार में ही उपस्थित हुआ; संसार ने आश्चर्य-चकित होकर मेवाड़ के उस बुझते हुए दीपक की वह अन्तिम चमक देखी।

सन् सत्तावन के विप्लव की विफलता के बाद भी भारत में अंग्रेज़ों के आधिपत्य का अन्त कर उसे स्वाधीन एवं स्वावलम्बी बनाने की भावना पूर्णतया लुप्त नहीं हो पाई थी। किन्तु तब अंग्रेज़ों के सीधे आधिपत्य वाले सारे भारतीय प्रान्तों की जनता को निरस्त्र कर दिया गया था, एवं पिछली विफलता की निराशा के साथ ही इस बेबसी ने भी वहाँ व्याप्त असंतोष की उस भावना को विशेष उभरने नहीं दिया। किन्तु यह वस्तु-स्थिति अंग्रेज़ अधिकारियों से छिपी हुई नहीं थी। उसका अधिक काल तक यों ही बना रहना

अंग्रेज़ों के लिये भी घातक जान कर उनमें से दूरदर्शी अधिकारी इस असंतोष के प्रदर्शन के लिये उपयुक्त शान्तिपूर्ण उपाय का आयोजन करने लगे। यों उनके ही प्रोत्साहन एवं निर्देशन से सन् १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना की गई, जिसका प्रधान उद्देश्य वैधानिक उपायों द्वारा अंग्रेज़ी साम्राज्य की छत्र-छाया में भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति के हेतु प्रयत्न करना था।

किन्तु तब भी निर्भीक धर्म-प्रचारकों एवं उग्र राष्ट्रवादी विचार वाले भारतीय नेताओं ने अंग्रेज़ों के आधिपत्य से पूर्ण स्वाधीनता-प्राप्ति की भावना की उस मंद चिनगारी को बुझाने नहीं दिया। पुनः बंग-भंग तथा लार्ड कर्ज़न की अन्य कार्यवाहियों के फलस्वरूप भारत के अंग्रेज़ी प्रान्तों में जो भीषण असंतोष तथा उग्र राजनैतिक हलचलें उत्पन्न हुई थीं, उनसे लाभ उठा कर भारतीय स्वाधीनता के कई अनन्य उपासक क्रान्तिकारी दलों का संगठन करने लगे। राजस्थान की जनता को तब भी निरस्त्र नहीं किया जा सका था। दयानन्द के उपदेशों ने राजस्थान के कई नवयुवाओं के हृदयों में जातीय आत्माभिमान पुनर्जाग्रत कर दिया था; वे अब अपनी शक्ति में एक अनोखे आत्मविश्वास का अनुभव करने लगे थे। श्यामजी कृष्ण वर्मा के समान उग्र क्रान्तिकारियों के समागम से उनके हृदयों में पराधीनता-वेदना तीव्रतर होती गई। एवं राजस्थान भी इन राजनैतिक आन्दोलनों और क्रान्तिकारी आयोजनों से अछूता नहीं रहा। जयपुर के ब्रजमोहन माथुर के नेतृत्व में 'अभिनव भारत समिति' नामक एक गुप्त क्रान्तिकारी संस्था की राजस्थानी शाखा संगठित की गई, और अजमेर से राष्ट्रीय पत्र निकालने के लिये भी दो बार विफल प्रयत्न किये गये। नवयुवकों

में देश-भक्ति और बलिदान की भावना जगाने का उल्लेखनीय काम जयपुर का विद्वान अर्जुनलाल सेठी करता था। परन्तु राजस्थान में इन सारे क्रान्तिकारी आन्दोलनों का प्राण था महाराणा फतेहसिंह का सुविख्यात उद्बोधक बारहठ केसरीसिंह, जिसको खरवा के राव गोपालसिंह तथा ब्यावर के दामोदरदास राठी का पूर्ण सहयोग प्राप्त होता रहता था।

बंगाल, महाराष्ट्र, आदि अंग्रेज़ों के अधिकृत प्रान्तों में कई वर्ष तक बड़े ज़ोर से चलने के बाद वहाँ स्वदेशी-आन्दोलन धीरे धीरे मन्द पड़ने लगा और उसके साथ ही राजस्थान में किये जाने वाले ये सारे क्रान्तिकारी आयोजन भी सन् १९०८ ई० के बाद शिथिल होते गये। राजस्थान में यत्र-तत्र कुछ राजनैतिक जाग्रति उत्पन्न करने के अतिरिक्त इन सारे प्रयत्नों का कोई भी प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। इस स्वदेशी आन्दोलन की गूँज राजस्थान के दक्षिण-पश्चिमी भाग में अवश्य सुन पड़ी। स्वदेशी-प्रचार, शिक्षा-विस्तार, आदि सदुद्देश्यों से सन् १९०५ ई० में एक 'सम्प सभा' की स्थापना सिरोही राज्य में हुई थी, किन्तु विशेष राजकीय कानून द्वारा तीन वर्ष वाद वह बंद कर दी गई। इसके कुछ वर्ष बाद बाँसवाड़ा के भील-प्रधान पश्चिमी प्रदेश के भीलों में भी राजनैतिक हलचल प्रारंभ हुई; स्वामी गोविन्द उन भीलों का नेता था। अंग्रेज़ों के दबाव पर सैनिक कार्यवाही द्वारा इस आन्दोलन को दबा दिया गया। ऐसे प्रयत्नों के प्रति अंग्रेज़ों के इस सुस्पष्ट विरोध के कारण उनका प्रत्यक्ष समर्थन करने का साहस किसी को नहीं हुआ।

देशी राज्यों के प्रति अंग्रेज़ों की विश्वास और सहयोग की इस नवीन नीति के फलस्वरूप सन् १९०६ ई० के बाद शासन सम्बन्धी सुधारों की प्रगति कुछ समय के लिए मंद हो गई। उदयपुर, बूंदी,

आदि कई एक राज्यों में अभी पूर्ण सुधार की आवश्यकता थी। आर्थिक कठिनाइयों के कारण राजस्थान के छोटे-छोटे राज्यों में भी शासन-सुधार यदा-कदा तथा अनिश्चित गति से ही हो सकते थे। अपनी-अपनी परिस्थितियों तथा वहाँ के वातावरण के अनुसार अपने-अपने राज्यों में समुचित राजनैतिक प्रणाली अपनाने एवं उसे ही परिपूर्ण करने की पूरी स्वतन्त्रता अब अंग्रेज़ सरकार ने नरेशों को दे दी थी। पुनः देश-काल की बदलती हुई परिस्थिति के फलस्वरूप अंग्रेज़ सरकार के साथ ही नरेशों और राज्यों की जनता का ध्यान दूसरी ही ओर आकर्षित होने लगा था, एवं शासन-संगठन सम्बन्धी सुधारों को अब तक जो महत्त्व दिया जाता था, वह उन्हें आगे नहीं दिया गया। किन्तु प्रायः सारे ही बड़े-बड़े राज्यों में शासन का बहुत-कुछ ढाँचा नए ढंग का बनाया जा चुका था या उसी आदर्श को लेकर बाकी रहे राज्यों में भी धीरे धीरे प्रयत्न किये जा रहे थे।

लार्ड मिण्टो के समय में राजस्थानी नरेशों को भी यह आश्वासन दिया गया था कि पाश्चात्य राजनैतिक आदर्शों का अनुकरण किये जाने के लिए उन पर किसी भी प्रकार का दबाव नहीं डाला जावेगा, किन्तु बीकानेर के नवयुवा परन्तु दूरदर्शी महाराजा गंगासिंह ने समय की गति को पहिचाना। उसे सुस्पष्ट रूपेण यह देख पड़ा कि देशी राज्यों में भी प्रजातन्त्रीय ढंग के उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की स्थापना के लिए आगे-पीछे माँग की जावेगी, और तब अंग्रेज़ों की ओर से कोई दबाव न होते हुए भी अपने प्रजा को सन्तुष्ट रखने तथा भारतीय विचारशील राजनीतिज्ञों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उसे इस नए पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा। अतएव सन् १९१२ ई० में अपने शासन-काल की रजत-जयन्ती के उत्सव के समय जब

राजस्थान में अन्य किसी ने भी इसका विचार तक नहीं किया था, तब महाराजा गंगासिंह ने बीकानेर राज्य में प्रतिनिधि-सभा (रिप्रेज़ेण्टेटिव असेम्बली) की स्थापना की घोषणा कर अगले वर्ष उसके प्रथम अधिवेशन का उद्घाटन किया। राजस्थान में ही नहीं सारे उत्तरी भारत के राज्यों में तब अपने ढंग की यह एकमात्र संस्था थी। किन्तु बीकानेर की प्रजा में शिक्षा का प्रचार बहुत ही धीरे-धीरे बढ़ रहा था और वहाँ के सुदृढ़ सामन्तशाही संगठन में ऐसी प्रजातन्त्रीय संस्था का शीघ्रतापूर्वक विकसित होना संभव भी न था। एवं उक्त सभा की स्थापना द्वारा सर्व-साधारण में बीकानेर के जिस उज्ज्वल वैधानिक विकास की आशा बँधी थी, वह पूरी नहीं हो पाई। यों राजनैतिक कारणों से महाराजा गंगासिंह के इस प्रगतिशील प्रथमारंभ का ठीक-ठीक महत्त्व कभी भी नहीं आँका गया। किन्तु उसकी ऐसी प्रारम्भिक अपूर्णता या बाद में होने वाले विकास में उचित गतिशीलता के अभाव के कारण ही ऐसी घटनाओं का ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं होता है, और प्रदेश या समाज के क्रमिक विकास में कई एक महत्त्वपूर्ण आवश्यक कड़ियों के रूप में वे अपना उचित स्थान लेती हैं।

युगान्तर काल के प्रारम्भ से ही आगे होने वाले अनेकों महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का बीज बोया जाने लगा था। पिछले पचास वर्षों के निकटतम सम्पर्क तथा कोई तीस वर्षों की अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रारम्भिक प्रभाव अब भारतीय नरेशों में भी सुस्पष्ट देख पड़ने लगे थे। मेयो कालेज में शिक्षा पाकर तथा अंग्रेज़ अभिभावकों की देख-रेख में रह कर वे अब अंग्रेज़ों से दूर भागते न थे। वे अंग्रेज़ों के साथ सम्पर्क बढ़ा, उनकी नीति, उनके तरीकों, आदि को समझ कर उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाने को उत्सुक हो गए। इस नई पीढ़ी के नरेशों पर अब भी उनकी प्राचीन राजकीय परम्परा का प्रभाव पूर्णतया विलीन नहीं हो पाया था,

एवं कई राज्य-शासन और राजनैतिक मामलों में भी दिलचस्पी लेते थे। उन्होंने अपनी परिस्थिति को ठीक तरह समझा बूझा। राजनैतिक मामलों में अपनी विवशता के साथ ही वे अपने सच्चे महत्त्व को भी बहुत-कुछ जान गए। पिछले संगठन काल में अंग्रेज़ों ने देशी राज्यों के साथ जो नीति बरती थी, उससे यद्यपि उन राज्यों के निजी अधिकारों पर आघात पहुँचा था, किन्तु अब वे भारत के अविभाज्य अंग बन गये थे, तथा भारत के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक मामलों में देशी राज्यों का अपना एक विशेष स्थान बन गया था। भारत-सम्राट्, इंगलैण्ड के बादशाह के प्रति अपनी अटल राजभक्ति का परिचय देकर प्रत्येक युद्ध के समय उन्होंने धन-जन के साथ ही अपनी निजी सेवाओं द्वारा भी साम्राज्य की पूरी-पूरी सहायता की थी। राज्यों के ज़ब्त किये जाने की अब कोई संभावना ही नहीं रह गई थी, एवं अपने कर्तव्यों के साथ ही साथ अब नरेशों को अपने अधिकारों तथा विशिष्ट गौरव का भी ध्यान आने लगा। साम्राज्य तथा अखिल भारत के लिए उन्हें जो आर्थिक हानियाँ उठानी पड़ी थीं, वे भी अब सुस्पष्ट रूपेण उन्हें देख पड़ने लगीं। इस नई पीढ़ी के राजस्थानी नरेशों में बीकानेर का महाराजा गंगासिंह, अलवर का महाराजा सवाई जयसिंह, आदि कुछ नरेश ऐसे भी थे जिन्होंने साम्राज्य की सेवा में दूर-दूर देशों की यात्रा की थी, और जिनकी योग्यता का लोहा अंग्रेज़ भी मानते थे। अतएव अपनी नीति बदल कर जब लार्ड मिण्टो नरेशों की मित्रता और सहायता के लिये उत्सुक हुआ, तब इन नरेशों ने उससे पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया।

विभिन्न नरेशों और राज्यों को अलग-अलग रखने की अंग्रेज़ों की अब तक की नीति का भी अन्त होने लगा था। समय-समय पर जो दरबार होते रहते थे, वहाँ एकत्र हो नरेश आपस में मिलते-जुलते

थे। मेयो कोलेज में साथ-साथ पढ़ने तथा खेल-कूद में सम्मिलित होने से नरेशों में आपसी मेल-मिलाप होना स्वाभाविक ही था। मेयो कालेज के शासन-प्रबन्ध में भी अब नरेशों को सम्मिलित किया गया, जिससे उनके आपस में मिलने-जुलने के लिए अधिकाधिक अवसर आने लगे। ऐसे अवसरों पर महत्त्वपूर्ण राजकीय मामलों पर विचार-विनिमय भी होने लगा। यों धीरे धीरे विभिन्न नरेशों में पारस्परिक एकता की भावना उत्पन्न होने लगी। लार्ड मिण्टो ने पुनः नरेशों की परिषद (काउन्सिल ऑफ़ प्रिन्सेज़) की स्थापना का प्रस्ताव किया, किन्तु इस बार भी इंगलैण्ड की सरकार ने उसे स्वीकार नहीं किया। परन्तु नरेशों की सम्मिलित सलाह लेने की नीति अब सर्व-स्वीकृत बात हो गई और सन् १९१६ ई० के बाद तो विभिन्न मामलों पर उनकी सलाह लेने के लिए उन्हें प्रति वर्ष दिल्ली में एकत्रित भी किया जाने लगा।

नरेशों के इस सम्मिलित विचार-विनिमय के साथ ही उनमें नेतृत्व का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ। उदयपुर के राजघराने के ऐतिहासिक महत्त्व के साथ ही अपनी व्यक्तिगत दृढ़ता के कारण भी राजस्थान में महाराणा फतेहसिंह का विशेष आदर किया जाता था, किन्तु वह इस नई राजनीति से पूर्णतया अनभिज्ञ था; पुनः अपनी वंश-परम्परागत नीति का अनुसरण कर उसने मेल-मिलाप में पुराने तरीकों को पूरी कड़ाई के साथ बरतने तथा राजनैतिक मामलों में पूर्णतया पृथक रहने का ही मार्ग पकड़ा, जिससे ऐसे महत्त्वपूर्ण युगान्तर काल में राजस्थान का राजनैतिक नेतृत्व उदयपुर के राजघराने के हाथ से सर्वदा के लिए निकल गया। इस समय राजस्थानी नरेशों में बीकानेर का महाराजा गंगासिंह ही सबसे चतुर तथा सुयोग्य था, एवं वह शीघ्र ही राजस्थान के ही नहीं भारत के नरेशों का भी सबसे

अधिक माना जाने वाला प्रमुख नेता बन गया। महाराजा गंगासिंह को यह महत्त्व प्राप्त होना बीकानेर के लिए ही नहीं राजस्थान के लिए भी एक गौरव की बात होनी चाहिये थी, परन्तु दुर्भाग्यवश महाराजा गंगासिंह का यह नेतृत्व राजस्थानी राजनीति के लिए विषरूप प्रमाणित हुआ। राजस्थानी नरेशों ने विगत इतिहास से कोई भी शिक्षा नहीं ली थी। अपने राज्यदत्त या व्यक्तिगत सापेक्षिक महत्त्व तथा अपनी पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा को वे नहीं भुला सके। राजस्थान के तीनों प्रमुख राज्यों ने कभी भी महाराजा गंगासिंह का हृदय से साथ नहीं दिया। अपने प्रान्त में ही उठने वाले इस विरोध के कारण उसके सारे जीवन-काल में राजस्थान की राजनीति पूर्णतया अनिश्चित तथा गतिहीन ही रही।

नरेशों को अब यह स्पष्ट देख पड़ने लगा कि राजनैतिक दृष्टि से विभिन्न होते हुए भा भौगोलिक एवं आर्थिक दृष्टि से उनके राज्य तथा भारतीय अंग्रेज़ी प्रान्त भारत के सर्वथा अविभाज्य अंग थे, और इन प्रान्तों के साथ उनके राज्यों का समुचित आर्थिक सम्बन्ध स्थापित होने पर ही उनके राज्यों की भावी समृद्धि निर्भर थी। पुनः सभूचे भारत को एक आर्थिक संगठन में जकड़ देने की अंग्रेज़ों की नीति का परिणाम यह हुआ था कि बाह्य सुरक्षा, आयात-निर्यात-कर, मुद्रा-विनिमय, अफ़ीम, नमक, रेल, डाक-तार, आदि जिन सर्व-साधारण केन्द्रीय विषयों में विभिन्न प्रान्तों को कुछ भी दिलचस्पी थी, उन्हीं के साथ देशी राज्यों का भी गहरा सम्बन्ध था। अतएव इन मामलों सम्बन्धी अखिल भारतीय नीति निश्चित करते समय राज्यों के हानि-लाभ का भी पूरा-पूरा विचार करवाने तथा अन्य महत्त्वपूर्ण मामलों में भी देशी नरेशों की सलाह ली जाने के लिए भारतीय नरेशों की ओर से मार्च, १९१४ ई० में महाराजा गंगासिंह ने विशेष रूपेण आग्रह

किया । लार्ड हार्डिंग ने उनके इस प्रस्ताव को स्वीकार कर नरेशों सम्बन्धी मामलों में समय-समय पर उनकी सम्मिलित सलाह लेते रहने का आश्वासन दिया। इसके कुछ ही समय बाद युरोप में महायुद्ध छिड़ गया, जिसमें राजस्थान के कई नरेशों ने स्वत: भाग लिया, और प्राय: सभी राज्यों ने साम्राज्य को धन और सेना की पूरी-पूरी सहायता दी । नरेशों ने साम्राज्य के हानि-लाभ के साथ अपना इतना घना हितैक्य प्रदर्शित किया कि नए वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड को सन् १९१६ ई० में नरेशों का प्रथम सम्मेलन करना ही पड़ा। भारतीय नरेशों का महत्त्व अब बढ़ रहा था। साम्राज्य की पहली युद्ध-परिषद तथा बाद में वर्साई की सन्धि-परिषद में भारतीय नरेशों के प्रतिनिधि के रूप में महाराजा गंगासिंह भी सम्मिलित हुआ ।

स्वदेशी आन्दोलन के शिथिल हो जाने के बाद भी क्रान्तिकारियों के गुप्त प्रयत्न धीरे-धीरे चलते ही रहे और सन् १९११ ई० के दिल्ली-दरबार के बाद तो उन्होंने सशस्त्र राजनैतिक क्रान्ति के लिये तैयारियाँ भी प्रारम्भ कर दीं। राजस्थान में तब भी शस्त्र-कानून लागू नहीं था तथा उच्च आदर्शों के लिये मर मिटने के लिये तत्पर हज़ारों राजपूत वीर राजस्थान में ही मिल सकते थे, एवं ऐसी तैयारियों के लिये उन्हें राजस्थान ही सब से उपयुक्त क्षेत्र प्रतीत हुआ। वहाँ 'वीर भारत सभा' नामक एक गुप्त सैनिक संगठन खड़ा किया गया । राजपूत नरेशों, जागीरदारों, आदि के साथ ही राजस्थान के सैनिकों तथा अन्य साधारण राजपूतों के साथ भी सम्पर्क स्थापित करने के लिये प्रयत्न होने लगे। बारहठ केसरीसिंह और राव गोपालसिंह के साथ अब कई अन्य साहसी नवयुवा भी आ जुटे थे, जिनमें भूपसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो बाद में बिजयसिंह पथिक के नाम से सुज्ञात

हुआ। राजस्थान में शस्त्रास्त्रों का संग्रह भी किया जाने लगा।

किन्तु इन सारे आयोजनों के लिये अत्यावश्यक पर्याप्त धन नहीं प्राप्त हो रहा था, एवं बंगाली क्रान्तिकारियों की देखा-देखी राजस्थान के भी कुछ क्रान्तिकारियों ने तदर्थ राजनैतिक डाके डाले। नीमज़ और कोटा के हत्या-काण्डों से भी विशेष धन प्राप्त नहीं हुआ, किन्तु तदन्तर अर्जुनलाल सेठी की जैन पाठशाला की ओर पुलिस का ध्यान आकर्षित होने लगा। सन् १९१४ ई० के प्रारम्भ में अर्जुनलाल जयपुर से इन्दौर चला गया, परन्तु उसे संदेह में वहाँ क़ैद कर लिया गया और उसके विरुद्ध कोई अपराध प्रमाणित न होने पर भी अगले पाँच वर्ष तक अंग्रेज़ों ने उसे नज़रबन्द ही रखा। कोटा हत्या-काण्ड के मामले में केसरीसिंह बारहठ भी क़ैद कर लिया गया था; उसे भी कइ वर्षों तक तब जेल से छुटकारा नहीं मिला।

सशस्त्र राज्य-क्रान्ति के लिये तैयारियाँ तब भी चलती ही रहीं। अगस्त, १९१४ ई० में प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने से क्रान्तिकारियों की आशाएँ और भी बढ़ गईं। किन्तु ठीक समय पर इन सब आयोजनों का भेद खुल जाने से ये सारे प्रयत्न विफल हुए। राजस्थान में इन आयोजनों के नेता राव गोपालसिंह और भूपसिंह भी पकड़ लिए गये। एक बार जेल तोड़ कर भी गोपालसिंह को पुनः आतम-समर्पण करना पड़ा और युद्ध की समाप्ति तक वह नज़रबन्द ही रहा। किन्तु जेल से भाग कर भूपसिंह दूसरी बार नहीं पकड़ा गया, और तब कुछ समय बाद वह अपने नये बिजयसिंह पथिक नाम से पुनः राजस्थान के राजनैतिक आन्दोलन-क्षेत्र में उतरा। उधर रासबिहारी बोस, शचीन्द्रनाथ सान्याल, आदि क्रान्तिकारियों के साथ क्रियात्मक सहयोग देने के

अपराध में बारहठ केसरीसिंह के पुत्र प्रतापसिंह को भी क़ैद कर कठोर और दीर्घ कारावास का दण्ड दिया गया (फरवरी, १९१६ ई०), जिससे कुछ समय बाद जेल में ही उसकी मृत्यु हो गई। सारे ही प्रमुख क्रान्तिकारी नेताओं के न रहने से सशस्त्र क्रान्ति के लिये राजस्थान में किये जाने वाले सारे प्रयत्नों का अन्त हो गया। इसके बाद दो-एक बार सतत प्रयत्न करने पर भी पुनः राजस्थान में क्रान्तिकारी संगठनों की स्थापना संभव नहीं हो सकी।

ऐसे विफलतापूर्ण निराशामय वातावरण में भी जनता के नव-जागरण की अत्यधिक क्षीण शुभ्र रेखाएँ दूसरी ही दिशा में यदा-कदा देख पड़ने लगी थीं। मेवाड़ के पूर्वी प्रदेश में बीजोलियाँ के किसान सन् १९१३ ई० से ही ठिकाने की लाग-बेगार आदि के प्रश्नों को लेकर आन्दोलन कर रहे थे। सन् १९१५ ई० के अन्त तक पथिक भी बीजोलियाँ पहुँच गया और वहाँ एक पाठशाला खोलने के साथ ही उसने युवकों की सेवा-समिति भी बनाई। राजकीय दमन से बचने के हेतु सात माह बाद पथिक को मेवाड़ छोड़ देना पड़ा। किन्तु तब भी मेवाड़ की पूर्वी सीमा पर कोटा राज्य में गुप्त रूप से रह कर वहाँ ही से वह बीजोलियाँ के इस आन्दोलन का संचालन करता रहा। राजस्थान के किसानों में जन-जाग्रति एवं संघर्ष के लिये आवश्यक संगठन का प्रथम सूत्रपात यों पथिक के हाथों बीजोलियाँ में तब हुआ। अनजाने ही तब वहाँ प्रारम्भ होने वाली इस सर्वथा नई राजनैतिक प्रवृत्ति का आगे चल कर राजस्थान में अन्यत्र भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। यह संघर्ष इसी तरह थोड़ा-बहुत सन् १९२२ ई० तक चलता रहा, किन्तु तब तक भारत के राजनैतिक क्षेत्र में अनेकों नई शक्तियों

के प्रवेश से सारी परिस्थिति ही बदल गई थी ।

उधर भारतीय अंग्रेज़ी शासन में नए राजनैतिक तथा वैधानिक सुधारों के लिए जब सन् १९१७ ई० में बात-चीत होने लगी, तब महाराजा गंगासिंह के नेतृत्व में भारतीय नरेशों ने इस बात के लिए विशेष आग्रह किया कि उनका भी कोई संगठन बन जाना चाहिये, जिससे कि उनके राज्यों के हानि-लाभ वाली बातों में उनका भी कथन सुना जा सके । उनकी इसी माँग के फलस्वरूप अन्त में 'नरेन्द्र-मण्डल' की स्थापना हुई, जो परामर्श-दातृ संस्था से अधिक नहीं बन सकी । नरेन्द्र-मण्डल की स्थापना से नरेशों को सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि अब उन्हें सुसंगठित रूप में सम्मिलित होकर विचार-विनिमय करने का पूरा अवसर मिला और यों वे पुन: भारतीय राजनीति में एक महत्त्वपूण पक्ष के रूप में प्रविष्ट हुए ।

नरेशों की इस नई राजनैतिक चाल का आगे चल कर कितना अधिक प्रभाव पड़ने वाला था, यह संभवत: बहुत ही कम को तब सूझा होगा । अपने राज्यों के आन्तरिक शासन सम्बन्धी जो पूर्ण स्वाधीनता नरेशों को प्राप्त थी और जिसे वे किसी भी प्रकार छोड़ने को तैयार न थे, उसी के कारण उनके लिए यह अत्यावश्यक हो जाता था कि वे भारतीय अंग्रेज़ी प्रान्तों के मामलों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करें । सन् १९१८ ई० में तो दोनों ही पक्ष वालों का यह सच्चा विश्वास एवं पक्का निश्चय था कि वे अपनी-अपनी राजनैतिक सीमाओं को पार कर दूसरों के निजी मामलों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेंगे । किन्तु विचारों तथा आदर्शों की दुनिया में किसी भी प्रकार की भौगोलिक सीमाएँ नहीं होती हैं, और वहाँ राजनैतिक मतों या शासकीय बन्धनों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है । पारस्परिक संयम की इस नीति का यद्यपि दोनों ओर से अक्षरश:

पालन किया जा रहा था, किन्तु इधर कुछ समय से नवीन आदर्शों तथा नूतन विचारों का एक प्रवाह अदृष्ट रूपेण धीरे-धीरे राज्यों में फैल रहा था ।

वैधानिक उपायों द्वारा धीरे-धीरे भारत की स्वाधीनता को पुनः प्राप्त करने के लिए स्थापित भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने जीवन के प्रारम्भिक तीस वर्षों में केवल एक बार ही देशी राज्यों के मामलों में कुछ दिलचस्पी ली, और तब सन् १८९६ ई० में झालावाड़ के राज राणा ज़ालिमसिंह के पदच्युत किये जाने के अवसर पर उसने प्रस्ताव द्वारा अंग्रेज सरकार से इस बात का आग्रह किया कि सार्वजनिक अदालत की पूरी जाँच बिना किसी भी नरेश को भविष्य में यों गद्दी से नहीं उतारा जावे । किन्तु कांग्रेस के नेता जिन प्रजातन्त्रीय विचारों का प्रचार कर रहे थे, उनका देशी राज्यों में न पहुँचना एक सर्वथा असम्भव बात थी। कांग्रेस की कार्यवाही का परोक्ष रूपेण देशी राज्यों पर भी प्रभाव पड़ने लगा और अंग्रेज़ी-हिन्दी के समाचार-पत्र वहाँ भी राष्ट्रीय आदर्शों एवं उग्र विचारों का प्रचार करने लगे । राजस्थान में तो अजमेर का ज़िला सारे राज्यों के मध्य में स्थित राष्ट्रीय कांग्रेस का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनता जा रहा था, और वहाँ धीरे-धीरे सार्वजनिक कार्य-कर्ताओं का भी एक दल तैयार होने लगा । क्रान्तिकारियों के महायुद्ध-कालीन प्रयत्नों से भी उन्हें नवीन स्फूर्ति प्राप्त हुई थी, एवं दिसम्बर, १९१८ ई० में जब कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन दिल्ली में हुआ, तब वहाँ उपस्थित राजस्थान और मालवा के राज्यों के निवासी भी राष्ट्रीय भावना से उद्वेलित हो उठे, तथा पथिक, गणेशशंकर विद्यार्थी, चाँदकरण शारदा, जमनालाल बजाज़, आदि के प्रयत्नों से तब वहीं 'राजपूताना-मध्यभारत सभा' नामक सार्वजनिक संस्था

की स्थापना हुई । इसके एक वर्ष बाद बिजयसिंह पथिक और रामनारायण चौधरी ने वर्धा में 'राजस्थान सेवा-संघ' स्थापित किया, जो अगले वर्ष अजमेर आ गया । कुछ ही वर्षों के अन्तर से तब अजमेर में दो राजनैतिक सम्मेलन भी किये गये । पुनः राजस्थानी जनता की समस्याओं की विवेचना कर उनमें जन-जाग्रति पैदा करने के लिये पहिले वर्धा से 'राजस्थान-केसरी' और बाद में अजमेर से 'नवीन राजस्थान' नामक साप्ताहिक पत्र निकाले गये ।

इन सारे प्रबल प्रयत्नों के फलस्वरूप अब राजस्थानी राज्यों के निवासियों के दृष्टि-कोण में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगा । जोधपुर शहर में अनेकानेक सार्वजनिक संस्थाओं की स्थापना हुई । जैसलमेर राज्य में अत्यावश्यक सुधारों के लिए प्रवासी जैसलमेरी माहेश्वरियों ने मान-पत्र के रूप में अपना एक 'माँग-पत्र' वहाँ के शासक को भेंट किया । मेवाड़ के अन्तर्गत पथिक के नेतृत्व में बीजोलियाँ ठिकाने के किसानों का विरोध चलता ही रहा । कोटा में भी 'राजस्थान सेवा-संघ' की शाखा खोली गई और नयनूराम के नायकत्व में बेगार बन्द करने के लिए प्रयत्न किए गए । मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व में मेवाड़ और सिरोही राज्यों के भीलों में आन्दोलन कर उनमें सामाजिक सुधार के लिए आयोजन किया गया । ईसा की बीसवीं सदी के प्रारंभ से ही राजस्थान में जन-साधारण का राजनैतिक नेतृत्व धीरे-धीरे वहाँ के नरेशों के हाथ से खिसकने लगा था, और अब तदर्थ ये सर्वथा दूसरे ही व्यक्ति सार्वजनिक नेता के रूप में उठने लगे । किन्तु इन नए नेताओं में समुचित अध्ययन, आवश्यक अनुभव, अनिवार्य राजनैतिक शिक्षण, सच्चे त्याग और जन-सेवा की सही भावनाएँ, आदि संतुलन-पूर्ण सारभूत

वास्तविक गुण न होने के कारण राजस्थान के इस नए सार्वजनिक नेतृत्व में तब से ही निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं। शीघ्रता के साथ निरन्तर बदलती हुई वहाँ की परिस्थितियों के सर्वथा उपयुक्त दूरदर्शी चतुर सुयोग्य सशक्त तपस्वी जन-तन्त्रीय नेताओं के अभाव में यह प्रक्रिया वहाँ चलती ही जा रही है और अत्यावश्यक स्थायित्व अब भी नहीं आ सका है।

महायुद्ध का अन्त होते-होते कांग्रेस का नेतृत्व विश्व-वन्द्य महात्मा गांधी के सुदृढ़ हाथों में आ गया था। उनका जन्म एक देशी राज्य में हुआ था, एवं वहाँ के निवासियों की राजनैतिक और आर्थिक परिस्थिति में उनकी दिलचस्पी होना स्वाभाविक ही था, जिससे आगे चल कर देशी राज्यों के प्रति कांग्रेस की नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन होते गये। दिसम्बर, १९२० ई० में नागपुर में होने वाले कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में जब राजस्थानी जनता की पुकार कांग्रेस के नेताओं तक पहुँची, तब तो कांग्रेस उसकी उपेक्षा नहीं कर सकी। उसने एक प्रस्ताव द्वारा राजाओं से प्रार्थना की कि वे अपनी-अपनी प्रजा को तुरन्त ही प्रतिनिधि-शासन प्रदान करें। उसी अधिवेशन में कांग्रेस के विधान में भी कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। कांग्रेस के ध्येय को बदल कर 'शांतिमय उचित उपायों से स्वराज्य प्राप्त करना' घोषित किया गया। पुनः कांग्रेस का प्रान्तीय संगठन भाषाओं के अनुसार किया गया, और अब अन्य देशी राज्यों के साथ ही राजस्थानी राज्यों की प्रजा को भी कांग्रेस का प्रतिनिधि बनने का अधिकार दिया गया। राजस्थान के प्रतिनिधि के रूप में ही तब जमनालाल बजाज़ कांग्रेस के नये विधान के अनुसार नियुक्त कार्य-कारिणी समिति के सदस्य बनाये गये और तब से एक तरह कांग्रेस के स्थायी कोषाध्यक्ष भी बने रहे।

महात्मा गाँधी के बढ़ते हुए प्रभाव और कांग्रेस की नीति में परिवर्तन के साथ ही राजस्थान के राजनैतिक नेता भी बदलने लगे। अपने राजपूत-प्रधान विचारों के कारण राव गोपालसिंह को यह नई राजनैतिक कार्य-प्रणाली किसी भी प्रकार रुचिकर न हुई और वह उससे उदासीन हो गया। एक वर्ष के लगभग 'राजस्थान-केसरी' का सम्पादन करने के बाद उस पत्र की किसान-मजदूर विषयक नीति सम्बन्धी मत-भेद होने पर बारहठ केसरीसिंह ने उसका सम्पादन-कार्य छोड़ दिया, और हिंसापूर्ण उग्र राजनीति का यह समर्थक भी धीरे-धीरे राजनैतिक क्षेत्र से दूर ही होता गया। उन दोनों के साथ ही राजस्थान के समस्त राजपूत समाज तथा उससे सम्बद्ध अन्य सारी योद्धा जातियों का भी प्रान्त तथा देश की इन सब राजनैतिक प्रवृत्तियों से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद हो गया और अब वे राजनीति से बिलकुल तटस्थ रहने लगे, जिससे आगे चल कर राजस्थान की प्रान्तीय राजनीति में भी कई एक अनुपेक्षणीय उलझनों का उठना सर्वथा अवश्यम्भावी हो गया।

राजस्थान के उन प्रमुख क्रान्तिकारी नेताओं में पथिक ने अवश्य नई राजनैतिक विचार-धारा को कुछ-कुछ अपनाया और महात्मा से असहयोग के कार्य-क्रम की प्रेरणा ली, जिससे तब भी चलने वाले बीजोलियाँ के किसानों के आन्दोलन पर भी सारे भारत-व्यापी असहयोग आन्दोलन का पूर्ण प्रभाव पड़ा। अन्त में बीजोलियाँ के किसानों को सफलता मिली और अंग्रेज़ी सरकार ने बीच में पड़ कर समझौता कराया जिसमें किसानों की अधिकतर माँगें मान ली गईं (मार्च, १९२२ ई०)। तब तक बेगूँ ठिकाने के किसानों के आन्दोलन ने भी उग्र रूप धारण कर लिया था; यह कशमकश कई वर्ष तक चलती ही रही। बीजोलियाँ के आन्दोलन की सफलता के फलस्वरूप

राजस्थान में गाँधी-वादी राजनैतिक नेताओं का महत्त्व बढ़ने लगा, जिससे सन् १९१९ ई० के बाद सशस्त्र क्रान्ति के लिये राजस्थान में पुनः कोई विशेष क्रियात्मक प्रयत्न नहीं किये गये।

राजस्थान की इतिहास-प्रसिद्ध आपसी फूट से अजमेर के गाँधी-वादी कांग्रेसी नेता भी अछूते नहीं रह सके, और उनकी इस निजी खींचा-तानी ने सन् १९२२ ई० के बाद वहाँ के सार्वजनिक जीवन को बहुत-कुछ चौपट कर दिया। तब 'राजस्थान सेवा-संघ' ही वहाँ की एकमात्र कर्त्तव्यनिष्ठ राजनैतिक संस्था रह गया। अजमेर में रह कर इस सेवा-संघ ने कोई ७–८ वर्ष तक राजस्थान की सर्व-साधारण जनता में जाग्रति के लिये उल्लेखनीय काम किया। परन्तु सन् १९२४ ई० में मेवाड़ राज्य द्वारा पथिक के क़ैद किये जाने के बाद इस सेवा-संघ का भी कार्य मंद पड़ता गया और उसके प्रति अजमेर के अन्य कांग्रेसीय राजनैतिक गुटों का विरोध भी बढ़ने लगा। सन् १९२८ ई० में क़ैद से छूटने के बाद पथिक महात्मा से मिला, किन्तु तब भी दोनों के पारस्परिक सहयोग का संतोषप्रद रास्ता नहीं निकल पाया। भीतरी मत-भेद भी बढ़ता जा रहा था, जिससे सन् १९२८ ई० में सेवा-संघ समाप्त हो गया, उसकी सारी शक्ति बिखर गई और उसके काम को आगे चलाने वाली वैसी कोई संस्था तब राजस्थान में नहीं रह गई। इधर अंग्रेज़ी सरकार की देखा-देखी विभिन्न राजस्थानी राज्यों ने भी सन् १९२४ ई० के बाद अपने यहाँ के आन्दोलनकारियों के प्रति कड़ाई की नीति अपनाई थी, जिससे राजस्थान में राजनैतिक जाग्रति का प्रवाह कई वर्षों के लिये सर्वथा रुक-सा गया। यही कारण था कि सन् १९३०–३१ ई० में चलने वाले अखिल भारतीय सत्याग्रह आन्दोलन के समय जब राजस्थान के विभिन्न राज्यों में भी आन्दोलन करने के लिये

यत्र-तत्र प्रयत्न किये गये, तब उनमें अपेक्षित उत्साहपूर्ण जन-जाग्रति तथा अत्यावश्यक नवीन स्फूर्ति का अभाव ही स्पष्टतया देख पड़ा।

उधर नरेन्द्र-मण्डल की भी स्थापना हो गई, और फरवरी, १९२१ ई० में उसका विधिवत् उद्घाटन हो गया। किन्तु अंग्रेज़ी सत्ता के साथ भारतीय नरेशों के सम्बन्ध का प्रश्न अभी तक पूरी तरह सुलझ नहीं सका था। नरेन्द्र-मण्डल के प्रथम चांसलर महाराजा गंगासिंह ने इसके लिए भरसक प्रयत्न किया, परन्तु तत्कालीन वाइसराय लार्ड रेडिंग (१९२१–२६ ई०) ने उसकी एक न चलने दी। आवश्यकतानुसार यदा-कदा देशी राज्यों में हस्तक्षेप करने की अंग्रेज़ों की नीति तब भी चलती ही रही। प्राचीन शासन-संगठन के फलस्वरूप होने वाली असुविधाओं के कारण उठने वाले व्यापारियों के असन्तोष तथा बीजोलियाँ-बेगूँ में चलने वाले किसानों के आन्दोलनों से लाभ उठा कर जुलाई, १९२१ ई० में अंग्रेज़ों ने वयोवृद्ध महाराणा फतेहसिंह को बाध्य किया कि मुख्य-मुख्य अधिकारों के अतिरिक्त सारा राज्य-कार्य वह अपने वयस्क युवराज को सौंप दे। लार्ड रेडिंग ने अन्य नरेशों के प्रति भी कठोरतापूर्ण आचरण किया और अपने राज्यों में राजनैतिक सुधार करने के लिए उसने बारंबार नरेशों को आग्रहपूर्वक कहा। सर्वोच्च सत्ता के रूप में भारतीय नरेशों पर अंग्रेज़ी आधिपत्य की सर्व-मान्यता एवं उसीके आधार पर उनके आन्तरिक निजी मामलों में भी हस्तक्षेप करने के अपने पूर्ण अधिकार को उसने सुस्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया। इन सब बातों के कारण नरेशों में तीव्र असन्तोष उत्पन्न हो गया था, जिसके फलस्वरूप उसके उत्तराधिकारी लार्ड अर्विन ने अपनी नीति बहुत-कुछ बदल दी। किन्तु उसने भी नरेशों को

सुस्पष्ट शब्दों में सलाह दी कि वे अपने राज्यों में इस प्रकार के शासन-सुधार कर दें, जिनसे नरेश सचमुच ही अपनी प्रजा के सर्व-मान्य सेवक तथा उनके हितों के एकमात्र विश्वस्त रक्षक बन जावें। इसी सलाह के अनुसार नरेन्द्र-मण्डल ने फरवरी, १९२८ ई० में एक प्रस्ताव पास कर आन्तरिक राजनैतिक शासन-सुधारों की आवश्यकता को स्वीकार किया, और आवश्यकतानुसार उचित स्वरूप में उन्हें अपने राज्यों में प्रचलित करने के लिए नरेशों से आग्रह भी किया गया। किन्तु इस प्रस्ताव को ठीक तरह कार्यरूप में परिणत करने का कभी भी अत्यावश्यक प्रयत्न नहीं किया गया। इन अनिवार्य सुधारों की पूर्ण उपेक्षा कर भारतीय नरेशों ने भयंकर भूल की तथा उनकी इसी अक्षम्य अदूरदर्शिता के कारण ही आगे चल कर उन्हें सर्वनाश का सामना करना पड़ा। उन्होंने अपनी प्रजा को अपने साथ न लेकर एकाकी ही अंग्रेज़ी सरकार तथा राष्ट्रीय कांग्रेस, आदि भारतीय राजनैतिक दलों को भी एक साथ ललकारा। ये दोनों ही प्रमुख विरोधी पक्ष नरेशों की सारी कमज़ोरियों को अच्छी तरह जानते थे, एवं राजनैतिक मामलों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण अवसरों पर प्रायः नरेशों की उपेक्षा ही की और समय आने पर उन्हें दबाने में उनके सामने कोई कठिनाई उपस्थित नहीं हुई।

किन्तु तब तो नरेशों ने इस प्रस्ताव का ठीक-ठीक महत्त्व कदापि नहीं समझा था, और न यह सब समझने-बूझने का उन्हें अवकाश ही था। सन् १९२७ ई० से समूचे भारत में एक प्रचण्ड राजनैतिक दौर चला जो पूरे बारह वर्ष बाद द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने पर ही कहीं कुछ रुका। भारतीय नरेश भी उसी में खिच गए और उसी की समस्याओं में पूरी तरह उलझ रहे। पहिले 'इण्डियन स्टेट्स कमिटी' की नियुक्ति हुई, जो बटलर कमिटी के नाम से अधिक सुज्ञात है।

सन् १९३० इ० से गोल-मेज़ कान्फ्रेन्सें होने लगीं। महाराजा गंगासिंह ने इन सब में प्रमुख भाग लिया। प्रथम गोल-मेज़ कान्फ्रेन्स के प्रारम्भ में ही भारतीय नरेशों की ओर से यह घोषित करके कि देशी राज्य भी अखिल भारतीय संघ में सम्मिलित होंगे, उसने देशी राज्यों के भविष्य की समस्या को सुन्दर ढंग से सुलझाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया था। परन्तु सन् १९३५ ई० का नया भारतीय शासन-विधान बनने के बाद भी संघ-शासन को स्थापना नहीं होने पाई। अपने-अपने विशिष्ट कारणों से राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ ही भारतीय नरेशों ने भी तब इस शासन-विधान को अस्वीकार कर दिया। इस शासन-विधान को लेकर बात-चीत चल ही रही थी, जब एकाएक विश्व-व्यापी द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया। उस समय संघ-शासन की स्थापना न होना भारत के लिए बहुत ही हानिकारक प्रमाणित हुआ और आगे चल कर भारत के विभाजन की संभावना का भी उद्भव हुआ, जो अन्त में कठोर सत्य के रूप में परिणत होकर ही रही।

भारतीय नरेश, उनके मन्त्री-गण तथा अन्य सलाहकार जब यों भारत तथा अपने राज्यों के भावी स्वरूप को निश्चित करने के लिए प्रयत्नशील थे, उसी समय उन्हीं के पैरों तले की धरती अदृष्ट रूपेण धीरे धीरे खिसकती जा रही थी। राजस्थानी प्रजा में दिनोंदिन जाग्रति हो रही थी, और वे कांग्रेस के सुप्रसिद्ध नेताओं की बातों पर अधिकाधिक ध्यान देने लगे थे। देशी राज्यों की तत्कालीन राजनैतिक परिस्थिति के विरुद्ध राजस्थानी जनता में भी असन्तोष उत्पन्न होने लगा था। देशी राज्यों के प्रति कांग्रेस की नीति में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होता जा रहा था। सन् १९२७ ई० में कांग्रेस ने राज्यों की जनता को आश्वासन दिया कि उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की प्राप्ति के लिए किए गए उनके उचित और शान्तिपूर्ण प्रयत्नों

में उसकी सहानुभूति तथा सहायता रहेगी। किन्तु इसका राजस्थान पर तत्काल ही कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। केवल जयपुर में सन् १९३१ ई० में प्रथम बार प्रजा-मण्डल की स्थापना हुई, और अगले कुछ वर्षों तक तो वह भी अधिक सक्रिय नहीं बन सका। किन्तु सन् १९३५ ई० में भारत के नए शासन-विधान के बन जाते ही एकाएक राजस्थान में सर्वत्र नवीन राजनैतिक जाग्रति के चिह्न देखे पड़ने लगे। देशी राज्यों की जनता की आवाज़ उठाने के लिए अमृतलाल सेठ, आदि व्यक्तियों द्वारा सन् १९२७ ई० में स्थापित 'अखिल भारतवर्षीय देशी राज्य लोक-परिषद' का प्रभाव भी धीरे धीरे राजस्थानी राज्यों में बढ़ता जा रहा था। फरवरी, १९३८ ई० में हरिपुरा के अधिवेशन में कांग्रेस ने देशी राज्यों के सम्बन्ध में अपनी स्थिति स्पष्ट कर दी, और वहाँ पृथक संगठन कायम करने का आदेश दिया। अब तो विभिन्न राज्यों में प्रजा-मण्डलों की स्थापना के लिए भरसक प्रयत्न होने लगे।

इस समय राजस्थान की राजनीति का स्वरूप बहुत ही विचित्र बना हुआ था। तीनों प्रमुख राज्यों पर अंग्रेज़ अधिकारियों का पूर्ण सर्व-व्यापी प्रभाव बना हुआ था, उन्हीं की सलाह के अनुसार वहाँ की सारी राजनीति निर्धारित की जाती थी। इनके अतिरिक्त अलवर, बूंदी, टोंक, किशनगढ़, आदि राज्यों में भी अंग्रेज़ अधिकारी या उनके नियुक्त व्यक्ति ही प्रधान मन्त्रित्व कर रहे थे। ऐसी हालत में इन सारे राज्यों से किसी भी प्रकार की प्रगतिशील नीति की आशा करना व्यर्थ था। एक सुयोग्य, दूरदर्शी एवं अनुभवी शासक होते हुए भी तब महाराजा गंगासिंह समय की गति तथा उसकी द्रुत परिवर्तनशीलता को ठीक तरह नहीं समझ रहा था, एवं उसने भी अपने शासन-काल की प्रारम्भिक दूरदर्शिता इस समय

नहीं दिखाई और दमनपूर्ण सुदृढ़ शासन की नीति को ही अपनाया। राजस्थान के बाकी रहे शासक या तो राजनीति से सर्वथा उदासीन थे या उन्होंने भी अन्य शासकों की ही नीति का अनुकरण किया। यह राजस्थान का दुर्भाग्य ही था कि वहाँ के कई एक सुयोग्य नवयुवा शासकों ने भी समय की गति को नहीं पहिचान कर अनुदार नीति को ही अपनाया; उनकी यही प्रवृत्ति आगे भी बनी रही और अन्त में उनके लिए अभिशाप-स्वरूप प्रमाणित हुई। एवं इस समय प्रजा में बढ़ती हुई इस जाग्रति तथा उसकी संगठन-प्रवृत्ति को दबाने के लिए राजस्थानी नरेशों ने अंग्रेज़ अधिकारियों की सलाह के अनुसार अपने राज्यों में 'सार्वजनिक संस्था कानून' (पब्लिक सोसाइटीज़ एक्ट) प्रचलित कर प्रजा-मण्डलों की स्थापना में बाधा डालने का भरसक प्रयत्न किया। किन्तु इन सब बाधाओं के होते हुए भी सन् १९३८ ई० तक जोधपुर, मेवाड़, अलवर, जैसलमेर, शाहपुरा, आदि राज्यों में प्रजा-मण्डल स्थापित हो गए। इस समय कई राजस्थानी राज्यों के अधिकारियों तथा वहाँ के प्रजा-मण्डलों में बड़ी कशमकश चल रही थी। जयपुर में सत्याग्रह हुआ और सिरोही में भी बहुत दमन किया गया, किन्तु अन्त में समझौता करते समय दोनों ही राज्यों को प्रजा की बहुत-कुछ माँगें स्वीकार करनी पड़ीं। किन्तु दूसरे राज्यों में भी उन दिनों चलने वाले सत्याग्रह आन्दोलन प्रायः विफल ही हो रहे थे, और उनसे कोई विशेष राजनैतिक लाभ नहीं हो सका, एवं महात्मा गांधी को भी आदेश देना पड़ा कि ऐसे सत्याग्रह तब नहीं किये जावें। सन् १९३९ ई० में कांग्रेस के भूत-पूर्व अध्यक्ष एवं प्रमुख नेता पं० जवाहरलाल नेहरू को 'देशी राज्य लोक-परिषद' का अध्यक्ष बनाया, जिससे इस परिषद का राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ घना सम्बन्ध स्थापित हो गया।

अब परिषद का प्रभाव बहुत बढ़ गया और सारे प्रजा-मण्डल उससे ही सम्बद्ध होने लगे।

इसी वर्ष प्रथम बार छोटे-छोटे राज्यों के समूहीकरण का प्रश्न उठाया गया। तत्कालीन वाइसराय लार्ड लिनलिथगो के आदेशानुसार स्थानीय अंग्रेज़ अधिकारियों ने इसकी चर्चा राजस्थान के छोटे राज्यों के शासकों से की, परन्तु उन्होंने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। 'देशी राज्य लोक-परिषद' ने भी अपने लुधियाना वाले अधिवेशन में बीस लाख से कम आबादी या पचास लाख से कम आमदनी के राज्यों के पड़ोसी प्रान्तों में मिलाए जाने की माँग की थी। उस समय तो इस बारे में अधिक कुछ नहीं हुआ, परन्तु यहीं से छोटे-बड़े राज्यों का आपसी भेद सुस्पष्ट रूप से प्रारम्भ हुआ, जिससे भारतीय नरेशों और देशी राज्यों को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी।

भारतीय राजनीति तथा विधान में इन परिवर्तनों के होते हुए एवं राजस्थानी जनता में अभूतपूर्व राजनैतिक जाग्रति देख कर भी अब तक राजस्थानी राज्यों में कोई राजनैतिक या वैधानिक सुधार नहीं किये गए थे। बीकानेर की व्यवस्थापक सभा के संगठन एवं अधिकारों में भी सन् १९२१ ई० के बाद कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। कुछ न कुछ सुधार करना आवश्यक समझ कर सन् १९३९-४० ई० के बाद जयपुर, जोधपुर, और सिरोही राज्यों में केन्द्रीय सलाहकार बोर्डों की स्थापना की गई। मई, १९४१ ई० में जोधपुर राज्य में प्रतिनिधि-सलाहकार सभा (रिप्रेज़ेण्टेटिव एडवाइज़री असेम्बली) भी संगठित की गई। परन्तु ये सारे सुधार नाम-मात्र के ही थे, और उनसे प्रजा को कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं हुए। इस समय युरोपीय महायुद्ध चल रहा था, और युद्ध-जनित

परिस्थितियों से लाभ उठा कर सर्वत्र दमन नीति का सहारा लिया जा रहा था। उधर कुछ राजस्थानी राज्यों में स्थानीय प्रजा-मण्डलों के कार्य-कर्त्ता वहाँ के जागीरदारों के साथ महत्त्वहीन झगड़ों में उलझ गये, और अपनी इस अदूरदर्शिता से उन्होंने अपने विरुद्ध स्थानीय जनता के इस प्रभावशाली अंग का विरोध उत्पन्न कर लिया, जिससे अवसर आने पर संगठित रूप में उनसे कुछ भी करते-धरते न बन पड़ा। अतएव अगस्त, १९४२ ई० में जब सन् ४२ का विप्लव हुआ तब उदयपुर और कोटा शहरों के अतिरिक्त सर्वत्र पूर्ण शान्ति ही बनी रही।

महायुद्ध के अन्त (१९४५ ई०) तक राजस्थान की इस राजनैतिक परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इन वर्षों की एकमात्र महत्त्वपूर्ण घटना थी महाराजा गंगासिंह का देहान्त होना। सन् १९४३ ई० के प्रारम्भ में राजस्थान का यह प्रमुख सुयोग्य सर्व-मान्य शासक उठ गया। उसकी नीति से मत-भेद हो सकता है, उसकी कार्य-प्रणाली की आलोचना की जा सकती है, परन्तु उसके व्यक्तितत्व की महत्ता के बारे में किसी भी प्रकार दो मत नहीं हो सकते हैं। आधुनिक बीकानेर के इस निर्माता ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर राजस्थान का ही नहीं समस्त भारत का मुख उज्ज्वल किया था। अखिल भारतीय महत्त्व-प्राप्त राजस्थानी नरेशों की जो परम्परा आम्बेर के राजा मानसिंह से प्रारम्भ हुई थी, महाराजा गंगासिंह के साथ उसका सर्वदा के लिए अन्त हो गया। राजस्थान के इन महत्त्वपूर्ण प्रभावशाली शासकों तथा भारत के महान् राजनीतिज्ञों में सवाई जयसिंह के बाद महाराजा गंगासिंह की ही गणना की जा सकती है। उसकी मृत्यु के साथ ही राजस्थानी राजनीति की रही-सही एकता भी लुप्त हो गई, और अब वहाँ के नरेशों का भारतीय राजनीति

पर कोई विशेष प्रभाव नहीं रह गया ।

महायुद्ध का अन्त होते ही भारत में पुनः राजनैतिक हलचलें प्रारम्भ हो गईं । सन् १९४५ ई० के अन्तिम दिनों में 'अखिल भारतीय देशी राज्य-परिषद' का अधिवेशन उदयपुर में किया गया और इस बार भी पं० जवाहरलाल नेहरू उसका अध्यक्ष बनाया गया । सारे राज्यों में उत्तरदायी शासन स्थापित किये जाने की माँग की गई । छोटे राज्यों के समूहीकरण के सम्बन्ध में यही निश्चित किया कि भारतीय संघ में स्वतन्त्र रूप से सम्मिलित हो सकने तथा अपनी जनता की सामाजिक एवं आर्थिक समृद्धि के आधुनिक स्तर को बनाए रखने योग्य इकाइयों को छोड़ कर अन्य राज्यों को साधारणतया पड़ोसी प्रान्तों में मिला दिया जावे । इस अधिवेशन से राजस्थानी जनता में बहुत-कुछ राजनैतिक जाग्रति अवश्य हुई, किन्तु राजस्थान के भावी विकास के लिए उपयुक्त मार्ग का प्रदर्शन तब भी नहीं हो सका ।

राज्य के शासन-कार्य में प्रजा को अधिकाधिक सम्मिलित करने के उद्देश्य से राज्यों में राजनैतिक तथा वैधानिक सुधार करने के लिए राजस्थान में यत्र-तत्र आन्दोलन होने लगे । शासन-संगठन में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए विचार-विनिमय भी किया जाने लगा । कहीं-कहीं तदर्थ उपयुक्त कार्यवाही भी प्रारंभ की गई । परन्तु इस समय राजा और प्रजा दोनों का ही सारा ध्यान भारतवर्ष के राजनैतिक भविष्य की उलझी हुई समस्या पर लगा हुआ था। पुनः तब कुछ वर्षों के लिये राजनैतिक घटना-प्रवाह इतनी तीव्र गति से बह निकला था कि उस समय के वे सारे प्रस्तावित वैधानिक आयोजन कभी भी संतोषप्रद या सम्पूर्ण नहीं बन पाये ।

इंगलैण्ड के मंत्री-मण्डल के प्रतिनिधियों की मई १६, १९४६ ई० की आयोजना तथा देशी राज्यों संबन्धी मई १२, १९४६ ई०

की उनकी विवेचना से देशी राज्यों और विशेषतया राजस्थान के छोटे राज्यों की समस्या तो और भी अधिक उलझ गई। अंग्रेज़ों की सार्वभौम सत्ता का शीघ्र ही सर्वदा के लिए अन्त होने वाला था, परन्तु साथ ही समूचे भारत के लिए एक शक्तिहीन तथा अतीव सीमित केन्द्रीय शासन की स्थापना करने के आयोजन का प्रस्ताव भी किया गया। ऐसी राजनैतिक परिस्थिति में छोटे और मझोले आकार-प्रकार के राज्यों का चिर-काल तक विभिन्न इकाइयों के स्वरूप में चिर-स्थायी होना एक सर्वथा असम्भव बात हो गई। एवं भारत के इस भावी संगठन में इन छोटे राज्यों की संतोष-प्रद ढंग से शीघ्र ही सुव्यवस्था कर देने का प्रश्न बहुत ही विकट रूप में भारतीय नरेशों के सम्मुख उपस्थित हुआ। बड़े-बड़े राज्यों के नरेशों या उनके मन्त्रियों ने इस कठिन समस्या को सुलझाने के प्रयत्नों में न विशेष दिलचस्पी ही ली और न कोई व्यवहारिक सुझाव ही दिये, जिससे इच्छा रहते हुए भी नरेन्द्र-मण्डल का तत्कालीन चांसलर, भोपाल का नवाब हमीदुल्ला, इन छोटे राज्यों का अत्यावश्यक समुचित मार्ग प्रदर्शन नहीं कर सका।

राजस्थान के छोटे राज्यों की भौगोलिक असम्बद्धता ने उनकी परिस्थिति को बहुत ही संकटपूर्ण बना दिया था। इस अवसर पर कोटा के वर्तमान महाराव भीमसिंह ने पूरी-पूरी दूरदर्शिता दिखाई। यद्यपि उसका राज्य भोपाल से किसी प्रकार बहुत छोटा नहीं था, एवं उसका अलग अस्तित्व रह सकना तब संभव प्रतीत होता था, उसने अपने पड़ोसी छोटे राज्यों का ही साथ देने का निश्चय कर किसी भी प्रकार उनके समुचित समूहीकरण के आयोजन का प्रयत्न करने लगा। किन्तु ऐसे कठिन समय भी राजस्थान के छोटे राज्यों के नरेशों में तात्विक मत-भेद उठ खड़ा हुआ और महाराव भीमसिंह के

ये प्रारम्भिक प्रयत्न विफल हुए; तथापि यह महाराव बाद के ऐसे सारे प्रयत्नों में पूर्ण सहयोग देता रहा।

इस समय छोटे-छोटे राज्यों के समूहीकरण द्वारा उनका संगठन करने के लिए अनेकों प्रयत्न एक ही साथ किये जा रहे थे, जिनका आगे चल कर कुछ भी नतीजा नहीं निकला। काठियावाड़-गुजरात तथा अन्य पड़ोसी एवं सम्बद्ध राज्यों का एक शिथिल राज्य-संघ (कान्फ़ेडरेशन) स्थापित करने का आयोजन नवानगर का जाम महाराजा कर रहा था। मालवा में भी एक दूसरा ही संघ बनाने के प्रयत्न हो रहे थे। राजस्थानी राज्यों में भी एकता स्थापित करने के लिये उपयुक्त उचित आयोजन की सोचने के उद्देश्य से नवम्बर, १९४६ ई० में मेवाड़ के महाराणा भूपालसिंह ने भी राजस्थान के सारे छोटे-बड़े राजाओं एवं मालवा के पड़ोसी राज्यों के कुछ प्रतिनिधियों को उदयपुर आमन्त्रित किया। किन्तु उदयपुर के इस सम्मेलन का कुछ भी लाभदायक परिणाम नहीं निकला, उलटे राजस्थान के छोटे और बड़े राज्यों में पारस्परिक भेद-भाव की वृद्धि ही हुई। देशी राज्य लोक-परिषद के राजपूताने के प्रान्तीय संगठन द्वारा नियुक्त विशेष कमिटी ने भी राजस्थान के सारे छोटे-बड़े राज्यों का एक ही गुट्ट (ग्रूप) बनाने का प्रस्ताव किया, परन्तु इस गुट्ट का ठीक-ठीक स्वरूप क्या हो और क्यों कर इसका संगठन किया जावे इस बारे में उसने कोई भी सुस्पष्ट सुझाव नहीं दिये।

उधर भारत के भावी शासन-संगठन के स्वरूप को लेकर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग में निरन्तर मत-भेद बढ़ता जा रहा था। लीग ने भारतीय संविधान परिषद के अधिवेशनों का पूर्ण बहिष्कार किया। भारतीय संविधान परिषद के प्रति नरेशों की नीति अब तक

सुस्पष्ट नहीं हो पाई थी। अनेकानेक कारणों से कांग्रेस और नरेशों में भी खिचाव उत्पन्न हो गया था। अन्त में जनवरी २९, १९४७ ई० को सर्वसम्मति से पास किये गए एक लम्बे प्रस्ताव द्वारा नरेन्द्र-मण्डल ने संविधान परिषद के साथ अपने सहयोग की शर्तें सुस्पष्ट कीं। किन्तु भारतीय नरेशों का ऊपरी मतैक्य भी उसी दिन समाप्त हो गया और तब वे अनेकानेक परस्पर-विरोधी दलों में बँट गए। राजस्थानी राज्यों के भी दो दल हो गए। जयपुर के अनुभवी वयो-वृद्ध प्रधान मन्त्री सर वी० टी० कृष्णमाचारी के नेतृत्व में राजस्थान के बड़े राज्यों ने कांग्रेस के साथ सहयोग की नीति अपनाई। बाकी रहे छोटे राज्य तब भी बहुत-कुछ असहयोग की ही नीति पर डटे रहे। जून ३, १९४७ ई० के दिन भारत के विभाजन की घोषणा के बाद ही उनकी इस नीति में प्रथम बार कुछ निश्चित परिवर्तन हुआ।

भारत संविधान परिषद के प्रारम्भिक अधिवेशनों में सहयोग न देकर क्या भारतीय नरेशों ने भी भारत के विभाजन में सहायता की? क्या जनवरी, १९४७ ई० के बाद भी नरेन्द्र-मण्डल की असहयोगपूर्ण नीति को नहीं बदला जा सकता था? कांग्रेस के साथ सहयोग की नीति में विश्वास करने वाले सारे छोटे-बड़े भारतीय नरेशों को इस समय सुसंगठित करना क्या भारतीय हितों के लिए अत्यावश्यक नहीं था? ऐसे संगठन द्वारा क्या कांग्रेस की शक्ति नहीं बढ़ाई जा सकती थी कि वह भारत के विभाजन का विरोध कर पाती? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का कोई भी निश्चयात्मक उत्तर देना अतीव कठिन है। भारत के भावी इतिहासकार इन प्रश्नों के अलग-अलग उत्तर देंगे, किन्तु एक बात पर कभी भी दो मत नहीं होंगे कि भारतीय नरेशों की इस अक्षम्य अदूरदर्शिता तथा आपसी फूट से भारत की राजनैतिक एकता पर ही आघात नहीं हुआ, परन्तु छोटे-बड़ों का यही पारस्परिक भेद

आगे चल कर देशी राज्यों तथा वहाँ के सारे राजघरानों के लिए भी पूर्णतया घातक सिद्ध हुआ ।

भारत का जब विभाजन हो रहा था, एवं जब अंग्रेज़ों ने एकबारगी भारत से बिदा होने का निश्चय कर यह बात घोषित की, उसी समय गुजरात के सुप्रसिद्ध नेता एवं साहित्यकार कन्हैयालाल मुंशी ने धूमकेतु की नाईं राजस्थान के राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश किया। वह मेवाड़ राज्य का सलाहकार नियुक्त हुआ । भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर स्वतन्त्र पाकिस्तान की स्थापना से राजस्थान की राजनैतिक एकता भारत की सुरक्षा एवं स्वाधीनता के लिए अत्यावश्यक हो गई थी । अतएव मुंशी ने इस महत्त्वपूर्ण मामले को हाथ में लिया । उसकी ही प्रेरणा से राजस्थान और मालवा के पड़ोसी राज्यों का एक शक्तिशाली संघ स्थापित करने का पुन: प्रयत्न किया गया, और जून, १९४७ ई० के अन्तिम सप्ताह में 'राजस्थान-संघ' की स्थापना के घोषणा-पत्र पर कोई १८-२० राज्यों के नरेशों या उनके प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये । उदयपुर में होने वाले इस महत्त्वपूर्ण राजनैतिक सम्मेलन के वातावरण को देख तथा वहाँ किये गये निश्चयों के भविष्य सम्बन्धी अनिश्चितता का अनुभव कर इतिहास के विद्यार्थी को ऐसी ही संकटापूर्ण अवसर पर जुलाई, १७३४ ई० में हुरड़ा में होने वाले राजस्थानी नरेशों के सम्मेलन तथा वहाँ स्वीकृत संधि-पत्र का स्मरण हुए बिना नहीं रहा । इन सवा दो शताब्दियों में भी राजस्थानी नरेशों ने अपने निरन्तर कटु अनुभवों से कोई शिक्षा नहीं ग्रहण की थी, एवं स्थापना के दिन से ही इस संघ की विफलता के लक्षण सुस्पष्ट देख पड़ने लगे । मुंशी का प्रभाव मेवाड़ में स्थायी नहीं हो सका, एवं उसके दूर होते ही इस संघ के प्रगतिशील दल का पक्ष निर्बल हो गया और प्रतिक्रिया-वादियों की बन आई,

तथा अत्यावश्यक जन-तंत्रीय तत्वों के आधार पर इस संघ के संगठन का प्रारम्भ तक नहीं किया जा सका। पुनः जिस महाराणा भूपालसिंह ने प्रारम्भ में अनुकरणीय दूरदर्शिता और अनोखी राजनैतिक विचक्षणता दिखाई थी, आगे चल कर इस संघ के संबन्ध में उसका मत भी बदल गया। मेवाड़ के सहयोग के बिना इस संघ का आगे चलना एक असम्भव बात थी। इन राज्यों के प्रजा-मण्डलों ने इस संघ की स्थापना को प्रारंभ से ही पूर्ण अविश्वास की दृष्टि से देखा था और उसे नरेशों का ही एक नया षड्यन्त्र मान कर बिना अधिक सोचे-समझे ही उसका पूर्ण विरोध भी किया। पुनः प्रारम्भ में इस संघ की आवश्यक्ता का अनुभव करने वाले कई प्रमुख राजस्थानी नरेश भी भारत के नये स्वाधीन संघ से संबद्ध होने के लिए आवश्यक अधिकार-पत्रों (इन्स्ट्रुमेंट ऑफ़ एक्सेशन) और समझौतों (स्टेण्ड-स्टिल एग्रीमेण्ट्स) पर हस्ताक्षर करने के बाद इसे अनावश्यक ही समझ कर इससे बहुत-कुछ उदासीन हो गये। अन्त में यह प्रथम राजस्थान-संघ विफल हुआ तथा राजस्थान के क्रमिक राजनैतिक विकास की एक अत्यावश्यक कड़ी टूट गई। राजस्थान के समान अशिक्षापूर्ण पिछड़े हुए प्रदेश के इतिहास में इस घटना का क्या महत्त्व है? यह विफलता राजस्थान की जनता के लिए हितकर हुई या नहीं? इस विफलता का राजस्थान के भावी राजनैतिक विकास की प्रगति पर क्या प्रभाव पड़ा? इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर आगे चल कर ही स्पष्ट होगा। ।

भारत का विभाजन घोषित होते ही भारतीय संघ के साथ राजस्थानी राज्यों के सम्बन्ध का प्रश्न उठा। अनेकानेक आशंकाओं तथा विरोधों के होते हुए भी अन्त में सुनिश्चित दिन से पहिले ही एक-एक कर ये सारे राज्य भारत के साथ सम्बद्ध हो गए। अगस्त १५,

१९४७ ई० को भारत ने अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के उपलक्ष में राजस्थानी राज्यों ने भी अपनी-अपनी राजधानियों में उत्सवों का आयोजन किया, तथा स्वाधीन भारत के नए तिरंगे ध्वज को आदरपूर्वक उन्होंने फहराया। पूरे १२९ वर्ष बाद अंग्रेज़ी साम्राज्य की सार्वभौम सत्ता से छुटकारा पाकर राजस्थान के बड़े-बड़े राज्यों के नरेशों ने एक बार चैन की साँस ली, और अपने नए अधिकार-पत्र तथा समझौतों के आधार पर वे एक नए स्वाधीनतापूर्ण समृद्धिमय पूर्णाधिकार-सम्पन्न शासन-काल के सपने देखने लगे। शाहपुरा के नवयुवा राजाधिराज सुदर्शनदेव ने इस शुभ अवसर पर अपनी प्रजा को पूर्ण उत्तरदायी शासन देने की घोषणा कर यश प्राप्त किया।

परन्तु उस दिन जब भारतवासियों की युग-युग की साध पूरी हुई, सदियों के बाद स्वाधीनता का समुज्ज्वल सूर्य यहाँ उदय हुआ तथा स्वाधीन सुसंगठित शक्तिशाली भारत ने गौरवपूर्ण समुन्नत युग का प्रारम्भ देखा, तब भी स्वाधीनता की अनन्य उपासक, स्वातंत्र्य के लिए सदियों तक निरन्तर सर्वस्व बलिदान करने वाली राजस्थानी जनता में उल्लास एवं आशा की झलक तक नहीं देख पड़ी। उस पुण्य पवित्र पर्व पर भी वह उदासीन और सशंक ही रही। राज्यों में समय-समय पर राजाज्ञा द्वारा मनाए जाने वाले अन्य उत्सवों की तरह ही भारतीय स्वाधीनता का यह प्रथम दिवस भी राजस्थान में सर्वत्र मनाया गया। इस उत्सव में पूरा राजसी ठाठ तथा सारी ऊपरी तड़क-भड़क थी, किन्तु उस दिन भी राजस्थान की सद्य:स्वतन्त्र हुई आत्मा का वह उन्मत्तकारी उल्लास नहीं सुनाई पड़ा। स्वाधीनता की प्राप्ति के बाद क्या होगा? भविष्य की यह चिन्ता ही उस दिन उन्हें लगातार सता रही थी।

अंग्रेज़ों की सार्वभौम सत्ता की स्थापना से पहिले के दुःखपूर्ण दिनों का विवरण उनकी आँखों के सामने चित्रित-सा होने लगा; तब की उन परंपरागत कथाओं ने उनके सम्मुख कई आशंकाएँ ला खड़ी कर दीं। पड़ोस में ही स्वाधीन तथा सर्वथा विभिन्न पाकिस्तान की वह भयंकर विभीषिका, सुदूर लाहौर की जलती हुई झोंपड़ियों तथा अट्टालिकाओं की वे लपटें और वहाँ के वे अवर्णनीय भीषण अत्याचार.....इन सबकी सम्भावना से उन्हें कौन बचावेगा ? राजस्थानी नरेशों का इतिहास, कुछ इन-गिने अपवादों के अतिरिक्त, राजनीति में होने वाली निरन्तर विफलताओं, भयंकर भूलों तथा अक्षम्य उपेक्षाओं की अटूट परंपरा-मात्र था; और सवा सौ वर्षों के अंग्रेज़ी साम्राज्य के संरक्षण ने तो उन्हें और भी अधिक निकम्मा, उच्छृङ्खल, स्वच्छन्द एवं गैर-ज़िम्मेदार बना दिया था। भारतीय कांग्रेस के प्रति उनका विरोध तथा स्वाधीन भारत से सम्बद्ध होने में उनकी वह अनबूझ हिच-किचाहट,...संकटपूर्ण दिनों में उनसे कुछ भी आशा करना व्यर्थ ही जान पड़ने लगा। देशी राज्यों के शासन का भावी संगठन, वहाँ की राजनीति का नया अनिश्चित स्वरूप.....तब भी कुछ सूझ नहीं पड़ रहा था; उस अंधकारपूर्ण अस्पष्ट वातावरण में शाहपुरा में उत्तरदायी शासन की स्थापना की घोषणा आशा-प्रकाश की एकमात्र क्षीण रेखा के रूप में प्रगट हुई थी; परन्तु क्या वह स्थायी हो सकेगी, और क्या वह राजस्थान के सारे अज्ञात दुरूह कोनों को ठीक तरह उज्ज्वलित कर सकेगी ? और राजस्थान के जन-तन्त्रीय सैनिकों की वह अनुशासन-विहीन भीड़, अपने प्यारे देश और पूज्य नेताओं के नाम पर बलिदान की भीख माँगने वाले वे उत्तेजक, नकारात्मक विरोधपूर्ण आन्दोलनों के वे संयोजक तथा अनहोनी बातों की आशा दिलाने वाले वे कहे जाने वाले नेता भी जनता में अत्यावश्यक विश्वास नहीं उत्पन्न

कर पाये । शान्तिपूर्ण दिनों में भी वे उनका सफलतापूर्वक मार्ग-प्रदर्शन नहीं कर सके थे; राजस्थान की एकता का ढिंढोरा पीट कर भी उसके लिए उन्होंने कोई क्रियात्मक प्रयत्न नहीं किया था; और उनकी वह आपसी फूट, जिसने राजस्थान के राजनैतिक जीवन को अनेकों बार पूर्णतया विश्रृंखलित कर दिया था, उसे किसी भी प्रकार नहीं भुलाया जा सकता था। कहाँ था उनमें एक भी ऐसा शक्तिशाली सुयोग्य वज्र-पुरुष जो राजस्थान के उस विवादपूर्ण ज्वलन्त भूत और क्रांतिमय क्षुब्ध वर्तमान के साथ ही भावी आशाओं से पूर्ण उसके उस अज्ञात भविष्य का भी महान् भार अपने समर्थ कंधों पर उठा सकता ?.......स्वाधीनता के उस समुज्ज्वल प्रभात की उस आशामयी वेला में भी राजस्थानी जनता का विचार-संसार ऐसे ही निराशापूर्ण अंधकार से भर रहा था। अपनी साहित्यिक प्रतिभा से उसे यत्किंचित् भी समुज्ज्वलित करने वाला वहाँ कोई नहीं देख पड़ा। राजस्थान के प्राचीन गौरव को आलोकित करने वाली एकमात्र प्रचण्ड ज्ञान-ज्योति भी सर्वदा के लिए विलीन हो चुकी थी। कुंभा और मीरा, पृथ्वीराज तथा सूर्यमल की परम्परा लुप्त-सी हुई जान पड़ रही थी। इस कठिन घड़ी में बारहठ केसरी-सिंह का सा उद्बोधक भी सामने नहीं आ रहा था। नौसिखिये कवियों की गुनगुनाहट तथा आत्मविश्वास-विहीन पद्यकारों की फुसफुसाहट इस साहित्यिक नीरवता को और भी अधिक भीषण बना रही थीं।

और ऐसे समय राजस्थान के शासक और जनता, सब को ही अपनी चिर-परिचित किन्तु सर्वदा अप्रिय दिल्ली का ही ख़याल आया। जिसका स्मरण-मात्र सदैव उनमें भय और विरोध उत्पन्न करता रहा था, जहाँ से अब तक उनकी स्वाधीनता के विरोधी दल ही चलते

थे, जिसके दर्शन तक महाराणाओं को अप्रिय थे, जहाँ के क़िले की व्यंगपूर्ण मुस्कराहठ के विचार से ही राजस्थानी कवि तड़प उठा था, स्वाधीन भारत के इस नए युग में वे ही सब एक सर्वथा विभिन्न स्वरूप में देख पड़ने लगे, राजस्थान की भावी आशाएँ अब एकमात्र दिल्ली पर ही केन्द्रित हो गईं। विधि की यह अनोखी विडम्बना ही जान पड़ती है कि निरन्तर दिल्ली का विरोध करने वाला राजस्थान अब अपने राजनैतिक तथा सांस्कृतिक उद्धार के लिए उसी दिल्ली की सहायता का इच्छुक हुआ। . . . .परन्तु ये सारी बातें दूसरे ही काल की हैं। जब आबू में राजपूताना एजन्सी-भवन एवं कार्यालय पर से अंग्रेज़ी साम्राज्य का यूनियन जेक झण्डा उतारा गया, तब ही राजस्थान के इतिहास का पूर्व-आधुनिक काल समाप्त हो गया और उसके साथ ही उस काल के इतिहास की इस विवेचना का भी अन्त हो जाना चाहिये।

अनुक्रमणिका

अ

आ

इ

ई

उ

ओ

औ

क

ख

ग

च

ज

झ

ट

ड

त

द

ध

न

प

फ

ब

भ

म

र

ल

व

श